श्रीरामकृष्णलीलामृत

(...म भाग)

पण्डित द्वारकानाथ तिवारी

श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर

प्रकाशक—
स्वामी भास्करेश्वरानन्द,
अध्यक्ष, श्रीरामकृष्ण आश्रम,
धन्तोली, **नागपुर–१.**

श्रीरामकृष्ण-शिवानन्द-स्मृतिग्रन्थमाला
पुष्प ३ रा

[व ६८ : प्र ३.७५]

मूल्य रु. ५.५०

मुद्रक—
दि. गो. लवाटे
मॅजेस्टिक प्रिंटिंग प्रेस,
तिलक पुतला, महाल,
नागपुर–२

ॐ तत्सत् श्रीरामकृष्णार्पणमस्तु

स्थापकाय च धर्मस्य सर्वधर्मस्वरूपिणे ।
अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः ।।

——स्वामी विवेकानन्द

भगवान श्रीरामकृष्णदेव की यह अपार दया और अहैतुकी कृपा है कि उन्होंने अपना अपूर्व और अलौकिक जीवनचरित्र हिन्दीभाषी पाठकों के समक्ष रखने में मुझे निमित्त बनाया ।

स्वयं सिद्ध सब काज, नाथ मोहिं आदर दियेउ ।
अस विचारि महराज, तनुपुलकित हर्षित हिये ।।

मैं किस मुँह से अपने इस सौभाग्य का वर्णन करूँ ! इस कलहपूर्ण कलियुगी संसार में सर्वधर्मसमन्वय और विश्व-बन्धुत्व स्थापित करनेवाले, मुक्तहस्त से परमात्मादर्शन का दान देने वाले, साक्षात् श्रीभगवान् के उन महामहिम युगावतार की स्तुति मैं कैसे करूँ और उनके प्रति किस प्रकार कृतज्ञता प्रकाशित करूँ !

हे भगवन् ! यह तेरा "लीलामृत" चरित्र ही तेरे चरणों में नतमस्तक हो समर्पण करता हूँ ।

विनीत——

दुर्ग, श्रावण शुक्ल १३ संवत् १९९४ **द्वारकानाथ**

प्राक्कथन

श्रीरामकृष्णदेव का जीवम-चरित्र धर्म के व्यावहारिक आचरण का विवरण है। उनका जीवन-चरित्र हमें ईश्वर को अपने सामने प्रत्यक्ष देखने की शक्ति देता है। उनके चरित्र को पढ़नेवाला मनुष्य इस निश्चय को प्राप्त किये बिना नहीं रह सकता कि केवल ईश्वर ही सत्य हैं और शेष सब मिथ्या——भ्रम ——है। श्रीरामकृष्ण ईश्वरत्व की सजीव मूर्ति थे। उनके वाक्य किसी निरे विद्वान् (कोरे विद्यावान्) के ही कथन नहीं हैं, वरन् वे उनके जीवनग्रन्थ के पृष्ठ हैं। उन वाक्यों के द्वारा उन्होंने स्वयं अपने ही अनुभवों को प्रकट किया है। इसी कारण उनका जो प्रभाव पाठक कै हृदय पर पड़ता है वह चिरस्थायी होता है। इस सन्देहवादी युग में श्रीरामकृष्ण सजीव और ज्वलन्त धार्मिक विश्वास के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। इसी उदाहरण के कारण ऐसे सहस्रों स्त्री-पुरुषों की आत्मा को शान्ति प्राप्त हुई है जिन्हें अन्यथा आध्यात्मिक प्रकाश से वंचित रहना पड़ता। श्रीरामकृष्ण का चरित्र अहिंसा का प्रत्यक्ष पाठ है। उनका अपार प्रेम किसी भौगोलिक अथवा अन्य सीमा के भीतर परिमित या आबद्ध नहीं था। मेरी यही प्रार्थना है कि उनका दिव्य प्रेम इस जीवन-चरित्र के सभी पाठकों को अन्तःस्फूर्ति दे।

साबरमती,
मार्गशीर्ष कृष्ण १
विक्रम संवत १९८१

मो. क. गांधी

वक्तव्य

भगवान् की कृपा से 'श्रीरामकृष्णलीलामृत' का यह पंचम संस्करण प्रकाशित हो रहा है। यह पुस्तक स्व. न. रा. परांजपे कृत मराठी पुस्तक का अनुवाद है, जिसकी सामग्री स्वामी सारदानन्द (श्रीरामकृष्णदेव के एक प्रमुख शिष्य) कृत बंगाली पुस्तक 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' से ली गयी है। इसके अतिरिक्त कई विश्वसनीय अंग्रेजी तथा बंगाली ग्रन्थों और लेखों की भी सहायता ली गयी है। उन सब की सूचि इस पुस्तक में सम्मिलित है।

स्व. पं. द्वारकानाथजी तिवारी, बी.ए., एल-एल.बी., दुर्ग, म. प्र. ने बड़ी लगन और श्रद्धा के साथ यह अनुवाद किया है। उनके इसी अथक परिश्रम का यह फल है कि हमें प्रस्तुत पुस्तक इस रूप में प्राप्त हुई।

आशा है यह पुस्तक पाठकों को प्रिय होकर अपना उद्देश्य पूर्ण करने में सफल होगी।

नागपुर,
दि. १ मार्च १९६८

—प्रकाशक

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना

१. भगवान् श्रीरामकृष्णदेव जैसे अत्यन्त श्रेष्ठ महापुरुष के चरित्र को ठीक ठीक समझना असम्भव है। जब स्वयं उनके प्रमुख शिष्य स्वामी विवेकानन्द कहते हैं कि "उनके चरित्र को मैं भी अच्छी तरह नहीं समझ सका" तब मुझ जैसे मनुष्य के लिए उस चरित्र को लोगों को समझाने का प्रयत्न करना तथा उसकी प्रस्तावना लिखना कितना कठिन है। तथापि श्रीरामकृष्णदेव की कृपा पर भरोसा रखकर तथा श्री गोस्वामी तुलसीदासजी की निम्नलिखित पंक्तियों को हृदयंगम करके मैं यह साहस कर रहा हूँ :--

"निज निज मति मुनि हरिगुण गावहिं। निगम शेष शिव पार न पावहिं ॥
तुमहिं आदि खग मसक प्रजन्ता। नभ उड़ाहि नहिं पावहिं अन्ता ॥
तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोइ पाव कि थाहा ॥"

२. प्रस्तावना का अर्थ है--ग्रन्थ और उसके विषय के सम्बन्ध में संक्षेप में ही जानकारी प्राप्त करा देना। प्रस्तुत ग्रन्थ का विषय है--भगवान् श्रीरामकृष्ण। इनके सम्बन्ध में यदि यहाँ पर हमें संक्षेप में ही कुछ कहना है, तो इतना ही कह सकते हैं कि जिन्होंने पूर्वापर तोयनिधि के अवगाहन करनेवाले नगराज के समान वैदिक और अवैदिक संस्कृति का स्वयं अवगाहन कर शिकागो की सर्व-धर्म-परिषद में वेदान्त के समन्वय का झण्डा फहरा दिया; जिन्होंने कालनिद्रा में मग्न सोये हुए भारत को 'उत्तिष्ठत, जाग्रत' की दुंदुभि-निनाद से जगाकर और पौरुष के महामन्त्र की दीक्षा देकर उसके ध्येय का दर्शन करा दिया; जिन्होंने भोगैकनिष्ठ पाश्चात्य जगत् में 'त्याग' की मंजुल गीता गाकर उसकी विचारधारा में क्रान्ति उत्पन्न कर दी, उन्हीं पुण्यश्लोक श्रीमद्विवेकानन्द स्वामीजी के ये सद्गुरु हैं। ताजमहल की सुन्दर और विचित्र शिल्पकला को देखकर मनुष्य का मन आश्चर्यचकित हो जाता है और मन में तुरन्त यह विचार उठने लगता है कि जिसने ऐसी विशाल कारीगरी की कल्पना तथा निर्मिति

की, वह मनुष्य कैसा रहा होगा। साथ ही उस व्यक्ति को जानने की हमें उत्सुकता भी उत्पन्न हो जाती है। कुछ वैसी ही अवस्था यहाँ भी है। मन में प्रश्न उठता है कि जगत्प्रसिद्ध त्रिखण्डकीर्तिमान यतिश्रेष्ठ स्वामी विवेकानन्दजी जब ऐसे हैं, तब उनके ज्ञानदाता गुरुदेव कैसे रहे होंगे।

३. "अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय" को पढ़कर सम्भव है यह मालूम हो कि अपने सद्गुरु के सम्बन्ध में स्वामी विवेकानन्दजी ने भक्ति के आवेश में यह उद्गार निकाला है। प्रत्येक सच्छिष्य अपने गुरु के सम्बन्ध में यही कहेगा भी, पर कुछ विचार करने से पता लगेगा कि यह केवल आवेशोद्गार नहीं है; उसमें तो गूढ़ अर्थ है। यदि हम एक ही प्रकार के और बराबर बराबर मूल्यवाले कुछ हीरों को सामने रखकर उनमें तुलना करने बैठें, तो यह पता लगेगा कि सभी एक से एक बढ़कर हैं। जाति और मूल्य एक होने पर भी प्रत्येक में कुछ न कुछ "अपूर्वता" है। कोई वजन में हलका है तो तेज में उज्ज्वल है, कोई तेज में सौम्य है तो आकृति में सुन्दर है, तो कोई सब प्रकार अलौकिक है--इस प्रकार के भेद दिखायी देंगे। स्वयं अपने विशिष्ट गुणों के कारण सभी अपूर्व होते हैं; परन्तु एक की "अपूर्वता" दूसरे में नहीं रहने के कारण वह उन गुणों में तो दूसरों से ऊँचा ही सिद्ध होता है। वैसे ही यहाँ भी जानिये। ईश्वर के अनेक अवतार हुए हैं और स्वयं अपनी "अपूर्वता" में प्रत्येक वरिष्ठ है। भगवान् श्रीरामकृष्ण की अपूर्वता किसमें है यह पता लगने पर हमें भी "अवतारवरिष्ठाय रामकृष्णाय ते नमः" ही कहना पड़ेगा।

४. यह शास्त्र-सम्मत बात है कि भगवान् धर्मसंस्थापनार्थ पुनः पुनः अवतार लेते हैं और उन अवतारों के द्वारा नये युगधर्म का प्रवर्तन होता है। प्रत्येक अवतार भूतकाल का फलस्वरूप है और भविष्यकाल उसमें बीजरूप में अन्तर्निहित रहता है। योग्य मानव-क्षेत्र में उस बीज को डालकर भविष्यकाल को जन्म देना ही अवतार का कार्य होता है। अर्थात् यह बीज उस समय के जगत् के लिए अत्यन्त आवश्यक होता है। आधुनिक काल में मानवजाति किस दिशा की ओर जा रही है, इस बात पर यदि हम दृष्टि डालें तो यह समझ में आ जायेगा कि भविष्य में कैसे युगधर्म की आवश्यकता है। जब वही युगधर्म भगवान् श्रीरामकृष्ण के चरित्र में उतरा हुआ

दिखायी देता है, तो वे धर्मसंस्थापनार्थाय अवतीर्ण हुए हैं यह सत्य स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाता है।

५. मनुष्य की कल्पना जहाँ तक पहुँच सकती है वहाँ तक अनन्त विश्वमाला का निरीक्षण करने से दिखायी देता है कि इस परम सुन्दर रचना में सभी छोटे बड़े विश्व-परमाणु अपने अपने स्थान में स्वतन्त्र होते हुए—इस स्वतन्त्र व्यक्तित्व की रक्षा करनेवाले नियमों के कारण स्वतन्त्र रहते हुए भी—आपस में इस तरह बँधे हुए हैं कि वे एक दूसरे के साथ एकजीव होकर तथा मिलकर, एक ही वस्तु बन गये हैं। अनेकता में एकता तथा एकता में अनेकता ही विश्व का रहस्य है। एक ही अद्वितीय सत्ता इन भिन्न भिन्न रूपों में प्रकाशमान है और इसी में विश्वरचना का सौन्दर्य है। अल्पज्ञ मनुष्य इस विश्व-रहस्य को जान ले और तदनुरूप ही अपने कुटुम्ब की रचना करे, इसी में मनुष्य का मनुष्यत्व है। यही उसके ऐहिक कर्तव्य की चरम सीमा है। यह बात हृद्गत अन्तःस्फूर्ति से आर्य-जाति को समझ में आ गयी थी और उसी के अनुरूप उसने अपनी संस्कृति को उन्नत बनाया। परन्तु जब नवीन मानववंश का निर्माण हुआ, उसे नयी नयी संस्कृतियाँ प्राप्त हुईं और उन्हीं संस्कृतियों द्वारा उत्क्रान्त होकर आर्येतर जगत् वर्तमान स्थिति में पहुँचा तब कहीं उसे आर्य-संस्कृति पर विचार करने की योग्यता प्राप्त हुई और उन्हें इस विश्वसत्य का आभास होने लगा। Liberty, Equality, Fraternity, Democracy, Republicanism, Self-Determination ये शब्द इसी आभास के ही खेल हैं। क्रमशः इस विश्वरचना का बहुतसा अनुकरण शासन-विभाग में किया गया, और आज यह बात अमेरिका के संयुक्त-राज्य की शासन-पद्धति में हमें दिखायी देती है। धीरे धीरे अन्य मानववंश भी इसका अनुसरण करेंगे। जैसे बाह्य व्यवहार में यह कार्य हुआ, उसी तरह धर्म-क्षेत्र में भी होना चाहिए और भिन्न भिन्न धर्म अपने तईं पूर्ण स्वतन्त्र तथा पृथक् रहते हुए भी एक साथ मिलकर एक समन्वय-स्वरूप विश्वधर्म की पुष्टि कर उसकी ओर अग्रसर हों। अब यह बात मानव-जाति के हित की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक हो गयी है। संसार के सभी विचारशील पुरुषों को इस बात का निश्चय हो चुका है। सभी धर्म एक ही सद्वस्तु को प्राप्त कराने

वाले भिन्न भिन्न मार्ग हैं, इसलिए एक को दूसरे से द्वेष नहीं करना चाहिए, वरन् अपनी अपनी धर्मकक्षा में ही रहकर अपनी अपनी उन्नति करनी चाहिए और अन्य धर्मों के प्रति उदासीन रहना चाहिए--यही बात सर्वत्र बुद्धिमानों के लेखादि से भी ध्वनित होने लगी है, और वैसा ही आचरण करने की ओर धीरे धीरे सभी की प्रवृत्ति भी होती जा रही है। परन्तु उसमें एक कमी यह थी कि इस धारणा के कारण भिन्न भिन्न मतों के सम्बन्ध में लोगों के मन में उपेक्षा उत्पन्न होती थी और आत्मीयता के अभाव में परस्पर प्रेम उत्पन्न होने का कोई मार्ग ही नहीं था। ऐसी आत्मीयता का अनुभव कराने के लिए कोई साधन न था कि भिन्न भिन्न धर्मवाले अपने अपने धर्म में रहते हुए भी एक दूसरे के सहधर्मी हैं तथा उन सब का उद्गम-स्थान एक ही है।

इसी कमी को दूर करने के लिए भगवान् श्रीरामकृष्णदेव का अवतार हुआ। श्रीकालीदेवी के प्रत्यक्ष सहवास में निरन्तर रहते हुए तथा उनकी कृपा से पूर्णता को प्राप्त करके भी, भिन्न भिन्न धर्मों के नियमानुसार दीक्षा लेकर, उन उन धर्मों के प्रत्यक्ष आचरण करने की उनकी अद्भुत लीला को देखकर मन उलझन में पड़ जाता है। हमारे सामने यह प्रश्न सहज ही उठता है कि उन्हें इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव होते हुए भी कि जो कुछ है श्रीजगदम्बा ही है, उन्होंने फिर यह सब खटपट किसलिए की? इस प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर किसी तरह नहीं मिलता है; परन्तु इसी में तो उनके अवतार की अपूर्वता है। श्रीरामकृष्णदेव का चरित्र एवं उनका उपदेश संसार के भावी युगधर्म का सूत्रमय अवतार है। भविष्य में केवल उसका विस्तार तथा स्पष्टीकरण होना शेष है। 'जितने मत उतने मार्ग', 'सभी मार्ग एक ही ईश्वर की ओर ले जाते हैं',—इस युगधर्म का जो अनुसरण करेगा वह अपने ही धर्म में रहकर अन्य धर्मावलम्बियों के सम्बन्ध में विश्वबन्धुत्व का अनुभव कर सकेगा। भिन्नता में अभिन्नता किस प्रकार होती है, इसका उन्हें अनुभव हो जाता है। हिन्दू धर्म के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के अनुसार साधना करके उनमें सिद्धि प्राप्त कर भगवान् श्रीरामकृष्णदेव विधिनिषेधातीत परमहंसावस्था में प्रतिष्ठित हुए थे। इसके पश्चात् उन्होंने इस्लाम, ईसाई आदि धर्मों की लौकिक दीक्षा लेकर उनकी यथाविधि

साधना कर इस सत्य की साक्षात् उपलब्धि कर ली थी कि सभी धर्म उस एक ही अद्वितीय परमेश्वर की ओर ले जाते हैं। यही कारण है कि विभिन्न धर्मावलम्बियों को श्रीरामकृष्ण में स्वधर्मीय आदर्श गुरु की प्राप्ति हो जाती है। इस प्रकार अपने अपने विशिष्ट धर्म को नष्ट न करके परस्पर एक दूसरे में भ्रातृभाव का अनुभव करना उन्होंने हमें प्रत्यक्ष दिखा दिया। इसी में उनके अवतारत्व की अपूर्वता है। उन्होंने इस प्रकार अपने आचरण द्वारा प्रत्यक्ष सभी धर्मों का समन्वय कर दिखाया है, जो बात अन्य किन्हीं अवतारों में नहीं दिखायी देती। इस बात को सिद्ध करने के लिए उन्हें हरएक धर्म की लौकिक दीक्षा लेना ही आवश्यक था; क्योंकि उसके बिना लोग उन्हें प्रत्यक्ष अपने निजी धर्म का नहीं समझ सकते थे। ईश्वर-दर्शन के उपरान्त भिन्न भिन्न धर्मों की प्रत्यक्ष दीक्षा लेकर प्रत्येक धर्म में बतायी हुई साधना करने का उन्होंने जो प्रचण्ड प्रयत्न किया, उसका इसी दृष्टि से विचार करने पर हमारे प्रश्न का समाधान हो जाता है।

६. इस प्रकार संसार को भावी युगधर्म का सूत्रपाठ सिखाने के लिए भगवान् का जो यह अलौकिक चरित्र हुआ उसका परिशीलन करने से हमें जो उपदेश प्राप्त होगा उसका यदि हम यथाशक्ति आचरण कर सकें तो निश्चय ही हमारा बड़ा कल्याण होगा।

७. श्रीरामकृष्णदेव का नियम था कि "प्रत्येक बात में शास्त्र-मर्यादा का पालन करना चाहिए।" यह नियम उनके आध्यात्मिक चरित्र में भी पूर्ण रूप से दिखायी देता है। मुमुक्षु, साधक और सिद्ध के क्रम से ही उन्होंने अपनी सभी लीलाएँ कीं। यह प्रायः सभी मानते हैं कि इस विश्व का संचालक और नियन्ता कोई ईश्वर होना चाहिए। उन्हें इतने से ही समाधान हो जाता है। पर श्रीरामकृष्णदेव को केवल इतने से ही सन्तोष नहीं हुआ। उनका यह दृढ़ विश्वास था कि "यदि ईश्वर हैं ही तो वे अन्य सब वस्तुओं के समान व्यवहार्य भी होने चाहिए। सगुण सृष्टि के अतीत तो वे हैं ही, पर यदि सगुण सृष्टि को वही चलाते हैं तो अन्य सब वस्तुओं के समान वह परमार्थ वस्तु भी प्रत्यक्ष व्यवहार्य होगी। अतएव उसका प्रत्यक्ष अनुभव भी क्यों न होना चाहिए"––इस प्रकार की अशान्ति या व्याकुलता उनके चित्त में उत्पन्न हुई और यही उनकी मुमुक्षु दशा है। इसी एक व्याकुलता

के कारण वे साधन-चतुष्टय-सम्पन्न हुए—और उनके साधक-भाव का आरम्भ हुआ। उनकी सिद्धावस्था अनुकरण के परे है। हम सामान्य जीवों को उसके सम्बन्ध में विचार करने की आवश्यकता भी नहीं है। पर उनके मुमुक्षु और साधक-भाव हमारी शिक्षा के लिए ही हैं; अतः उनके इन भावों से हमें क्या सीखना चाहिए, यही हम देखें। केवल "ईश्वर हैं" ऐसा बौद्धिक समाधान न मानकर वे व्यवहार्य कैसे हो सकते हैं, इसका विचार प्रत्येक व्यक्ति को करना चाहिए---और यही उनकी मुमुक्षु दशा की शिक्षा है।

८. ईश्वरप्राप्ति के लिए उन्होंने स्वयं जो अनेक साधनाएँ तथा रोमांच उत्पन्न करनेवाली उग्र तपस्या की और जो जो अनुभव प्राप्त किये, वे सब हमारे लिए यद्यपि असम्भव हैं, तथापि उनके फलस्वरूप उन्होंने जो निश्चयात्मक निम्नलिखित तत्त्व बताये हैं वे हमारे लिए अत्यन्त उपयोगी हैं:—

१. ईश्वर हैं।

२. जो कुछ है और जो होता है वह सब उन्हीं के करने से होता है। अतः

३. पूर्ण रूप से उनकी शरण में जाना ही योग्य और हितकर है।

४. इतना जानकर इस भावना को अधिकाधिक बढ़ाना ही मनुष्य का मुख्य कर्तव्य है।

इन चार तत्त्वों का निश्चय उन्होंने साधक-अवस्था में किया। और साथ ही साथ उन्होंने यह भी दिखाया कि इस निश्चयबुद्धि से चलनेवाले का आचरण धीरे धीरे विहित मार्ग से विधिपूर्वक कैसे होता है। अकर्मण्यता और आलस्य को दूर करने के लिए ईश्वरार्पण-बुद्धि से प्रचण्ड यत्न करना, जो गीतोक्त कर्मयोग का रहस्य है--उसे भी उन्होंने स्पष्ट कर दिखाया। कलकत्ता जैसे भोग-परायण शहर में, जहाँ पाश्चात्यों का अन्धानुकरण ही मुख्य था, रहते हुए भी उन्होंने यह सिद्ध कर दिखाया कि कामिनी-कांचन का त्याग केवल मन द्वारा ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष शरीर द्वारा भी किया जा सकता है; ऊपर बतायी हुई बुद्धि का एक बार दृढ़ निश्चय हो जाने पर मनुष्य को किसी भी परिस्थिति में विघ्न-बाधा नहीं हो सकती, वरन् परिस्थिति ही उसके अनुकूल बन जाती है और साक्षात् अपरोक्षानुभूति भी

केवल चालीस-पचास वर्ष के जीवनकाल में ही प्राप्त की जा सकती है। बुद्धि में ज्ञान, अन्तःकरण में भक्ति और शरीर में कालोचित प्रचण्ड कर्म-स्फूर्ति—इस वर्तमान परिवर्तित परिस्थिति में इन सबकी कितनी जबरदस्त आवश्यकता है, इस विषय की शिक्षा उन्होंने दी। दुर्बलता का त्याग करके वीर्यवान् बनने का उन्होंने उपदेश दिया।

९. परन्तु केवल मुँह द्वारा कहने से उपरोक्त बुद्धि-निश्चय नहीं हो सकता। बहुधा मनुष्य की धैर्य-शक्ति कम हो जाती है और मोह, विषाद, आपत्ति आदि के चपेटों के कारण बेचारे जीव को यदि कोई सहायता प्राप्त न हुई तो उसका आगे बढ़ना असम्भव हो जाता है। ऐसे समय ईश्वर को सर्व भार सौंपकर यदि वह अत्यन्त व्याकुलता से उसकी प्रार्थना करे तो उसे ईश्वर की सहायता अवश्य प्राप्त होती है और यह उनके साधनाकाल के इतिहास से स्पष्ट प्रतीत होता है।

१०. इस तरह हम देखते हैं कि इस ईश्वरावतार के चरित्र में एक प्रकार की अपूर्वता है। इसके अतिरिक्त इनके जीवन का एक और वैशिष्ट्य है:—आज तक के साधुसन्तों के चरित्र में हमें इस बात का कहीं भी विस्तृत विवरण नहीं मिलता है कि उन्होंने अपने साधनाकाल में कौन कौनसी साधनाएँ कीं, उनकी अन्तःशक्ति का कैसे कैसे विकास हुआ, उन्हें कौन कौनसे अनुभव प्राप्त हुए, किन किन अड़चनों का सामना करना पड़ा तथा उन उन प्रसंगों में उन्होंने क्या क्या किया, आदि आदि। कारण यह है कि ये सत्पुरुष स्वयं अत्यंत निरभिमान होते हैं और साथ साथ गम्भीर भी। इसीलिए उनके श्रीमुख से किसी प्रकार का विवरण सुनना असम्भव है; परन्तु श्रीरामकृष्णदेव के सम्बन्ध में ऐसा नहीं हुआ। एक ही समय में अनेक भाव उनमें रहते थे और वे भाव अत्यन्त उत्कट हुआ करते थे। यही श्रीरामकृष्णदेव की विशेषता है, जिससे संसार को अपूर्व लाभ हुआ है। उनके चरित्र का बहुतसा अंश ज्यों का त्यों स्वयं उन्हीं के श्रीमुख से सुनने को मिल सका है। इसीलिए "भैरवी मुझे चैतन्यदेव का अवतार समझती थी," "जो राम और कृष्ण हो गया है, वही अब रामकृष्ण होकर आया है," "इस तसवीर की पूजा घर-घर होगी," "हम सरकारी लोग हैं," "मुझ पर सारा भार सौंप दो" आदि वचन उनके श्रीमुख से सहज ही निकल पड़ते थे! पर इससे उन्हें

घमण्डी नहीं मानना चाहिए। उनमें जो बालकभाव सदा प्रबल रहता था उसके कारण उनकी गम्भीरता दूर हो जाती थी और प्रसंगवश उनसे बिना बोले नहीं रहा जाता था; अत्यन्त निरभिमानता के कारण उनके श्रीमुख से ये बातें निकल पड़ती थीं। इस तरह उनका सारा चरित्र--लगभग सब उनके ही श्रीमुख से सहज ही प्रकट हुआ है। "अभिमानी जीव जिस तरह व्यवहार करते हैं ठीक उसी तरह स्वाभाविक रीति से व्यवहार करना" ही निरभिमानता की चरम सीमा है। इसीलिए अन्य व्यक्तियों के विषय में जैसे कहा जाता है, उसी प्रकार अपने प्रति भी उनके श्रीमुख से शब्द निकला करते थे।

११. इस प्रकार उन्होंने जगत् के कल्याण के लिए जो चरित्र कर दिखाया और उसे परम कारुणिकता से स्वयं ही स्पष्ट रीति से बता दिया, वह कितना मनोहर और बोधप्रद होगा यह बताना अनावश्यक है। वर्तमान चरित्र मुख्यत: जिस आधार पर से लिखा गया है वह मूल चरित्र (श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग) बंगला भाषा में है और उसके लेखक हैं स्वामी सारदानन्दजी, जो उनके प्रमुख शिष्यों में से एक थे तथा जिन्हें उनका प्रत्यक्ष सहवास प्राप्त हुआ था। यह मूल चरित्र पाँच भागों में है और उसमें श्रीरामकृष्णदेव की अन्तिम बीमारी तक का वृत्तान्त है। इसके बाद के आठ महीनों का वृत्तान्त तथा उनकी बीमारी का हाल उसमें नहीं है। मराठी चरित्र में (जिसका प्रस्तुत पुस्तक अनुवाद है) यह वृत्तान्त संक्षिप्त रूप से श्रीरामचन्द्र दत्त कृत श्रीरामकृष्ण-चरित्र और 'एम' के कथामृत से लिया गया है। उसी प्रकार स्वामी सारदानन्दजी कृत जीवन-चरित्र में जो बातें नहीं आयी हैं वे अन्य पुस्तकों से ले ली गयी हैं (आधारभूत पुस्तकों की सूची देखिये) तथापि ऐसी बातें बहुत कम हैं; और मराठी जीवन-चरित्र का पूर्ण आधार स्वामी सारदानन्दजी कृत चरित्र ही है। इस चरित्र में स्थान स्थान पर जो शास्त्रीय विषयों का प्रतिपादन मिलता है उससे पाठकों को स्वामी सारदान्दजी के अधिकार की महत्ता स्पष्ट हो जायगी। स्वामी सारदानन्दजी के चरित्र की भाषा अत्यन्त मनोहर है। उनकी भाषा का प्रवाह किसी विशाल नदी के शान्त, धीर, गम्भीर प्रवाह के समान पाठक के मन को तल्लीन कर देता है। प्रथम तो श्रीरामकृष्णदेव का चरित्र ही अत्यन्त अद्भुत और रमणीय है और फिर उसमें स्वामीजी की सुन्दर भाषा और उनके विषय-प्रतिपादन

की कुशलता का संयोग। इस त्रिवेणी संगम में मज्जन करके पाठक अपनी देह की भी सुधि भूल जाते हैं। यह जीवन-चरित्र पाठकों को कैसा रुचेगा, यह अभी नहीं कहा जा सकता, तथापि इसे पढ़कर यदि पाठकों का ध्यान श्रीरामकृष्ण के उदार चरित्र की ओर आकृष्ट हो सका तो मैं अपने परिश्रम को सार्थक मानूँगा।

इस चरित्र में स्थान स्थान पर "हम बोले" "हमें उन्होंने बताया" आदि वाक्यों में 'हम' शब्द मूल बंगला ग्रन्थकार का है। 'हम' शब्द का उपयोग उन्होंने श्रीरामकृष्णदेव के शिष्यों के लिए किया है।

१२. इस प्रकार (१) सब धर्म एक ही ध्येय की ओर पहुँचने के भिन्न भिन्न मार्ग हैं। (२) ईश्वर, मंगल ग्रह के समुद्र के समान, केवल अनुमान करने की वस्तु नहीं हैं; वे तो इन्द्रियातीत भाव से प्रत्यक्ष अनुभव करने की वस्तु हैं; और (३) किसी भी कल्पना को लेकर उसे केवल कल्पना ही में न रखकर मन, वाणी और शरीर से भी उसका अनुष्ठान करना चाहिए—इसी में साधक के यश का बीज है––इस भावप्रणाली को संसार को देने के लिए भगवान् श्रीरामकृष्णदेव की प्रकट लीला पाठकों के सामने रखी जाती है। यह तो भगवान् के अत्यन्त समर्थ अवतार का चरित्र है––बड़ा ही अमोघ है! जिसके जिसके कान में पहुँचेगा, उसका कुछ न कुछ कल्याण अवश्य करेगा। इसमें किसी प्रकार की शंका नहीं है। इतना कल्याणप्रद विषय प्राप्त होने के कारण मैं स्वयं अपने को बड़ा भाग्यशाली समझता हूँ और इस वैदिक राष्ट्र के लिए तथा उसके अंगस्वरूप स्वयं अपने लिए भी निम्नलिखित प्रार्थना करते हुए इस पुण्य स्मरण के कार्य से विश्राम लेता हूँ।

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्।



श्रीरामकृष्णलीलामृत

१. भूमिका

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।।--गीता, ४-७
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।--गीता, ४-८

"जो राम, जो कृष्ण, वही अब रामकृष्ण।"

—श्रीरामकृष्ण

हर कोई देख सकता है कि विद्या, सम्पत्ति और उद्योग द्वारा मानव-जीवन आजकल कितना उन्नत हो गया है। किसी एक विशिष्ट परिस्थिति में ही आबद्ध रहना अब मनुष्य-प्रकृति के लिए मानो असह्य हो गया है। पृथ्वी और पानी पर अव्याहत गति प्राप्त करके ही उसे सन्तोष नहीं है। अब तो वह आकाश को भी अधिकृत करने का प्रयत्न कर रही है। अपनी जिज्ञासा को पूर्ण करने के लिए उसने अंधकारमय समुद्रतल में और भीषण ज्वालामुखी पर्वतों में भी प्रवेश करने का साहस किया है। सदा हिमाच्छादित पर्वत पर और भूपृष्ठ पर विचरण करके वहाँ के चमत्कारों का अवलोकन किया है। पृथ्वी पर के छोटे मोटे सभी पदार्थों के गुणधर्म जानने के लिए दीर्घ प्रयत्न करके लता औषधि

वृक्ष इत्यादिकों में भी अपने ही समान प्राणस्पन्दन होने का प्रयत्क्ष अनुभव कर लिया है। इन सब विषयों का यथार्थ बोध प्राप्त करने के लिए नाना प्रकार के अद्भुत यन्त्रों का भी आविष्कार किया है। उसने पृथ्वी, आप, तेज इत्यादि पंचभूतों पर आधिपत्य प्राप्त किया, पृथ्वी सम्बन्धी अनेक विषयों का ज्ञान सम्पादन किया, पर इनसे तृप्त न होकर सुदूर आकाशस्थित ग्रह-नक्षत्रों की ओर अपनी तीक्ष्ण दृष्टि दौड़ायी और उनके भी समाचार प्राप्त करने में बहुतेरी सफलता प्राप्त की। ये हुई स्थूल सृष्टि की बातें। सूक्ष्म का ज्ञान सम्पादन करने में भी मनुष्य-जाति ने वैसा ही अपार परिश्रम किया है। जीवन के रहस्यों का अनुशीलन करके उसने उत्क्रान्ति-तत्त्व का शोध किया है। शरीर और मन के सूक्ष्म गुण-धर्मों को समझा है। स्थूल जगत् के ही समान सूक्ष्म जगत् के व्यापार भी किसी अचिन्त्य नियम-सूत्र से बँधे हुए हैं यह भी उसने देख लिया है और मनुष्य की आकलन-शक्ति से परे भी कई घटनाएँ हो सकती हैं, इस बात पर उसे विश्वास होने लगा है।

यद्यपि पूर्वोक्त उन्नति और इस शक्ति का उदय पाश्चात्य देशों में ही हुआ है, तथापि उनका प्रचार भारतवर्ष इत्यादि पूर्वी देशों में भी कुछ कम नहीं हुआ है। प्राच्य और पाश्चात्य देशों का सम्बन्ध जैसे जैसे अधिक हो रहा है वैसे वैसे प्राचीन प्राच्य जीवन-विधि भी परिवर्तित हो रही है और वह पाश्चात्यों के साँचे में ढल रही है। चीन, जापान, भारतवर्ष इत्यादि देशों की वर्तमान स्थिति देखने से इस सिद्धान्त की सत्यता प्रतीत होती है। इसका परिणाम भविष्य में भले ही कुछ भी हो, पर पौर्वात्य देशों पर पश्चिमी विचारों का प्रभाव दिनोंदिन अधिक पड़ता जा रहा

है और समय पाकर यह प्रभाव पृथ्वी के सभी देशों पर पड़ेगा इसमें कोई सन्देह दिखायी नहीं देता।

भारतवर्ष और अन्य सब देशों के भाव, विचार, कल्पना इत्यादि के तुलनात्मक विवेचन करने से यह दिखता है कि ईश्वर, आत्मा, परलोक इत्यादि इन्द्रियातीत वस्तुओं का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना ही अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष ने अपना ध्येय निश्चित कर रखा है। और इस प्रकार का साक्षात्कार और ज्ञान-प्राप्ति ही किसी भी व्यक्ति का सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य समझा जाता है। भारतवर्ष के सभी आचार-विचारों के मूल में यही उच्च आध्यात्मिक ध्येय दिखायी देता है; पर दूसरे देशों का लक्ष्य ऐहिक सुखोपभोग की ओर पाया जाता है।

यद्यपि पाश्चात्यों ने पंचेन्द्रियों के अनुभव के प्रमाण द्वारा जड़ विज्ञान की बहुतेरी उन्नति की है, तथापि उपरोक्त प्रमाण-पद्धति उन्हें आत्मविज्ञान के सम्बन्ध में कोई भी मार्ग नहीं दिखला पायी—कारण कि संयम, स्वार्थहीनता और अन्तर्मुख वृत्ति ही आत्मविज्ञान का मार्ग है और मन का संयम या निरोध ही आत्मोपलब्धि का साधन है। बहिर्मुख पाश्चात्य लोग आत्मविज्ञान का मार्ग बिलकुल भूलकर उत्तरोत्तर देहात्मवादी और नास्तिक बन गये हैं इसमें आश्चर्य ही नहीं। ऐहिक सुखोपभोग ही उनका जीवनसर्वस्व बन गया और इसीलिए उनके सभी प्रयत्न उसीकी प्राप्ति के लिए हुआ करते हैं। जड़ विज्ञान के द्वारा उन्होंने पदार्थों का जो ज्ञान प्राप्त किया उसका उपयोग मुख्यतः भोग-सुख की प्राप्ति के लिए ही करने के कारण वे दिनोंदिन अधिक दाम्भिक और स्वार्थपरायण हो चले हैं। पाश्चात्य समाज में धनी और गरीब होने के तत्त्व पर बना हुआ जाति-विभाग, उनके आविष्कृत

तोप, बन्दूक इत्यादि भयानक यन्त्र, एक ओर अटूट सम्पत्ति और साथ ही साथ दूसरी ओर अपार दारिद्रय और असन्तोष का अस्तित्व, भयंकर धनतृष्णा तथा तज्जन्य परदेशहरण और परजातिपीड़न ये सब उसी भोगसुखलालसा के परिणाम हैं। यह भी दिखायी देता है कि उनके अपार भोग-सुख प्राप्त कर लेने पर भी पाश्चात्यों के मन में किंचित् शान्ति नहीं आती और मृत्यु के बाद के जीवन पर जैसे तैसे विश्वास करते हुए उन्हें सुख नाम को भी नहीं मिलता। अधिकाधिक शोध करते करते पाश्चात्यों की समझ में अब कहीं यह बात आने लगी है कि पंचेन्द्रियजन्य ज्ञान द्वारा देशकालातीत तत्त्व का पता कभी नहीं लग सकता। विज्ञान अधिक से अधिक उस तत्त्व का आभास मात्रा करा देगा; उसका यथार्थ ज्ञानलाभ कराना विज्ञान की शक्ति के बाहर की बात है। अतः जिस देवता की कृपा से आज तक पाश्चात्य अपने को शक्तिमान समझते थे और जिसके प्रसाद से उन्हें इतनी धन-सम्पदा मिली थी, उसी के आसन को डगमगाते देख उनकी मानसिक अशान्ति अब और अधिक बढ़ रही है।

उक्त विवेचन द्वारा यह सिद्ध होता है कि पाश्चात्यों के जीवन के मूल में विषयलोलुपता, स्वार्थपरता और धर्मविश्वासहीनता ही है। इसी कारण जो पाश्चात्यों के समान उन्नति करना चाहते हैं उन्हें स्वभावतः या जानबूझकर उन्हीं के समान बनना पड़ेगा और इसीसे ऐसा दिखता भी है कि जापान इत्यादि जिन प्राच्य देशों ने पाश्चात्यों के अनुकरण का क्रम चलाया उनमें स्वजाति और स्वदेश-प्रेम के साथ-साथ पाश्चात्यों के उपरोक्त दोष भी आ चले हैं। पाश्चात्यों के अनुकरण करने में यही भारी दोष है। उन्हीं के संसर्ग से हमारे भारतवर्ष में भी जो भावनाएँ प्रविष्ट

हो रही हैं उन पर विचार करने से उपरोक्त सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है।

भारतवासियों का जीवन धार्मिक मूल पर प्रतिष्ठित होने के कारण उनकी संस्कृति एक अपूर्व और निराली सामग्री से निर्मित हुई है। संक्षेप में कहा जाय तो संयम ही उस संस्कृति का प्राण है। व्यक्ति और समाज, दोनों ही अपना जीवन संयम की सहायता से नियमित बनायें यही भारतवर्ष के शास्त्रों की आज्ञा थी। "त्याग के लिए ही भोगों का ग्रहण और परलोक के लिए ही इहलोक का जीवन" इन बातों का सभी को सभी अवस्थाओं में स्मरण कराते हुए व्यक्ति और समाज का ध्यान शास्त्रों ने इस उच्च ध्येय की ओर आकर्षित कर रखा था। पाश्चात्यों के संसर्ग से इस भावना में कितना अन्तर हो गया, यह कोई भी देख सकता है। भारतवर्ष के पूर्वपरम्परागत संस्कारों और आचार-विचारों में भी अद्भुत क्रान्ति हो गयी है। भारतवर्ष ने अपने पुराने त्याग और संयम-प्रधान जीवन को छोड़कर भोगप्रधान जीवन को स्वीकार कर लिया है। इससे उसकी पुरानी संस्कृति और शिक्षा का लोप हो गया और उसमें नास्तिकता, परानुकरणप्रियता और आत्मविश्वासहीनता का उदय हो गया और वह कोल्हू में पेरे हुए साँटे की छोही के सदृश निःसत्त्व बन गया। भारतवर्ष को ऐसा प्रतीत होने लगा कि इतने दिनों तक उसने अपना आयुष्य जिस प्रकार व्यतीत किया वह केवल भ्रमात्मक था और विज्ञान के सहारे उन्नति करनेवाले पाश्चात्यों का हमारे पूर्वपरम्परागत संस्कारों और आचार-विचारों को जंगली कहना गलत नहीं है। भोगलालसा से मुग्ध होकर भारत अपना पूर्वेतिहास और पूर्व गौरव भूल गया। इस स्मृतिभ्रंश से भारत का बुद्धिनाश हो गया और इस बुद्धिनाश

ने भारत के अस्तित्व के लोप होने की नौबत ला दी। इसके सिवाय ऐहिक भोगों की प्राप्ति के लिए उसे अब परमुखापेक्षी होना पड़ता है। अत: उसे भोग-प्राप्ति भी उत्तरोत्तर कठिन होने लगी। इस तरह दूसरों की नकल करने के कारण योग और भोग दोनों मार्गों से भ्रष्ट होकर कर्णधार के बिना वायु के वेग में पड़ी हुई नौका के समान भोगाभिलाषी भारतवर्ष इतस्तत: भटकने लगा।

इस तरह पाश्चात्यों के साथ साथ उनकी धर्मग्लानि का प्रवेश भी इस भारत देश में हुआ। जब-जब काल के प्रभाव से सनातन धर्म की ग्लानि हुआ करती है, और जब माया के अनिर्वचनीय प्रभाव से मुग्ध होकर मनुष्य ऐहिक सुख-लाभ को ही सर्वस्व समझने लगता है और अपने जीवन का उसी में अपव्यय करने लगता है, और आत्मा, मुक्ति इत्यादि सभी अतीन्द्रिय पदार्थ मिथ्या हैं और किसी भ्रमान्ध युग के स्वप्न-राज्य की कल्पनाएँ हैं, ऐसा सोचने लगता है, ऐहिक सम्पत्ति और इन्द्रियसुखों का नाना प्रकार से उपभोग करने पर भी जब उसे शान्ति नहीं मिलती, और जब वह अशान्ति की वेदनाओं से हाहाकार करने लगता है तब श्रीभगवान् अपनी महिमा से सनातन धर्म का उद्धार करने के लिए अवतार लेते हैं और दुर्बल मनुष्यों पर कृपा करके उनका हाथ पकड़कर उन्हें धर्म के मार्ग में प्रतिष्ठित करते हैं।

यथार्थ में यह धर्मग्लानि सारे संसार में कितनी प्रबल हो गयी है, यह देखकर मन स्तब्ध हो जाता है। यदि धर्म नाम की कोई यथार्थ वस्तु है और विधि के नियमों के अनुसार मनुष्यप्राणी उसे प्राप्त कर सकता है, तो कहना होगा कि आधुनिक भोग-परायण मानवजीवन उस वस्तु (धर्म) से अत्यन्त ही दूर है।

विज्ञान की सहायता से अनेक प्रकार के ऐहिक सुखों की प्राप्ति करने में सफल होने पर भी मनुष्य के मन को शान्ति नहीं मिली है, उसका कारण वही धर्मग्लानि है। इस धर्मग्लानि का प्रतिकार कौन करेगा ?

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया है कि संसार में जब जब धर्म की ग्लानि होती है तब तब अपनी माया की शक्ति का अवलम्बन करके मैं शरीर धारण करता हूँ और उस ग्लानि को दूर कर मनुष्य को पुनः शान्ति-सुख का अधिकारी बनाता हूँ। ऐसे अवतारों के चरण अपने वक्षःस्थल पर धारण कर यह भारतभूमि आज तक अनेक बार धन्य हुई है। युगप्रयोजन की उपस्थिति होने पर ऐसे अमितगुणसम्पन्न अवतारी पुरुषों का शुभागमन भारतवर्ष में अभी तक होते हुए दीख पड़ता है। सिर्फ ४०० वर्ष पूर्व श्रीकृष्णचैतन्य भारती द्वारा प्रचारित श्रीहरि के अपूर्व नाम-संकीर्तन से भारतवर्ष के उन्मत्तप्राय होने की वार्ता जगत् में प्रसिद्ध ही है। अभी भी क्या वैसा समय आ गया था ? सारे संसार द्वारा तुच्छ माने हुए नष्टगौरव और दरिद्र पुरातन भारत-वर्ष में अब क्या पुनः युगप्रयोजन उपस्थित हो गया था और परम करुणामय श्रीभगवान् को सनातन-धर्मरक्षणार्थ पुनः अवतार लेना आवश्यक हो गया था ? पाठकगण ! जिस अशेष-कल्याणसम्पन्न महापुरुष की कथा हम आप को सुना रहे हैं उसे आद्योपान्त सुन लेने पर आप को निश्चय हो जायेगा कि यथार्थ में ऐसा ही हुआ था। श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि रूप से पूर्व युगों में अवतीर्ण होकर सनातन धर्म की संस्थापना जिन्होंने की थी उन्हीं के चरणरज युगप्रयोजन सिद्ध करने के लिए भारतवर्ष पर पुनः एक बार लगने से यह पुरातन भारतवर्ष सचमुच धन्य हो गया है !

"जितने मत उतने पथ," "अन्तःकरणपूर्वक किसी भी पथ का अनुष्ठान करो, तुम्हें श्रीभगवान् की प्राप्ति अवश्य होगी"—उनके इन पवित्र आशीर्वचनों को श्रद्धालु अन्तःकरण से श्रवण कीजिये।

पाठकवृन्द ! चलिये, पराविद्या को इस संसार में पुनः लाने के लिए उन्होंने जो अलौकिक स्वार्थत्याग और तपस्या की, उसको मनन करें और उनके कामगन्धहीन पुण्य चरित्र की यथाशक्ति आलोचना और ध्यान करके आप और हम दोनों पवित्र बनें ! !

---

२. कामारपुकुर और माता-पिता

"जब मेरे पिता रास्ते से जाते थे, तब आसपास के लोग जल्दी जल्दी उठकर खड़े हो जाते थे और आदरपूर्वक कहा करते थे, 'देखो वे आ रहे हैं!'"

"जब वे तालाब में स्नान करते थे, तो उनका स्नान समाप्त होते तक कोई भी दूसरा मनुष्य तालाब में नहीं उतरता था!"

"ईश्वर का नामस्मरण करते समय उनका वक्षःस्थल आरक्त हो जाता था!"

"गाँव के लोग ऋषि के समान उनका आदर करते थे!"

—श्रीरामकृष्ण

ईश्वर का अवतार मानकर जिन महापुरुषों की पूजा संसार आज तक करता आ रहा है, उनमें से श्रीभगवान् रामचन्द्र और भगवान् बुद्ध को छोड़ बाकी सभी के ऐहिक जीवन का आरम्भ दुःख-दारिद्रय, सांसारिक अभाव और संकट-विपत्ति में ही हुआ है। उदाहरणार्थ क्षत्रिय कुलदीपक भगवान् श्रीकृष्ण का जन्म कारागार में हुआ और उन्हें अपना बाल्यकाल स्वजनों से विलग होकर गाय चराने वाले गोपों के बीच बिताना पड़ा। श्रीभगवान् ईसा मसीह का जन्म दरिद्र माता-पिता की कुक्षि में एक धर्मशाला के कोठे में हुआ। श्रीभगवान् शंकराचार्य का भी जन्म एक दरिद्र विधवा के उदर से हुआ। भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य का जन्म भी अति-सामान्य दरिद्र के घर में ही हुआ था। इस्लामधर्मप्रवर्तक हजरत मुहम्मद के जन्म की भी यही अवस्था है; तथापि जिस दुःख-

दारिद्रच में सन्तोषजनक शान्ति नहीं है, जिस सांसारिक अभाव में निःस्वार्थ प्रेम नहीं है, जिन दरिद्र माता-पिता के हृदय में त्याग, पवित्रता, कोमलता और दया नहीं है, ऐसे स्थानों में महापुरुषों का जन्म होते कभी नहीं दिखायी दिया।

विचार करने से अवतारी पुरुषों के दरिद्र गृह में जन्म लेने का उनके भावी जीवन से एक प्रकार का गूढ़ सम्बन्ध दिखायी देता है, कारण कि युवा और प्रौढ़ अवस्था में उन्हें विशेषतः दरिद्र और दुःखी लोगों के साथ ही मिलजुलकर, उनकी हृदय की अशान्ति को दूर करने का कार्य करना पड़ता है। अतः यदि वे ऐसे लोगों की अवस्था से आरम्भ से ही परिचित और सहानुभूतिशील न हों तो वह कार्य उनके हाथों कैसे सिद्ध हो? इतना ही नहीं, हम पहले ही देख चुके हैं कि समाज से धर्मग्लानि को दूर करने के ही लिए अवतारी पुरुषों का जन्म होता है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए उन्हें पुराने धर्मसम्प्रदायों की तत्कालीन अवस्था का ज्ञान अवश्य रहना ही चाहिए, क्योंकि इन सब प्राचीन सम्प्रदायों की तत्कालीन ग्लानि के कारणों की मीमांसा करके उन्हें पूर्ण बना देने वाला नया सम्प्रदाय स्थापन करना पड़ता है। इन बातों का परिचय प्राप्त करने का सुयोग श्रीमानों की बड़ी बड़ी हवेलियों में नहीं प्राप्त हो सकता। यह अनुभव तो दरिद्रों की झोपड़ी में ही मिलता है, क्योंकि सांसारिक सुख-भोगों से वंचित मनुष्यों का ही ध्यान ईश्वर, धर्म इत्यादि विषयों की ओर आकृष्ट होता है। अर्थात् बाकी सब जगह धर्म की ग्लानि रहने पर भी दरिद्र की कुटिया में पुरानी धर्मविधियाँ थोड़ी बहुत जीवित दीख पड़ती हैं। सम्भवतः इसी कारण जगद्गुरु महापुरुष दरिद्र परिवारों में ही जन्म लेना पसन्द करते है। हमारे चरित्र-नायक के

जन्म लेने में उक्त नियम का उल्लंघन नहीं हुआ, ऐसा दिखायी देता है।

हुगली जिले के वायव्य भाग में जहाँ पर बाँकुड़ा और मेदिनीपुर जिले जुड़े हुए हैं, वहीं पर एक त्रिकोण में परस्पर लगे हुए श्रीपुर, कामारपुकुर और मुकुन्दपुर नामक तीन ग्राम बसे हुए हैं। ये तीनों ग्राम अलग होते हुए भी बाहर के मनुष्य को एक ही ग्राम के तीन मोहल्ले जैसे दीख पड़ते हैं। आसपास के ग्रामों में इन तीनों ग्रामों का एक ही नाम कामारपुकुर प्रसिद्ध है। शायद गाँव के जमींदार कामारपुकुर में ही बहुत दिनों तक रहे हों, इसीलिए तीनों का नाम कामारपुकुर पड़ गया हो। जिस समय की वार्ता हम कह रहे हैं, उस समय बर्दवान के महाराजा के गुरुवंश के श्रीयुत गोपीलाल, सुखलाल इत्यादि गोस्वामी कामारपुकुर के जमींदार थे।

कामारपुकुर के उत्तर में १६ कोस की दूरी पर बर्दवान शहर है और वहाँ से कामारपुकुर आने के लिए पक्की सड़क है। यह सड़क इस गाँव की आधी परिक्रमा करती हुई नैऋत्य की ओर श्रीजगन्नाथपुरी को गयी है। पैदल जाने वाले बहुतेरे यात्री और वैराग्यसम्पन्न साधु-बैरागी इसी रास्ते से जगन्नाथजी आते जाते हैं।

सन् १८६७ के साल में बंगाल में मलेरिया का पहले पहल आक्रमण हुआ। उसके पूर्व कृषिप्रधान बंगाल के ग्राम शान्ति और आनन्द से मानो पूर्ण थे। विशेषत: हुगली प्रान्त के विस्तीर्ण धान्य-क्षेत्रों के बीच बसे हुए ये छोटे गाँव किसी विशाल हरित समुद्र में तैरने वाले छोटे छोटे टापुओं के सदृश दीखते थे। उपजाऊ जमीन, खाने पीने की सामग्री, यथेच्छ स्वच्छ और निर्मल वायु में नित्य परिश्रम——इनके कारण इन ग्रामवासियों के शरीर हृष्टपुष्ट

रहते थे और इनके मन में सर्वदा प्रेम और सन्तोष निवास करता था। इन ग्रामों में सदा मनुष्यों की चहल-पहल बनी रहती थी और खेती के सिवाय छोटे-मोटे घरेलू उद्योग भी हुआ करते थे। कामारपुकुर में ब्राह्मण, कायस्थ, जुलाहा, कुम्हार, ढीमर, बसोड़ इत्यादि कई प्रकार की जातियाँ निवास करती थीं। गाँव में तीन चार बड़े तालाब हैं, उनमें से सब से बड़ा हालदारपुकुर है। इनमें से कुछ में शतदल इत्यादि कमल होने के कारण उनकी अपूर्व शोभा है। गाँव के बहुतेरे घर ईंटों के हैं। स्थान स्थान पर खंडहर और देवालय दिखायी देते हैं जिससे ग्राम की पूर्व स्थिति की कल्पना कर सकते हैं। गाँव के वायव्य और ईशान में दो स्मशान हैं। पहले स्मशान के उस पार चरागाह, माणिकराज की सार्वजनिक उपयोग के लिए दी हुई अमराई और दामोदर नद हैं।

कामारपुकुर के उत्तर में एक मील पर भूरसुबो ग्राम है। वहीं माणिकचन्द्र वन्द्योपाध्याय नाम के एक धनाढ्य सज्जन रहते थे। आसपास के गाँवों में वे 'माणिकराज' नाम से सुप्रसिद्ध थे। पूर्वोक्त अमराई के सिवाय सार्वजनिक उपयोग के लिए उन्होंने कई तालाब बनवाये हैं। ऐसा कहा जाता है कि उनके यहाँ अनेक बार लक्ष ब्राह्मण-भोजन दिये गये।

कामारपुकुर के पश्चिम में एक कोस पर सातबेड़े, नारायण-पुर और देरे नामक तीन गाँव पास पास हैं। पहले ये ग्राम बड़े सम्पन्न थे। हम जिस समय की चर्चा कर रहे हैं, उस समय तीनों गाँवों के जमींदार रामानन्दराय थे। वे विशेष धनाढ्य तो नहीं थे, पर अपनी प्रजा को बड़ा कष्ट देते थे। किसी भी कारण यदि किसी से उनकी अनबन हो जाती तो उसका सर्वनाश करने में वे आगा-पीछा नहीं देखते थे। ऐसा कहा जाता है कि उनकी सर्व

सन्तति अल्पायु रहीं। लोगों को ठगने के कारण ही वे निर्वंश हुए और उनकी सम्पत्ति का विनाश हुआ।

लगभग १५० वर्ष पूर्व मध्यस्थितिवाला, धर्मनिष्ठ, सदाचारी, कुलीन और श्रीरामचन्द्रोपासक चटर्जी नामक एक कुटुम्ब इस ग्राम में निवास करता था। उस कुल में श्रीयुत माणिकराम चटर्जी को तीन पुत्र और एक पुत्री थी। सबसे बड़े पुत्र क्षुदिराम का लगभग सन् १७७५ में जन्म हुआ। उसके पश्चात् रामशीला नाम की कन्या और निधिराम तथा कानाईराम दो पुत्र हुए।

श्रीयुत क्षुदिराम ने अपने तरुणकाल में चरितार्थ-साधन के लिए किसी उद्योग-धन्धे की शिक्षा प्राप्त की थी या नहीं यह तो विदित नहीं है, पर सत्यनिष्ठा, सन्तोष और त्याग इत्यादि ब्राह्मणों के स्वभावसिद्ध शास्त्रसम्मत गुण उनमें पूर्ण रूप से थे। वे कद में ऊँचे और दुबले पतले थे, पर शक्तिवान थे। वे गौरवर्ण हँसमुख थे। वंशपरम्परागत श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति उनमें विशेष थी और नित्यप्रति सन्ध्यावन्दन इत्यादि के पश्चात् श्रीरामचन्द्रजी की पूजा किये बिना वे अन्न ग्रहण नहीं करते थे। शूद्रों से वे कभी दान नहीं लेते थे। इतना ही नहीं, वे शूद्रों के घर यजमान-कार्य करने वाले ब्राह्मण के यहाँ कभी भोजन भी नहीं करते थे। कन्या विक्रय करने वाले ब्राह्मण के हाथ का पानी भी वे नहीं पीते थे। ऐसे निष्ठावान और सदाचार-सम्पन्न होने के कारण गाँववालों की उनपर बड़ी श्रद्धा थी और वे लोग उनका बड़ा आदर करते थे।

पिता की मृत्यु के बाद संसार का सब भार क्षुदिराम पर ही आ पड़ा। धर्म-मार्ग में ही रहकर उन्होंने अपनी संसार-यात्रा शुरू की। पिता की मृत्यु के पूर्व ही इनका विवाह हो गया था, पर पत्नी छोटी आयु में ही मर गयी। इस कारण उन्होंने २४ वें

वर्ष (१७९९) में पुनः विवाह किया। इनकी द्वितीय पत्नी का नाम 'चन्द्रमणि' था। घर के लोग इन्हें 'चन्द्रा' ही कहा करते थे। उसका मायका 'सराठी मायापुर' ग्राम में था। वह सुस्वरूपा, सरलहृदया और देवता तथा ब्राह्मणों पर बहुत निष्ठा रखने वाली थी। उसका अन्तःकरण श्रद्धालु और प्रेम-सम्पन्न होने के कारण वह सबको प्रिय थी। विवाह-काल में उसकी आयु आठ वर्ष की थी (जन्म १७९१ में हुआ था)। विवाह के ६-७ वर्ष बाद (१८०५–०६) उसके प्रथम पुत्र रामकुमार का जन्म हुआ। तत्पश्चात् ५-६ वर्ष में (१८१०–११) पुत्री कात्यायनी और उसके १६ वर्ष बाद (१८२६–२७) द्वितीय पुत्र रामेश्वर का जन्म हुआ।

धार्मिकता के साथ संसार-यात्रा करना कितना कठिन है इसका अनुभव क्षुदिराम को शीघ्र ही हुआ। प्रायः कात्यायनी के जन्म के थोड़े ही दिनों के उपरान्त (१८१४) उनकी परीक्षा का विकट प्रसंग आया। देरे गाँव का जमींदार रामानन्दराय दुष्ट स्वभाव का था, यह ऊपर कह ही आये हैं। देरे गाँव के एक गृहस्थ पर वह जमींदार रुष्ट हो पड़ा और एक झूठा मुकदमा उस पर दायर किया और अपनी ओर से क्षुदिराम को झूठी साक्षी देने के लिए कहा। धर्मपरायण क्षुदिराम सदा कानून-कायदा और वकील-अदालत से डरा करते थे और सच्ची बात के लिए भी अदालत से डरा करते थे और उसके लिए भी अदालत की सीढ़ी पर कदम रखना पसन्द नहीं करते थे। अतः वे जमींदार के इस कार्य से बड़े संकट में पड़ गये। जमींदार की ओर से झूठी गवाही देने के लिए इन्कार करने पर जमींदार का उनसे रुष्ट हो जाना जानते हुए भी उन्होंने ऐसी गवाही देने से नाहीं कर दी। परिणाम जो होना था वही हुआ। जमींदार ने क्षुदिराम पर भी झूठी नालिश कर

दी और उसमें विजय प्राप्त कर क्षुदिराम की सारी सम्पत्ति नीलाम करा दी। बेचारे क्षुदिराम को गाँव में रहने के लिए जगह भी बाकी नहीं रही। इस संकट ने सभी ग्रामवासियों के दिल को पिघला दिया, पर जमींदार के विरोधी क्षुदिराम को सहायता देने का साहस किसे हो सकता था?

इस प्रकार ४० वें वर्ष में क्षुदिराम का सर्वस्व विनाश हो गया। पूर्वजों की और अपनी कमायी हुई सम्पत्ति अंदाजन १५० बीघे जमीन वायु के प्रबल वेग से बादल के टुकड़े के समान क्षण-भर में नष्ट हो गयी; परन्तु इस दारुण विपत्ति में भी वे अपनी धर्मनिष्ठा से तिल भर भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने अपना सर्व भार श्रीरामचन्द्रजी के पादपद्मों में सौंपकर दुर्जन से दूर रहना ही अच्छा, इस नीतिवाक्य का विचार करके अपने रहने के घर और ग्राम से शान्तचित्त होकर सदा के लिए विदा ले ली।

ऊपर कह आये हैं कि कामारपुकुर में सुखलाल गोस्वामी रहते थे। समानशील होने के कारण क्षुदिराम से इनका घनिष्ठ परिचय था। क्षुदिराम के संकट का हाल जानते ही उन्होंने अपने घर का एक हिस्सा खाली करके क्षुदिराम को अपने यहाँ बुलवाया। क्षुदिराम को संकट-समुद्र में यह बड़ा आधार हो गया। श्रीभगवान् की अचिन्त्य लीला ने ही गोस्वामीजी को ऐसी बुद्धि दी, यह विश्वास उनके मन में हो गया और कृतज्ञतापूर्वक उन्होंने यह निमन्त्रण स्वीकार किया। तब से क्षुदिराम कामारपुकुर में रहने लगे। उदारहृदय सुखलाल को इससे बड़ा आनन्द हुआ और धर्मपरायण क्षुदिराम की संसार-यात्रा ठीक चलाने की गरज से उन्होंने १।। बीघा जमीन उनके नाम से लगा दी।

---

३. कामारपुकुर में कल्याणमय संसार

"मेरी माता अत्यन्त सरल स्वभाव की थीं। दूसरों को भोजन कराना उन्हें बहुत प्रिय था। वह छोटे बच्चों पर बहुत प्रेम करती थीं।"

—श्रीरामकृष्ण

जिस दिन क्षुदिराम अपनी पत्नी, पुत्र और पुत्री को लेकर कामारपुकुर की पर्णकुटी में पहले पहल रहने के लिए गये उस दिन उनके मन के विचार क्या रहे होंगे, इसे कहने की अपेक्षा कल्पना करना ही अधिक उपयुक्त होगा! ईर्ष्याद्वेष-पूर्ण संसार उस दिन दोनों को अमावस्या की भयानक कालरात्रि में स्मशान के समान मालूम पड़ने लगा। सुखलाल गोस्वामी का स्नेह, उदारता, दया इत्यादि गुणों ने उनके अन्तःकरण में कुछ समय सुख-आशा का प्रकाश डाला, पर दूसरे ही क्षण वह प्रकाश मिट गया, और पुनः उनके अन्तश्चक्षुओं को सर्वत्र अन्धकार ही दिखायी देने लगा। अपनी पूर्वस्थिति और वर्तमान स्थिति के अन्तर का विचार उनके मन में बार बार आने लगा। ध्यान रहे कि संकट आने पर ही मनुष्य को संसार की निःसारता और अनित्यता का निश्चय होता है, अतएव क्षुदिराम के हृदय में इस समय वैराग्य का उदय होना स्वाभाविक ही था। उपरोक्त कथनानुसार आश्चर्यकारक और अयाचित रीति से आश्रय मिलने की बात का स्मरण आने से उनका हृदय ईश्वर की भक्ति और निर्भयता से पूर्ण हो गया और श्रीरामचन्द्र जी के चरणों में पूर्णतया आत्मसमर्पण करके संसार

से उदासीन रहते हुए उन्होंने अपना समय अब श्रीभगवान् के पूजा-ध्यान में व्यतीत करना प्रारम्भ कर दिया। संसार में रहते हुए भी संसार से उदासीन रहने के कारण वे अपने दिन एक वानप्रस्थी के समान बिताने लगे।

इसी अवधि में एक ऐसी घटना हुई जिससे उनकी धार्मिक श्रद्धा और बढ़ गयी। एक दिन उन्हें किसी कार्य के लिए समीप के एक गांव में जाना पड़ा। लौटते समय वे थककर एक वृक्ष के नीचे विश्राम करने लगे और उनकी आँख लग गयी। इतने में उन्हें एक विचित्र स्वप्न दिख पड़ा। श्रीरामचन्द्रजी बाल वेश में सामने खड़े हैं और एक स्थान की ओर उंगली से इशारा कर रहे हैं और कहते हैं, "मैं इस जगह कितने दिनों से भूखा पड़ा हूँ, मुझे अपने घर ले चल, तेरी सेवा ग्रहण करने की मेरी बड़ी इच्छा है।" भगवान् की ऐसी अकल्पित कृपा देख उनका हृदय गद्‌गद हो गया, नेत्रों से आनन्दाश्रु निकलने लगे। इतने ही में उनकी नींद खुल गयी। वे इस अद्‌भुत स्वप्न का अर्थ मन में विचार ही रहे थे कि इतने में उनकी दृष्टि एक स्थान पर पड़ी और उन्होंने पहचान लिया कि स्वप्न में श्रीरामचन्द्रजी द्वारा निर्दिष्ट स्थान यही है। उसी क्षण वे वहाँ से उठे और पास जाकर देखते हैं कि एक सुन्दर शालग्राम शिला पर एक भुजंग अपना फन फैलाए डोल रहा है! उनकी आहट पाते ही सर्प कहीं अदृश्य हो गया! क्षुदिराम ने आगे बढ़कर वह शिला हाथ में ले ली और उसके चिह्नों को जो देखा तो वह यथार्थ में रघुवीर शिला थी! यह देखकर उनके आनन्द का पारावार नहीं रहा। उसके पश्चात् घर आकर उन्होंने उस शिला की प्राणप्रतिष्ठा की और उस समय से वे सदा उसकी पूजा करने लगे।

श्रीरामचन्द्रजी के सिवाय वे श्रीशीतला देवी की भी पूजा करते थे। एक के बाद एक उनके दुर्दिन समाप्त होने लगे और क्षुदिराम भी सब प्रकार के दुःख और कष्टों से उदासीन होकर सारा भार परमेश्वर को सौंप शान्त चित्त से धर्ममार्ग में अपने दिन बिताने लगे। घर में किसी किसी दिन मुट्ठी भर अन्न भी नहीं रहता था। साध्वी चन्द्रादेवी यह बात अति दुःखित हृदय से अपने पति से निवेदन किया करती थीं। इसे सुनकर क्षुदिराम लेशमात्र विचलित नहीं होते थे और अपनी पत्नी को यह आश्वासन देते थे कि कोई हर्ज नहीं, यदि श्रीरामचन्द्रजी को ही आज उपवास करना है, तो हम लोग भी उनके साथ उपवास करेंगे। सरलहृदय चन्द्रादेवी भी अपने पति के समान ईश्वर पर भार समर्पण करके अपने गृहकार्य में लग जाती थीं और चमत्कार ऐसा होता था कि उस दिन का संकट किसी न किसी तरह दूर होता ही था।

परन्तु इस प्रकार के कठिन संकट क्षुदिराम को अधिक दिनों तक नहीं भोगने पड़े। श्रीयुत सुखलालजी ने इन्हें जो डेढ़ बीघा जमीन दी थी उसी में शीघ्र ही इनके छोटे से परिवार के निर्वाह और अतिथि-अभ्यागतों की सेवा के लिए पर्याप्त अन्न पैदा होने लगा। वे कृषकों को अपनी जमीन पत्तीदारी पर दे देते थे और बोनी के समय श्रीरामचन्द्र का नाम लेकर पहले स्वयं कुछ मुट्ठी धान बो देते थे। तत्पश्चात् शेष काम को और लोग किया करते थे। इस प्रकार २-३ वर्ष बीत गये और क्षुदिराम के परिवार का निर्वाह मोटे अन्न-वस्त्र से किसी तरह चलने लगा। पर इन दो-तीन वर्षों में उनके हृदय में शान्ति, सन्तोष और ईश्वरनिर्भरता जैसी दृढ़ हुई, वैसी विरलों के ही भाग्य में होती है। मन निरन्तर

अन्तर्मुख रहने के कारण उन्हें बीच बीच में दिव्य दर्शन होने लगे ! रोज प्रात:सायं संध्या करते समय गायत्री का ध्यान करते करते वे ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उनका वक्ष:स्थल आरक्त हो जाता था और मूँदे हुए नेत्रों से अविरल प्रेमाश्रुधारा बहने लग जाती थी। प्रभात समय हाथ में टोकनी लेकर पूजा के लिए फूल तोड़ते समय उन्हें ऐसा दिखता था कि उनकी आराध्य श्रीशीतला देवी अष्ट-वर्षीय कन्या का रूप लेकर रक्तवस्त्र परिधान किये हुए और अनेक प्रकार के अलंकार पहने हँसती हँसती उनके साथ आ रही हों और फूलों के पेड़ों की डालियों को झुकाकर उन्हें फूल तोड़ने में सहायता दे रही हों। इसी प्रकार और अन्य दिव्य दर्शनों से उनका हृदय सदा उत्साहपूर्ण रहा करता था और अन्त:करण के दृढ़ विश्वास तथा भक्ति के प्रकाश के मुख पर प्रकट होने से उनका चेहरा सदा तेजस्वी दिखायी देता था। उनकी धीर गम्भीर प्रशान्त और तेजस्वी मुद्रा को देखकर ग्रामवासियों के मन में उनके प्रति धीरे धीरे बहुत भक्ति और श्रद्धा होने लगी और वे लोग ऋषि के समान उनका आदर करने लगे। वे जब रास्ते से जाते थे तो ग्रामवासी अपनी बातें बन्द कर देते थे और बड़े आदर से उठकर उनका सम्मान करते थे। तालाब में जब वे स्नान करते रहते, तब उनका स्नान समाप्त होने तक कोई दूसरा मनुष्य तालाब में नहीं उतरता था। उनका आशीर्वाद कभी विफल नहीं हो सकता है, इस दृढ़ भावना से ग्रामवासी अपने सुख-दु:ख के प्रसंगों में उनसे आशीर्वाद लेते थे।

श्रीमती चन्द्रादेवी स्नेह और सरलता की मूर्ति थीं। उनकी अलौकिक दया और प्रेम से मुग्ध होकर ग्रामवासी माता के समान उनका आदर करते थे। संकट के समय उन्हें उनसे सहानुभूति

और यथाशक्ति सहायता अवश्य मिला करती थी। गरीबों को पूर्ण निश्चय था कि चन्द्रादेवी के पास जाने से मुट्ठी भर भिक्षा तो मिलेगी ही, पर उनके स्नेहपूर्ण व दयामय दर्शन से अन्तरात्मा को शान्ति भी मिलेगी। उनके घर का दरवाजा हमारे लिए सदा खुला है यह बात साधु, संन्यासी तथा फकीर लोगों को मालूम थी। पड़ोस के बालक भी जानते थे कि चन्द्रादेवी के पास हठ करने से उनकी माँग अवश्य पूर्ण होगी। इस तरह गाँव के बाल, वृद्ध, स्त्री, पुरुष सभी क्षुदिराम की पर्णकुटी में सदा आया जाया करते थे और वह छोटी सी पर्णकुटी एक प्रकार की अपूर्व शान्ति से सदा पूर्ण रहा करती थी।

हम कह चुके हैं कि क्षुदिराम की रामलीला नाम की एक बहिन और निधिराम, कनाईराम (रामकनाई) नाम के दो छोटे भाई थे। देरे ग्राम का सर्वस्व नष्ट होने के समय रामलीला ३५ वर्ष की और भाई लोग ३० तथा २५ वर्ष के थे। पश्चिम में छः कोस पर छिलीमपुर में भागवत वंद्योपाध्याय के साथ रामलीला का विवाह हुआ था और उसे रामचांद नाम का एक पुत्र और हेमांगिनी नाम की एक पुत्री उत्पन्न हुई थी। क्षुदिराम के संकट के समय इन बच्चों की उम्र क्रमशः २१ और १६ वर्ष की थी। श्रीयुत रामचांद मेदिनीपुर में वकालत करने लगे थे। हेमांगिनी का जन्म देरे ग्राम में अपने मामा के ही घर में हुआ था। मामा के घर के सब लोग उस पर बड़ा प्रेम करते थे और विवाहयोग्य होने पर उन्होंने ही स्वयं उसका विवाह कामारपुकुर के वायव्य में २५ कोस पर शिहड़ ग्राम में श्रीकृष्णचन्द्र मुकर्जी के साथ कर दिया। बाद में हेमांगिनी के चार पुत्र--राघव, रामरतन, हृदयराम और राजाराम--हुए।

क्षुदिराम के भाई निधिराम की सन्तान का पता नहीं लगता। सबसे कनिष्ठ रामकनाई को रामतारक उर्फ हलधारी और कालिदास, दो पुत्र हुए। रामकनाई भक्तिमान और भावुक हृदय के थे। एक बार किसी मण्डली में रामचरित नाटक हो रहा था। उसे वह देख रहा था। राम के वनवास प्रसंग को देखते देखते वह इतना तन्मय हो गया कि सभी घटना यथार्थ है, इस भावना से राम को वनवास भेजने के लिए षड्यन्त्र करने वाली कैकेयी का वेश धारण करने वाले पात्र को मारने के लिए वह रंगभूमि पर जा चढ़ा।

रामशीला के पुत्र रामचान्द मेदिनीपुर में वकालत करने लगे थे। उन्हें अपने रोजगार में धीरे धीरे अच्छी कमाई होने लगी। अपने मामा के संकट को देखकर वे प्रतिमास १५) क्षुदिराम को और निधिराम तथा कनाईराम प्रत्येक को १०) मासिक भेजने लगे। समय समय पर अपने भानजे का समाचार न मिलने से क्षुदिराम को चैन नहीं पड़ती थी और उसका कुशल समाचार जानने के लिए क्षुदिराम मेदिनीपुर चले जाते थे और २-४ दिन वहाँ रहकर कामारपुकुर वापस आ जाते थे। इसी तरह एक बार मेदिनीपुर जाते समय एक घटना हुई जिससे क्षुदिराम का अन्तःकरण कितना भक्तिपूर्ण था, इस बात का पता लगता है। मेदिनीपुर कामारपुकुर के नैऋत्य में ४० मील पर है। बहुत दिनों से रामचान्द का समाचार न मिलने के कारण क्षुदिराम को बड़ी चिन्ता थी और वे मेदिनीपुर जाने के लिए घर से निकले। माघ-फाल्गुन का महीना होगा। इस समय बेल के वृक्षों के सब पत्ते झड़ जाते हैं और नये पत्ते निकलते तक महादेव को चढ़ाने के लिए लोगों को बेलपत्र बड़ी कठिनाई से मिलता है। घर से

निकलने के पूर्व कुछ दिनों तक यही कठिनाई क्षुदिराम को भी हुई थी.।

क्षुदिराम बड़े तड़के ही रवाना हुए और १५-१६ मील चलकर एक गाँव में पहुँचे। वहाँ बिल्ववृक्ष पर हाल ही में पत्ते निकले थे। उन्हें देखकर उनको बड़ा आनन्द हुआ। मेदिनीपुर जाने की बात भूलकर वे उस गांव में गये और टोकनी और वस्त्र खरीद लाये। टोकनी को धोकर उसमें नये कोमल कोमल बिल्वपत्रों को रखकर उस पर गीला कपड़ा ढाँक दिया और पुनः कामारपुकुर की राह पकड़ी। दोपहर को दो बजे वे अपने घर पहुँचे और स्नान करके उन्होंने उन बिल्वपत्रों से बड़े आनन्द और भक्ति के साथ श्रीमहादेव और श्रीशीतला देवी की पूजा की। तत्पश्चात् भोजन करने बैठे। अवसर पाकर चन्द्रादेवी ने क्षुदिराम से मेदिनीपुर न जाकर वापस लौट आने का कारण पूछा और नये नये बिल्वपत्रों से देवार्चन करने के लोभ में पड़कर वे गांव जाना भूल गये, ऐसा जानकर उन्हें बड़ा अचरज हुआ। दूसरे दिन तड़के उठकर क्षुदिराम पुनः मेदिनीपुर के लिए रवाना हुए। अस्तु--

कामारपुकुर आये क्षुदिराम को छः वर्ष हो चुके थे (१८२०)। रामकुमार और कात्यायनी क्रमशः १५ और १० वर्ष के हो चुके थे। उनकी आयु विवाह योग्य हुई देखकर क्षुदिराम ने कामारपुकुर के वायव्य में एक कोस पर आनूर गांव के केनाराम वंद्योपाध्याय से कात्यायनी का विवाह कर दिया और केनाराम की बहिन से रामकुमार का विवाह कर लिया। पास की ही एक पाठशाला में रामकुमार का साहित्यशास्त्र और व्याकरण का अभ्यास हुआ था और अब वह स्मृतिशास्त्र का अध्ययन कर रहा था।

तीन-चार वर्ष और बीत गये। इस अवधि में श्रीरामचन्द्रजी

की कृपा से क्षुदिराम की संसारयात्रा ठीक चल रही थी। रामकुमार का अध्ययन समाप्त हो गया और वह भी यथाशक्ति द्रव्य उपार्जन करके अपने पिता को संसार चलाने में सहायता देने लगा। क्षुदिराम भी निश्चिन्त मन से ईश्वर की आराधना में अधिक समय बिताने लगे। इसी अवसर पर क्षुदिराम के आश्रयदाता सुखलाल गोस्वामी का स्वर्गवास हो गया। उनकी मृत्यु से क्षुदिराम को बड़ा दुःख हुआ।

रामकुमार बड़ा हो गया और संसार का भार ग्रहण करने योग्य बन गया। इससे क्षुदिराम को अन्य बातों की ओर ध्यान देने का अवसर मिला। उन्हें तीर्थयात्रा की इच्छा उत्पन्न हुई और इस समय उन्होंने दक्षिण के बहुतेरे तीर्थों की यात्रा की और सेतु-बन्ध रामेश्वर से एक बाणलिङ्ग लाकर उन्होंने अपने पूजागृह में रखा। यह बाणलिङ्ग कामारपुकुर में क्षुदिराम के घर में अब भी वर्तमान है। तीर्थयात्रा से लौटने के लगभग दो वर्ष बाद बहुत वर्षों में चन्द्रादेवी को एक पुत्र हुआ (१८२६)। रामेश्वर की यात्रा से लौटने के बाद यह पुत्र हुआ, इस कारण क्षुदिराम ने इसका नाम रामेश्वर रखा।

तत्पश्चात् आठ वर्ष और बीत गये। रामकुमार पुराण बाँचकर तथा शान्ति-स्वस्त्ययन आदि कर्म द्वारा अपने पिता को संसार निर्वाह में सहायता करने लगा था। अतः अब पूर्ववत् क्षुदिराम को सांसारिक कष्ट नहीं रहा। शान्ति-स्वस्त्ययन आदि कर्मों में रामकुमार निपुण हो गया था और ऐसा कहा जाता है कि इन कर्मों में उसे दैवी शक्ति प्राप्त हो चुकी थी। शास्त्रों के अध्ययन से उसे शक्ति की उपासना में बड़ी श्रद्धा हो गयी थी और उसने एक गुरु से देवीमन्त्र की दीक्षा भी ली थी। अपने इष्टदेव की

पूजा करते समय एक दिन उसे एक अद्भुत दर्शन हुआ। उसे ज्योतिषशास्त्र में सिद्धि प्राप्त करने के लिए साक्षात् देवी ही उसके जिह्वाग्र पर एक मन्त्र अपनी उंगली से लिख रही है, ऐसा दर्शन उसे हुआ ! उस दिन से रोगी को देखते ही उसे आराम होगा या नहीं, इसकी जानकारी रामकुमार को होने लगी और रोगियों के बारे में वह जो कुछ कहता, वह सच निकलता था। एक बार एक गृहस्थ अपनी पत्नी के साथ नदी में नहाने आये थे। रामकुमार भी नदी पर था। उस स्त्री के मुँह की ओर दृष्टि जाते ही रामकुमार जान गया कि यह स्त्री कल मरने वाली है और यह बात उसने उसके पति से भी बता दी। स्त्री निरोगी थी; अत: उसके पति को यह बात झूठ जँची, परन्तु सचमुच ही वह स्त्री दूसरे दिन अचानक मर गयी ! रामकुमार को अपनी स्त्री का भी मरणकाल मालूम हो गया था। प्रसव करते ही वह मर जायेगी, यह उसे विदित था और हुआ भी वैसा ही।

सन् १८३५ ई० में क्षुदिराम को पुन: तीर्थयात्रा करने की इच्छा हुई। उस समय उनकी आयु ६० वर्ष की हो गयी थी, तब भी उन्होंने गया पैदल जाने का विचार किया। तीर्थयात्रा के सम्बन्ध में हृदय ने हमें * बताया कि कात्यायनी बीमार थी और उसे देखने के लिए क्षुदिराम आनुर गांव आये। अपनी कन्या को लगातार बकते और हाथपैर पटकते देखकर वे जान गये कि इसे भूतबाधा हो गयी है। उन्होंने श्रीभगवान् का स्मरण करके कहा, "तू भूत

---

*इस चरित्र में स्थान स्थान पर 'हम बोले', 'हमें उन्होंने बताया' आदि वाक्यों में 'हम' शब्द मूल बंगला ग्रन्थकार (स्वामी सारदानन्दजी) है। 'हम' शब्द का उपयोग उन्होंने 'श्रीरामकृष्ण के शिष्यों' के लिए है।

हो या कोई भी हो, मेरी लड़की को छोड़कर चला जा।" उस भूत ने कहा, "तुम यदि गया में पिण्डदान करोगे तो मैं इस योनि से मुक्त हो जाऊँगा। इसलिए जब तुम गया जाने के लिए रवाना होगे उसी समय मैं भी तुम्हारी लड़की को छोड़ दूँगा।" इससे क्षुदिराम ने गयायात्रा का निश्चय किया। कारण चाहे जो हो, इस साल क्षुदिराम ने गया की यात्रा की, यह निश्चित है।

जब क्षुदिराम गया पहुँचे तब चैत का महीना था। चैत में ही गया में पिण्डदान देने की शास्त्राज्ञा होने के कारण वे चैत में गये होंगे। एक मास वहाँ रहकर शास्त्रोक्त विधि से सब कर्म करने के बाद अन्त में श्री गदाधर के चरणों में पिण्डदान दिया। यथाशास्त्र क्रिया करके पितृऋण से वे आज मुक्त हुए, इस भावना से उन्हें बड़ा सन्तोष हुआ और ईश्वर ने अपने समान नगण्य मनुष्य से अपनी यथोचित सेवा करा ली, यह विचार मन में आने से उनका अन्तःकरण कृतज्ञता, नम्रता और प्रेम से पूर्ण हो गया। दिन की तो बात छोड़िये, पर रात को सोते हुए भी यही विचार उनके मन में घूमने लगा। एक रात को उन्हें स्वप्न हुआ। उन्हें ऐसा दिखा कि मैं श्रीगदाधर के चरणों में पिण्डदान कर रहा हूँ और मेरे सब पितर दिव्य देह धारण करके उस पिण्ड को बड़े आनन्द से ग्रहण करते हुए मुझे अपना आशीर्वाद दे रहे हैं! उनके दर्शन से आनन्दित होकर मैं गद्गद हो पितरों को बारम्बार प्रणाम कर रहा हूँ। इतने में ऐसा दिखा कि एक अपूर्व ज्योति से मन्दिर पूर्ण हो गया और मेरे सब पितर एक सिंहासन के किनारे से दो कतारों में गम्भीरतापूर्वक खड़े होकर उस सिंहासन पर बैठे हुए एक अद्भुत पुरुष की स्तुति हाथ जोड़कर कर रहे हैं! इतने में वह दिव्य, तेजस्वी श्यामसुन्दर पुरुष

स्नेहपूर्ण दृष्टि से हँसते हँसते मेरी ओर देखते हैं और अपने समीप मुझको इशारे से बुला रहे हैं--ऐसा प्रतीत हुआ । क्षुदिराम किसी यन्त्र के समान खिंचे जाकर उनके सामने खड़े हुए और भक्तियुक्त अन्तःकरण से उन पुरुष को साष्टाङ्ग प्रणाम करके गद्‌गद चित्त से उनकी नाना प्रकार से स्तुति करने लगे । वह दिव्य पुरुष उनकी स्तुति से सन्तुष्ट होकर मेघवत् गम्भीर तथा मधुर वाणी से उनसे बोले, "क्षुदिराम ! मैं तेरी भक्ति से अत्यन्त सन्तुष्ट हो गया हूँ, मैं तेरे घर पुत्ररूप से अवतार लेकर तेरी सेवा ग्रहण करूँगा ।"

इतने में नींद उचट गयी । मैं कहाँ हूँ यही उनकी समझ में ठीक ठीक नहीं आया । धीरे धीरे उन्हें सब बातों की याद आयी और परमेश्वर का नामस्मरण करते करते वे उठकर बैठ गये ! स्वप्न के विषय में उनके मन में तरह तरह के विचार उठने लगे । अन्त में उनके श्रद्धालु हृदय में यह निश्चय हुआ कि देवस्वप्न कभी मिथ्या नहीं होता । मेरे द्वारा किसी महापुरुष का जन्म होने वाला है और इतनी वृद्धावस्था में भी पुत्रमुखावलोकन का सुख मिलेगा, यह उन्हें निश्चय हो गया । अन्त में उन्होंने यह निश्चय किया कि इस अद्‌भुत स्वप्न का फल जब तक प्रत्यक्ष न दिखायी दे, तब तक इस स्वप्न का वृत्तान्त किसी से नहीं कहूँगा । तदुपरान्त गया में कुछ दिन और बिताकर क्षुदिराम वैशाख मास में कामारपुकुर लौट आये ।

---

४. चन्द्रादेवी के विचित्र अनुभव

"मेरी माता सरलता की मूर्ति थी। संसार की मामूली मामूली बातें वह नहीं समझती थी ! उन्हें पैसे गिनना भी ठीक ठीक नहीं आता था ! कौनसी बात दूसरों को बताना और कौनसी बात नहीं बताना यह भी वह नहीं जानती थी। इस कारण लोग उन्हें 'भोली' कहा करते थे ।"

—श्रीरामकृष्ण

जगदुद्धारक महापुरुषों के जन्म होने के समय उनके मातापिता को अलौकिक आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त हुआ करते हैं और उन्हें दिव्य दर्शन भी हुआ करते हैं, यह बात संसार के सभी धर्मग्रन्थों में पायी जाती है । भगवान् श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्णचन्द्र, ईसा, बुद्ध, शंकराचार्य, चैतन्य महाप्रभु इत्यादि जिन अवतारी पुरुषों की संसार अद्यापि पूजा कर रहा है उनके मातापिता के सम्बन्ध में उक्त बातें ग्रन्थों में वर्णित हैं । उच्च प्रकृतिसम्पन्न मातापिता से ही उदार चरित्र वाले पुरुषों की उत्पत्ति होती है, यह सिद्धान्त आधुनिक ग्रन्थों में बताया जाता है, तो श्रीकृष्ण, बुद्ध, ईसा जैसे महापुरुषों के मातापिता विशेष सद्गुणसम्पन्न रहे ही होंगे यह मानना पड़ता है । इन महापुरुषों के जन्मकाल में इनके मातापिता के मन साधारण मनुष्यों की अपेक्षा कितनी उच्च भूमिका में अवस्थित रहे होंगे और एतदर्थ उन्हें उस समय दिव्य दर्शन तथा अनुभव भी प्राप्त हुए होंगे, यह बात भी माननी पड़ती है ।

यद्यपि पुराणोक्त बातें युक्तिसंगत हों तथापि संशयी मन का पूर्ण विश्वास उन पर नहीं होता, कारण यह है कि अपने स्वयं अनुभव किये हुए विषयों पर ही मन विश्वास करता है और इसी कारण अपरोक्षानुभूति होने के पूर्व ईश्वर, आत्मा, मुक्ति, परलोक इत्यादि इन्द्रियातीत विषयों पर उसका पूर्ण विश्वास कभी नहीं रहता। इतना होते हुए भी किसी बात को अलौकिक या असाधारण होने के ही कारण निरपेक्ष विचारवान पुरुष त्याज्य नहीं मानते, वरन् उस सम्बन्ध के दोनों पक्षों का विचार करके सत्यासत्य का निर्णय करते हैं। अस्तु--

हमारे चरित्रनायक के जन्म के समय उनके माता-पिता को अनेक दिव्य दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए। हमें यह बात ऐसे लोगों ने बतायी है जिन पर अविश्वास करना असम्भव है, इस कारण हमने ये बातें जैसी सुनीं उनका वैसा ही वर्णन कर देना अपना कर्तव्य समझा। क्षुदिराम के सम्बन्ध में कुछ बातें गत प्रकरण में बतायी गयी हैं, अब चन्द्रादेवी की बातों का यहाँ उल्लेख किया जाता है।

क्षुदिराम को गया से लौटने के कुछ दिनों बाद अपनी पत्नी के स्वभाव में अद्भुत परिवर्तन दिखायी दिया और मानवी चन्द्रा यथार्थतः देवी के समान दिखने लगीं। उनका हृदय भूतमात्र के प्रेम से पूर्ण हो गया तथा उनका मन इस वासनामय संसार के झंझटों से निकलकर सदा उच्च अवस्था में रहने लगा। उन्हें अपनी गृहस्थी की अपेक्षा आसपास के गरीब लोगों की गृहस्थी की ही चिन्ता अधिक रहती थी। अपने घर के कार्य करते करते बीच में ही अपनी पड़ोसिनियों के यहाँ जाकर उनकी आवश्यकताओं के विषय में पूछा करती थीं और अपने घर से ले

जाकर उन्हें चीजें दे आया करती थीं। घर के सब लोगों के खा पी लेने के बाद, तृतीय प्रहर में स्वयं खाने के लिए बैठने के पूर्व, पुनः एक बार सब के घरों में जाकर यह देख आती थीं कि उन लोगों का भोजन हुआ है या नहीं और यदि किसी दिन कोई बिना खाये रहता था, तो उसे बड़े आनन्द से अपने घर ले जाकर भोजन कराती थीं तथा स्वयं थोड़े से जलपान पर ही वह दिन बिता देती थीं !

पड़ोस के बच्चे चन्द्रादेवी को अपने ही बच्चों के समान मालूम होते थे। क्षुदिराम को ऐसा दिखने लगा कि उनकी पत्नी के हृदय का वात्सल्यभाव अब देवी-देवताओं की ओर प्रवृत्त हो रहा है। उन्हें ऐसा मालूम होता था कि श्रीरामचन्द्रजी मेरे पुत्र हैं ! इतने दिनों तक तो सब देवताओं की पूजा के समय उनका हृदय श्रद्धा-युक्त भय से पूर्ण रहा करता था, पर अब तो इस पुत्रप्रेम के सामने भय न मालूम कहाँ भाग गया ! उनके मन में अब देवताओं का भय नहीं रहा, संकोच नहीं रहा और उनसे छिपाने लायक कोई बात भी नहीं रही। उनसे माँगने लायक भी कोई विषय नहीं रहा। हाँ, एक बात अवश्य थी। उनके मन में देवादि पर प्राणाधिक प्रेम, उन्हें सुखी करने के लिए प्राणों तक की आहुति देने की इच्छा तथा उनकी संगति सदैव प्राप्त करने की उत्कट अभिलाषा मात्र से उनका मन पूर्ण था।

क्षुदिराम को शीघ्र ही विदित होने लगा कि इस प्रकार निः-संकोच देवभक्ति द्वारा और भगवान् पर ही अपना सर्व भार सौंपने के कारण परम उल्लास होने से उनकी पत्नी का स्वभाव बहुत उदार हो गया है और सभी पर वह एक समान विश्वास करने लगी हैं तथा सभी को वह अपना आत्मीय समझ रही हैं।

सरल स्वभाव वाली चन्द्रादेवी कोई बात या विचार भी अपने पति से कभी गुप्त नहीं रखती थीं। अपनी बराबरी की स्त्रियों से भी बातें करते समय अपने मन की बात वह प्रकट कर दिया करती थीं, तो पति के विषय में कहना ही क्या !

क्षुदिराम के गया चले जाने के बाद उनकी अनुपस्थिति में घर में क्या क्या हुआ यह बात चन्द्रादेवी अपने पति से यथावकाश बताया करती थीं। इसी तरह एक दिन उन्होंने क्षुदिराम से कहा, "आप गया चले गये थे, तब एक रात्रि को मुझे एक अद्‌भुत स्वप्न दिखा; एक दिव्य पुरुष मेरी शय्या पर सोया हुआ दिखा ! मैंने ऐसा रूप किसी का नहीं देखा था; इतने में ही मेरी नींद खुल गयी और देखती हूँ तो वह पुरुष अभी भी शय्या पर है ! यह देखकर मुझे बड़ा डर लगा और कोई पुरुष मौका साधकर घर में प्रवेश कर गया होगा ऐसा सोचकर दीपक जला कर देखती हूँ तो कहीं कुछ नहीं ! किवाड़ ज्यों के त्यों ! कुण्डी भी लगी हुई थी ! इसके बाद रात भर डर के मारे नींद नहीं आयी ! प्रातःकाल होते ही धनी लोहारिन और धर्मदास लाहा की बहिन को बुलवाया और उन्हें रात की बात बताकर पूछा, "क्यों तुम्हारे विचार में यह घटना कैसी मालूम पड़ती है ? क्या सचमुच मेरे घर में कोई घुसा होगा ? परन्तु मेरा किसी से लड़ाई झगड़ा तो नहीं है। हाँ, मधुयुगी से उस दिन कुछ बातचीत हो गयी थी, पर उतने पर से क्या वह द्वेष रखकर मेरे घर में घुसा होगा ?" उन दोनों ने मेरी दिल्लगी की और वे कहने लगीं, 'तुम बुढ़ापे में पागल हो चली हो ! स्वप्न देखकर ऐसे डरने की कौन सी बात है ? दूसरे सुनेंगे तो क्या कहेंगे ? गांव भर में तुम्हारे विषय में किम्वदन्ती फैल जायगी। अब जरा इतनी होशियारी करो कि यह बात पुनः किसी

से न कहो।' उनकी बातें सुनकर मुझे विश्वास हुआ कि वह स्वप्न ही था और मैंने यह बात किसी से न कहने का निश्चय कर लिया।

"और एक दिन धनी के साथ बातें करती हुई मैं अपने घर के सामने के शिवमन्दिर के आगे खड़ी थी। इतने में ऐसा दिखा कि महादेव के शरीर से एक दिव्य ज्योति बाहर निकलकर सारे मन्दिर भर में फैल गयी है और वायु के समान तरंगाकार होकर मेरी ओर वेग से आ रही है! आश्चर्यचकित होकर मैं धनी को दिखा रही थी कि वह ज्योति मेरे पास आयी और मेरे शरीर में प्रविष्ट हो गयी! भय और विस्मय से मैं एकदम मूर्छित होकर धरती पर गिर पड़ी। धनी ने सिर पर पानी इत्यादि सींच कर मुझे सावधान किया तब मैंने सब बातें उसे बतलायीं। उसे भी बड़ा अचम्भा हुआ और वह बोली, 'तुझे वात हो गया है!' पर उस दिन से मुझे मालूम होता है कि वह ज्योति मेरे उदर में समा गयी है और मेरे उदर में गर्भसंचार हो गया है। यह बात भी मैंने धनी और प्रसन्न को बता दी और उन्होंने मुझे 'पागल! मूर्ख' कहकर एक दो नहीं सैकड़ों अपशब्द कहे और तुझे भ्रम के सिवाय और कुछ नहीं हुआ है, तुझे वायुगुल्म हो गया है इत्यादि अनेक बातें कहकर 'यह बात किसी से कहना नहीं' ऐसा चेताया! उनकी बातें छोड़ो! आप क्या समझते हैं? मुझे रोग हो गया है या देव की कृपा मुझ पर हुई है? मुझे तो अभी तक यही मालूम होता है कि मेरे उदर में गर्भसंचार हो गया है!"

क्षुदिराम ने सारी हकीकत सुन ली और उन्हें भी अपने स्वप्न का स्मरण हुआ। फिर उन्होंने अपनी पत्नी को तरह तरह से समझाया, "यह रोग नहीं है! तुझ पर देव की कृपा हुई है! परन्तु इसके बाद यदि तुझे इस तरह का कुछ दिखे तो मेरे सिवाय किसी

दूसरे से कुछ नहीं बताना। श्रीरघुवीर कृपा करके जो भी दिखायें उसमें अपना कल्याण होगा, ऐसा ध्यान रखना। गया में रहते समय मुझे भी भगवान् ने दिखाया था कि हमें शीघ्र ही पुत्रमुख दिखेगा।"

इस आश्वासन से चन्द्रादेवी निश्चिन्त हो गयी। इसके बाद ३-४ मास बीत गये और सभी को दिखने लगा कि क्षुदिराम की पत्नी ४५ वर्ष की अवस्था में सचमुच पुनः गर्भवती हुई! गर्भिणी स्त्रियों का रूप लावण्य बहुत बढ़ जाता है। चन्द्रादेवी का भी वैसा ही हुआ। धनी इत्यादि उनकी पड़ोसिनें कहा करती थीं कि इस समय चन्द्रादेवी के शरीर में असामान्य तेज बढ़ गया है और कोई कोई स्त्रियाँ तो यह कहने लगीं, "बुढ़ापे में गर्भवती होकर इसके शरीर में इतना तेज आना अच्छा चिह्न नहीं है। मालूम होता है कि प्रसूत होने पर यह बुढ़िया मर जायगी!"

गर्भावस्था में चन्द्रादेवी को दिव्य दर्शन तथा अनुभव और अधिक होने लगे। कहते हैं कि उन्हें प्रायः प्रतिदिन देवीदेवताओं के दर्शन होते थे! कभी उन्हें ऐसा मालूम होता था कि उनके शरीर की सुगन्ध घर भर में फैल गयी है! कभी मालूम होता था कि देवता उनसे बोल रहे हैं! देवी-देवताओं पर उनका अपत्यवत् प्रेम इस समय बहुत गढ़ गया था। उन्हें जो कुछ दिखता या सुन पड़ता उसे वह अपने पति से बताया करती थीं और पूछती थीं, "मुझे ऐसा क्यों होता है?" क्षुदिराम उन्हें तरह तरह से समझाते थे और उनसे कहा करते थे कि शंका की कोई बात नहीं है। इस तरह रोज होने लगा। एक दिन चन्द्रादेवी भयभीत होकर अपने पति से बोलीं, "शिव मन्दिर की ज्योति के दर्शन के समय से बीच बीच में मुझे इतने देव-देवियों के दर्शन होते हैं कि मैं बता नहीं

सकती। इनमें से कितने ही देवों को तो मैंने चित्र में भी कभी नहीं देखा है! आज ही दोपहर की बात है—ऐसा दिखा कि कोई एक हंस पर बैठकर आ रहा है; उसे देखकर मुझे डर लगा। पर धूप से उसका मुँह लाल हुआ देख मुझे दया आ गयी और मैं उसे पुकार कर बोली, 'अरे बिचारे हंस पर बैठने वाले देव! धूप की गर्मी से तेरा मुँह कितना झुलस गया है! घर में कुछ दलिया है, क्या मैं तुझे ला दूँ? उसे पीकर थोड़ा शान्त हो जा!' यह सुनकर वह हँसा और अकस्मात् वायु में मिलकर अदृश्य हो गया। ऐसे एक दो नहीं कितने देवताओं की बातें बताऊँ? ये देव मुझे पूजा या ध्यान करने से ही दिखायी देते हैं ऐसा नहीं है, पर किसी भी समय वे दिख जाते हैं। कभी कभी वे मनुष्यरूप लेकर आते हैं और मेरे समीप आकर अदृश्य हो जाते हैं। इस तरह के ये रूप भला मुझे क्यों दीखते हैं? मुझे कुछ रोग तो नहीं हो गया है? भूतबाधा तो नहीं हुई है?"

क्षुदिराम ने पुनः अनेक प्रकार की बातें बताकर उनको सान्त्वना दी और समझाया कि तेरे उदर में बसनेवाले महापुरुष के पवित्र स्पर्श से ही तुझे ये सब रूप दीखते हैं।

इस प्रकार दिन बीतने लगे और यह गरीब ब्राह्मण दम्पति ईश्वर पर सर्व भार सौंपकर पुत्ररूप से अपने यहाँ जन्म लेनेवाले महापुरुष के आगमन की उत्सुक चित्त से प्रतीक्षा करता हुआ अपने दिन बिताने लगा।

५. श्रीरामकृष्ण का जन्म

"मेरे पिता गया गये हुए थे। वहाँ श्रीरामचन्द्रजी ने स्वप्न में प्रकट होकर उनसे कहा कि मैं तुम्हारा पुत्र होऊँगा।"

——श्रीरामकृष्ण

शरद, हेमन्त और शिशिर बीत गये। ऋतुराज वसन्त का आगमन हुआ। शीत और ग्रीष्म ऋतुओं का सुखप्रद संमिश्रण मधुमय फाल्गुन मास समस्त स्थावर-जंगम संसार में नवीन प्राणों का संचार कर रहा था। उस मास के छः दिवस बीत चुके थे। सभी प्राणियों में विशेष आनन्द और उल्लास दिखायी दे रहा था। शास्त्रों का कथन है कि ब्रह्मानन्द के केवल एक कण से सारे पदार्थ युक्त हुए हैं। इस दिव्य उज्ज्वल आनन्दकण की मात्रा कुछ अधिक हो जाने के कारण ही शायद संसार में इतना उल्लास उत्पन्न हो गया हो!

श्रीरामचन्द्रजी के नैवेद्य के लिए भोजन बनाते समय आसन्न-प्रसवा चन्द्रादेवी का मन आज दिव्य उत्साह से पूर्ण हो रहा था, पर शरीर में बहुत थकावट सी आ गयी थी। अचानक उनके मन में विचार आया कि यदि मैं इसी क्षण प्रसूत हो गयी तो श्रीरामजी के नैवेद्य का क्या होगा? घर में दूसरा कोई नहीं है। क्षुदिराम से अपना यह भय प्रकट करने पर उन्होंने कहा, "डरो नहीं——जिस महापुरुष का आगमन तुम्हारे उदर में हुआ है वह कभी भी इस

प्रकार श्रीरामचन्द्रजी की पूजा-सेवा में विघ्न डालते हुए संसार में प्रवेश नहीं करेगा, यह मेरा दृढ विश्वास है; अतः आज की चिन्ता मत करो। कल से मैं इसका दूसरा प्रबन्ध करूँगा। और धनी को तो आज से यहीं सोने के लिए मैंने तभी से कह रखा है।" इस प्रकार पति के आश्वासन से चन्द्रादेवी की शंका का समाधान हुआ और वह अपने गृहकार्यों में निमग्न हो गयीं।

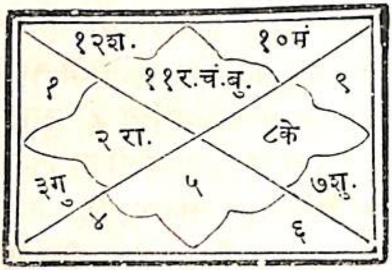
वह दिवस समाप्त हुआ। रात्रि आयी। धनी लुहारिन चन्द्रादेवी के पास ही सोयी थी। धीरे धीरे उषःकाल आया और चन्द्रादेवी को प्रसववेदना शुरू हुई। थोड़े ही समय में वह प्रसूत हुईं और उन्हें पुत्ररत्न प्राप्त हुआ। चन्द्रादेवी की तत्कालोचित सभी व्यवस्थाएँ करके धनी शिशु की ओर देखती है तो वह जिस स्थान में था वहाँ दिखायी ही न दिया! भयभीत हो उसने दीपक की बत्ती बढ़ाकर इधर उधर देखना शुरू किया तो बालक नाल समेत सरकते सरकते रसोई के चूल्हे के पास जाकर पड़ा है और उसके शरीर में राख ही राख लिपट गयी है! धनी दौड़ गयी और जल्दी से उसने बालक को उठा लिया। उसके शरीर पर से राख को पोंछकर देखती है तो वह शिशु रूप में अत्यन्त सुन्दर है और डीलडौल में छः मास के बालक के समान बड़ा है! धनी को बड़ा अचरज हुआ और उसने पड़ोसी लाहाबाबू के घर की प्रसन्न आदि स्त्रियों को बुलाकर उस शिशु को उन्हें दिखाया और सब वृत्तान्त बतला दिया।

इस प्रकार शान्त और पवित्र ब्राह्म मुहूर्त में क्षुदिराम की छोटीसी पर्णकुटी में इस अलौकिक महापुरुष का जन्म हुआ (सन् १८३६)।

इसके पश्चात् क्षुदिराम ने ज्योतिषी से बालक की ग्रह-कुण्डली

के लिए कहा। शके १७५७ फाल्गुन शुक्ल द्वितीया बुधवार सन् १८३६ फरवरी ता. १७ को आधी घड़ी रात रहते बालक का जन्म हुआ। उस समय पूर्वाभाद्रपदा नक्षत्र का प्रथम चरण था। जन्मलग्न में रवि, चन्द्र और बुध थे और शुक्र, मंगल और शनि ये ग्रह उच्च स्थान में पड़े थे। उच्च ग्रहों पर गुरु की दृष्टि थी। जन्म कुंभलग्न के प्रथम नवांश में हुआ, सूर्योदय से इष्टकाल ५९ घटिका २८ पल था।

जन्मकुण्डली



जन्मराशि--कुम्भ

जन्मनक्षत्र--पूर्वाभाद्रपदा प्रथम चरण

जन्म काल या इष्ट काल } सूर्योदय से ५९ घ. २८ प.

जन्मलग्न--कुम्भ--प्रथम नवांश

शुभमस्तु।

इस जन्मलग्न का फल भृगुसंहिता में इस प्रकार लिखा है:--

धर्मस्थानाधिपे तुंगे धर्मस्थे तुंगखेचरे
गुरुणा दृष्टिसंयोगे लग्नेशे धर्मसंस्थिते।

केन्द्रस्थानगते सौम्ये गुरौ चैव तु कोणभे
स्थिरलग्ने यदा जन्म सम्प्रदायप्रभुर्हि सः ।
धर्मविन्माननीयस्तु पुण्यकर्मरतः सदा
देवमन्दिरवासी च बहुशिष्यसमन्वितः ।
महापुरुषसंज्ञोऽयं नारायणांशसम्भवः
सर्वत्र जनपूज्यश्च भविष्यति न संशयः ।

"ऐसा व्यक्ति धर्मवित्, माननीय और पुण्य कर्मों में रत होगा। वह नया धर्मसम्प्रदाय शुरू करेगा और उसे अवतारी पुरुष मानकर सर्वत्र उसकी पूजा होगी।"

गया का स्वप्न इस तरह सत्य होते देख क्षुदिराम को बड़ा आनन्द तथा आश्चर्य हुआ और उनका हृदय भक्ति तथा कृतज्ञता से पूर्ण हो गया। गया में गदाधर ने स्वप्न में कृपा की, उससे यह पुत्र हुआ; अतः क्षुदिराम ने इस बालक का नाम गदाधर रखा।

६. बालचरित्र और पितृवियोग

"हमारे पिता शूद्र से दान कभी नहीं लेते थे।"
"दिन भर वे जप-ध्यान-पूजा में ही निमग्न रहा करते थे।"
"गाँव वाले ऋषि के समान उनका आदर करते थे।"
—श्रीरामकृष्ण

पुराणों में लिखा है कि श्रीराम, श्रीकृष्ण इत्यादि अवतारी पुरुषों के मातापिता को उनके जन्म के पूर्व और पश्चात् अनेक दिव्य दर्शन प्राप्त होते थे। इस कारण अपने बालक के लिए हमें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं है, यह बात उन्हें पूर्ण रीति से विदित होते हुए भी सन्ततिप्रेम के वश होकर उनके लालन-पालन की उन्हें चिन्ता रहती ही थी! यही स्थिति क्षुदिराम और चन्द्रादेवी की भी हुई। पुत्र के मुख की ओर देखते ही उन्हें अपना स्वप्न और अन्य बातें विस्मृत हो जाती थीं और उसके रक्षण तथा पालन की चिन्ता आ घेरती थी। चन्द्रादेवी के पुत्र होने का समाचार मेदिनीपुर में रामचान्द को विदित हुआ और अपने मामा की साधारण स्थिति जानकर उन्होंने उस बालक के दूध पीने के लिए एक दुहती गाय तुरन्त कामारपुकुर को भेज दी। इसी प्रकार बालक के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं का प्रबन्ध किसी न किसी प्रकार से हो गया और एक के बाद एक दिन बीतने लगा।

इधर इस अद्भुत बालक की आकर्षक शक्ति दिनोंदिन बढ़ने

लगी और मातापिता का ही नहीं, वरन् पड़ोस के सभी लोगों का, विशेषकर स्त्रीसमाज का, वह बालक जीवनप्राण बन गया। स्त्रियों को जरा भी फुरसत मिलते ही वे चन्द्रादेवी के यहाँ चली आती थीं और आने का कारण पूछने से कहती थीं, "वह तुम्हारा लाड़ला यहाँ है न! इसके कारण आना ही पड़ता है!" आसपास के गाँवों से चन्द्रादेवी की रिश्तेदार स्त्रियाँ उनके घर बालक देखने के लिए बारम्बार आया करती थीं।

धीरे धीरे बालक पाँच महीने का हो गया और उसके अन्नप्राशन का दिन आया। क्षुदिराम ने निश्चय कर लिया था कि अन्नप्राशन के समय केवल शास्त्रोक्त विधि का पालन किया जायगा तथा श्रीरामचन्द्रजी के नैवेद्य से ही अन्नप्राशन कराया जायगा और केवल दो चार नजदीकी लोगों को ही भोजन के लिए निमन्त्रण दिया जायगा। पर हुई बात दूसरी ही। ग्राम की ब्राह्मण मण्डली ने आग्रह किया कि अन्नप्राशन के दिन हम सबको भोजन कराओ। यह सुनकर क्षुदिराम को चिन्ता हुई; परन्तु गाँव के जमींदार धर्मदास लाहा को यह बात मालूम होते ही उन्होंने इस कार्य के लिए क्षुदिराम को सहायता देने का वचन दिया और उनकी सहायता से क्षुदिराम ने गाँव के ब्राह्मण तथा अन्य लोगों को भी भोजन देकर कार्य समाप्त किया।

गदाधर जैसे जैसे बड़ा होने लगा, वैसे वैसे अपनी मधुर बाललीला से अपने मातापिता के हृदय को अधिकाधिक आनन्द देने लगा। पुत्रजन्म के पूर्व जो चन्द्रादेवी भूलकर भी देवताओं से एक भी सांसारिक वस्तु नहीं माँगती थीं वही चन्द्रादेवी अब रात-दिन अपने बालक के कल्याण के लिए देवताओं से वरयाचना करने लगीं! गदाधर ही अब उनके सब विचारों का विषय बन गया।

जब गदाधर ७-८ मास का था तब एक दिन प्रात:काल उसकी माता ने उसे दूध पिलाकर सुला दिया था और स्वयं गृहकाज में लग गयी। थोड़ी देर के बाद लौटकर देखती है तो बिस्तर में गदाधर नहीं है और उसकी जगह एक अपरिचित दीर्घकाय मनुष्य सोया हुआ है। यह देख चन्द्रादेवी डरकर चिल्लायी और अपने पति को बुलाने के लिए उस कमरे से दौड़ती हुई निकली। क्षुदिराम जल्दी जल्दी आये और दोनों उस कमरे में जाकर देखते हैं तो वहाँ कोई नहीं। गदाधर जैसे के तैसे सोया है! पर चन्द्रादेवी का भय इतने पर ही दूर नहीं हुआ। उन्होंने पति से कहा-- "तुम कुछ भी कहो, मैंने तो अपनी आँखों से उस पुरुष को देखा है। तुम किसी ब्राह्मण या पण्डित को बुलाकर शान्ति कराओ।" क्षुदिराम ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "डरो मत। इस बालक के सम्बन्ध में आज तक जो बहुतेरी विचित्र बातें हुई हैं उसी तरह की एक इसे भी समझो। विश्वास रखो कि यहाँ साक्षात् श्रीरामचन्द्रजी पूजाघर में विराजमान हैं। बालक का अनिष्ट कदापि नहीं हो सकता।"

पति के इस आश्वासन से चन्द्रादेवी को धीरज हुआ, पर उनका डर किसी तरह दूर न हो सका। उस दिन उन्होंने बालक के कल्याण के लिए न मालूम कितनी बार गद्गद हृदय से प्रार्थना की!

इस प्रकार ४-५ वर्ष बीत गये। इस अवसर में उल्लेखनीय बात केवल एक हुई और वह यह कि सन् १८३९ में चन्द्रादेवी को सर्वमंगला नाम की एक कन्या उत्पन्न हुई।

गदाधर की अलौकिक धारणाशक्ति और बुद्धिमत्ता का परिचय क्षुदिराम को धीरे धीरे होने लगा। जो बात वह बालक एक बार सुन लेता था वह उसे प्राय: मुखाग्र हो जाया करती थी। उससे

फिर वह बात पूछने से उसका अधिकांश भाग वह प्राय: ठीक ठीक कह देता था। क्षुदिराम ने यह भी देख लिया कि किसी किसी विषय की ओर उसकी स्वाभाविक रुचि है और किसी किसी विषय में वह स्वभावत: उदासीन है; फिर कुछ भी करो उसमें उसका जी नहीं लगता था। चाहे जो प्रयत्न करो, पहाड़े कहना उससे नहीं बनता था! तब क्षुदिराम ऐसा सोचते थे कि अभी जल्दी ही किस बात की है? थोड़ा बड़ा होने पर सीख लेगा। इस विचार से उसे पहाड़े सिखाने का क्रम उन्होंने बन्द कर दिया।

पर गदाधर दिनोंदिन अधिक उपद्रवी होने लगा। इस कारण उसे क्षुदिराम ने जल्दी ही पाठशाला में भरती करा दिया। गदाधर को भी समान उम्र वाले साथी मिलने के कारण आनन्द हुआ और धीरे धीरे उसके साथी और शिक्षक उससे अधिक प्रेम करने लगे।

पाठशाला गाँव के जमींदार लाहा बाबू के घर के सामने ही थी और उसका सारा खर्च वे ही देते थे। पाठशाला दो बार अर्थात् सबेरे और तीसरे प्रहर लगती थी। गदाधर जैसे छोटे बालकों की पढ़ाई दोनों समय नहीं होती थी, परन्तु हाजरी उन्हें जरूर देनी पड़ती थी; अत: पढ़ाई के बाद बाकी समय को वह कहीं आसपास खेल में बिताता था।

गदाधर के जन्म के पूर्व के स्वप्न पर से उसके भावी बड़प्पन की कल्पना सदैव मन में रहने के कारण——या उसका वैसा स्वभाव ही था इस कारण क्षुदिराम गदाधर से उसके उपद्रव या चापल्य के लिए कभी नाराज नहीं होते थे, फिर मारना तो दूर रहा। ऐसे प्रसंगों पर वे उसे केवल मृदु शब्दों द्वारा उपदेश दिया करते थे। आगे चलकर गदाधर का उपद्रव बढ़ने लगा। कभी कभी पाठशाला को न जाकर गदाधर अपने साथियों को लेकर गाँव के

बाहर खेलने लगता था, तो कभी भजन, नाटक इत्यादि में चला जाता था; पर पूछने पर सदा सत्य बोलता था। उसी प्रकार वह चपलता भी किया करता था, पर उससे वह किसी का कभी नुकसान नहीं करता था।

परन्तु गदाधर के सम्बन्ध में क्षुदिराम की विशेष चिन्ता का कारण दूसरा ही था। कोई काम क्यों किया जाय या क्यों न किया जाय, इसका सन्तोषपूर्ण कारण जब तक उसे नहीं बता दिया जाता था तब तक उसके मन में जो उचित दीखता वही आचरण वह करता था। क्षुदिराम सोचते थे कि हर बात का कारण समझने की इच्छा रखना बालक के लिए ठीक ही है, पर प्रत्येक बात का कारण इसके समझने लायक इसे कौन बतायेगा। और यदि ऐसा कारण इसे नहीं बताया गया तो संसार में पूर्वपरम्परा से प्रचलित धार्मिक विधियों को भी यह मान्य नहीं करेगा! गदाधर के इस स्वभाव के सम्बन्ध में इस अवसर की एक घटना पाठकों को बताने से वे क्षुदिराम की चिन्ता की यथार्थता का अनुभव कर सकेंगे।

ऊपर कह आये हैं कि क्षुदिराम के घर के नजदीक ही हालदारपुकुर नाम का एक बड़ा तालाब था। उस तालाब में ग्राम के सारे स्त्री-पुरुष स्नान किया करते थे। इसमें पुरुषों और स्त्रियों के लिए अलग अलग दो घाट बने थे। गदाधर के समान छोटे बालक स्त्रियों के घाट पर भी नहाते थे। एक बार गदाधर अपने दो चार साथियों को लेकर स्त्रियों के घाट पर नहा रहा था। सभी बालक वहाँ पानी में कूद-कूद कर एक दूसरे की ओर पानी उछालने लगे और उन लोगों ने बड़ी गड़बड़ी मचा दी जिससे स्त्रियों को कुछ कष्ट हुआ। उनके भी शरीर पर पानी पड़ जाने के कारण उनको क्रोध आ गया और उनमें से एक स्त्री बोल उठी,

"क्यों रे छोकरो ! क्यों आये तुम लोग इस घाट पर, उधर पुरुषों के घाट पर जाकर मचाओ उपद्रव ! यहाँ हम साड़ी और कपड़े धोती हैं, जानते नहीं कि स्त्रियों को विवस्त्र देखना मना है ?" इस पर गदाधर पूछ बैठा, "क्यों मना है ?" अब वह बेचारी स्त्री क्या बोलती । अतः उसे उस लड़के पर और भी गुस्सा आया । ये स्त्रियाँ बहुत क्रुद्ध हो गयी हैं और शायद हमारे घर जाकर हमारे माँ-बाप से बता देंगी इस भय से सभी लड़के वहाँ से भाग गये, पर गदाधर ने कुछ दूसरा ही कार्यक्रम निश्चित कर लिया । वह लगातार तीन दिनों तक उन स्त्रियों के घाट पर जाता रहा और एक वृक्ष की ओट में छिपकर स्नान करती हुई स्त्रियों की ओर ध्यानपूर्वक देखने लगा ! तीसरे दिन उस दिन की क्रुद्ध स्त्री से भेंट होते ही गदाधर उससे बोला, "काकी, मैंने परसों चार स्त्रियों की ओर उन्हें स्नान करते समय देखा, कल छः की ओर और आज तो आठ की ओर देखा, पर मुझे तो कुछ भी नहीं हुआ !" वह स्त्री गदाधर को लेकर चन्द्रादेवी के पास आयी और हँसते हँसते उसने उन्हें सब वृत्तान्त सुना दिया । यह सुनकर चन्द्रादेवी बोली, "बेटा ! ऐसा करने से तुझे कुछ नहीं होगा सो तो सही है, पर ऐसा करने से स्त्रियाँ सोचती हैं कि उनका अपमान हुआ । उनको तो तू मेरे ही समान मानता है न ? तब क्या उनका अपमान मेरा अपमान नहीं है ? तो फिर नाहक उनके और मेरे मन में दुःख हो ऐसा करना क्या अच्छा है ?"

माता का यह मधुर उपदेश गदाधर के चित्त में जम गया और उस दिन से उसने फिर ऐसी बात कभी नहीं की । अस्तु--

पाठशाला में गदाधर की पढ़ाई ठीक चली थी । पढ़ना और लिखना उसे थोड़े ही समय में आ गया । गणित के प्रति उसे मन

से ही घृणा थी; पर इधर उसकी अनुकरणशक्ति बढ़ने लगी। नयी नयी बातें सीखने का उसे बहुत शौक था। देवी-देवताओं की मूर्ति बनाने वाले कुम्हार के यहाँ जाकर उसने वहाँ के सब कार्य ध्यानपूर्वक देखे और घर आकर उसने उसी तरह की मूर्तियाँ बनाना आरम्भ कर दिया! यह उसका एक नया खेल हो गया। नये कपड़ों पर के चित्रों को देखकर वह वैसे ही चित्र खींचने लगा। गाँव में पुराण होता था तो वहाँ वह अवश्य जाता था और पूरी कथा ध्यान देकर सुनता था और पौराणिक महाराज के श्रोतागण को समझाने की शैली को देखा करता था। अपनी अलौकिक स्मरणशक्ति के कारण जो कुछ वह सुनता था, उसे सदा स्मरण रखता था।

इसके सिवाय जैसे जैसे उस बालक की आनन्दी वृत्ति, विनोदी स्वभाव और दूसरों की हूबहू अनुकरण करने की शक्ति उम्र के साथ बढ़ती गयी, वैसे वैसे उसके मन की स्वाभाविक सरलता और ईश्वरभक्ति अपने मातापिता के प्रत्यक्ष उदाहरण से दिनोंदिन बढ़ने लगी। बड़े होने पर भी दक्षिणेश्वर में हम लोगों के पास वे अपने मातापिता के इन सद्गुणों का गौरवगान किया करते थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन पर उनके प्रत्यक्ष उदाहरण का बहुत अधिक परिणाम हुआ होगा। वे कहा करते थे, "मेरी माता सरलता की मानो मूर्ति थीं! संसार की मामूली मामूली बातें वे नहीं समझती थीं। उन्हें पैसे गिनना तक नहीं आता था। कौनसी बात दूसरों को बताना और कौनसी बात नहीं बताना, यह भी उन्हें मालूम नहीं था! इस कारण सब लोग उन्हें 'भोली' कहा करते थे। दूसरों को भोजन कराने में उन्हें बड़ा आनन्द आता था। हमारे पिता ने शूद्रों से दान कभी नहीं लिया। दिन भर वे

पूजा, जपध्यान में ही मग्न रहते थे। प्रतिदिन संध्या करते समय 'आयाहि वरदे देवि' इत्यादि मन्त्रों से गायत्री का आवाहन करते समय उनका वक्षःस्थल आरक्त हो उठता था और नेत्रों से अश्रु-धारा प्रवाहित होने लगती थी। पूजा आदि समाप्त होने पर वे शेष समय नामस्मरण, पूजा की सामग्री तैयार करने और माला आदि गूँथने में बिताते थे। झूठी साक्षी देने के डर से उन्होंने अपने पूर्वजों की कमायी हुई सम्पत्ति को भी लात मार दी! इन सब गुणों के कारण ग्रामवासी उनका ऋषि के समान आदर करते थे!"

गदाधर बड़ा साहसी और निडर था। बड़े बड़े मनुष्य भी भूतों के भय से जहाँ जाने में हिचकते थे वहाँ वह खुशी से चला जाता था। उसकी बुआ (फूफी) रामशीला के शरीर में शीतला देवी का संचार हुआ करता था। एक समय वह कामारपुकुर में आयी थी, तब एक दिन उसके शरीर में देवी का संचार हुआ। उसका हाथ पैर पटकना और बड़बड़ाना देखकर घर के सब लोग घबरा गये, पर गदाधर निर्भयतापूर्वक उसके पास जाकर उसकी अवस्था का ध्यानपूर्वक निरीक्षण करके अपनी माता से कहने लगा, "फूफी के शरीर में जैसी देवी आयी है, वैसी ही मेरे भी शरीर में आये तो क्या ही मजा हो!"

भूरसुबो के माणिकराज का वृत्तान्त ऊपर कह ही चुके हैं। क्षुदिराम की धर्मपरायणता देखकर उन्हें उनके प्रति बड़ा आदर-भाव था और वे क्षुदिराम को बारम्बार अपने यहाँ बुलाया करते थे। गदाधर के छठवें वर्ष लगने पर एक दिन उसके पिता उसे माणिकराज के यहाँ अपने साथ ले गये। वहाँ गदाधर का बर्ताव सब लोगों के साथ इतना मधुर और सरल था कि सभी को ऐसा मालूम होने लगा कि मानो यह यहाँ नित्य आनेवाला एक परिचित

बालक है। माणिकराज के भाई रामजय उसे देखकर इतने मुग्ध हो गये कि वे क्षुदिराम से बोल उठे कि "तुम्हारा यह लड़का साधारण नहीं दिखायी देता, इसमें कुछ दैवी अंश है। तुम यहाँ आओ तो इसे सदा लाया करो, इसे देखकर बड़ा आनन्द होता है।" इसके बाद किसी कारणवश बहुत दिनों तक क्षुदिराम का वहाँ जाना नहीं हुआ। माणिकराज को चैन नहीं पड़ती थी। उन्होंने अपने यहाँ की एक स्त्री को क्षुदिराम का कुशल प्रश्न पूछने तथा यदि सम्भव हो सके तो गदाधर को अपने साथ ले आने के लिए कामारपुकुर भेजा। पिता की अनुमति से गदाधर उस स्त्री के साथ बड़े आनन्द से भूरसुबो गया। दिन भर वहाँ रहने के बाद सन्ध्या के समय माणिकराज ने उसके शरीर पर दो अलंकार पहिनाकर और साथ में मिठाई की दो पुड़ियाँ बाँधकर उसे उसके घर वापस पहुँचवा दिया। क्रमशः गदाधर माणिकराज के घर में सभी को इतना प्रिय हो गया था कि जब वह कुछ दिनों तक नहीं आता था, तो माणिकराज उसे अपने घर लिवा ले जाते थे।

गदाधर अब सात वर्ष का हो गया (सन् १८४३)। और मधुरता, सरल स्वभाव, आनन्दी वृत्ति इत्यादि गुणों से वह सब को अधिकाधिक प्रिय होने लगा। पड़ोस या मोहल्ले की स्त्रियाँ यदि किसी दिन मिष्टान्न पक्वान्न तैयार करतीं तो उसमें से गदाधर का हिस्सा अवश्य अलग बचा रखतीं और अवकाश पाते ही उसके घर जाकर उसे खाने को दे देती थीं! गदाधर के समवयस्क बालकों को यदि कोई कुछ खाने को देता था, तो वे भी गदाधर के लिए कुछ भाग निकाल दिया करते थे। उसके मधुर भाषण, उसकी मीठी आवाज तथा उसके आनन्दी स्वभाव से मुग्ध होकर सभी लोग उसका उपद्रव सह लेते थे।

ईश्वर की कृपा से ही गदाधर का शरीर गठीला और मजबूत होने के कारण वह निरोग प्रकृति का था। उसकी वृत्ति सदा किसी पक्षी के समान स्वतन्त्र और आनन्दपूर्ण थी। बड़े बड़े धन्वन्तरियों का कथन है कि शरीर का भास न होना ही शरीर के पूर्ण स्वास्थ्य का लक्षण है। इस प्रकार का स्वास्थ्यसुख गदाधर को बचपन से ही प्राप्त था। उसका स्वाभाविक एकाग्र चित्त किसी विषय की ओर खिंच जाने पर वह इतना तन्मय हो जाता था कि उसे शरीर की बिल्कुल सुध ही नहीं रहती थी! शुद्ध पवन से लहराते हुए हरे भरे खेत, नदी का शान्त गम्भीर स्वच्छ जलप्रवाह, पक्षियों का मधुर कलरव, विशेषकर नीला आकाश और उसमें क्षण-क्षण में रूप बदलने वाली मेघमाला इत्यादि दृश्यों में से किसी एक का भी प्रतिबिम्ब उसके शुद्ध मन पर पड़ते ही वह एकदम बेहोश हो जाता था और उसका मन किसी दूरस्थित भावमय प्रदेश में पहुँच जाता था। उसकी यह दशा उसकी असाधारण भावप्रवणता के कारण ही हुआ करती थी। एक समय गदाधर किसी खेत की मेड़ पर से जा रहा था। उस समय आकाश में एक बिल्कुल काला बादल जा रहा था और उस बादल के सम्मुख दूध के समान सफेद बगुले उड़ते जा रहे थे। इस दृश्य को देखते ही वह इतना तन्मय हो गया कि अचानक बेहोश होकर नीचे गिर पड़ा। सिर पर पानी सींचने से बहुत देर के बाद वह होश में आया।

ऐसी घटनाओं के कारण गदाधर के मातापिता और अन्य लोगों को चिन्ता होने लगी और यह मूर्छा रोग स्थायी न होने पाये, इस हेतु से उन्होंने औषधिप्रयोग और शान्ति कराना शुरू किया। गदाधर तो यही कहा करता था, "मुझे आनेवाली मूर्छा किसी रोगवश नहीं है वरन् इस स्थिति में मुझे अत्यन्त आनन्द का अनुभव

होता है।" अस्तु। पर इससे उसके आरोग्य को कोई हानि नहीं पहुँची। इसी से सब की चिन्ता कम हो गयी; परन्तु पुनः किसी की कुदृष्टि न लगे, इस ध्येय से चन्द्रादेवी ने कुछ समय तक उसे पाठशाला ही जाने नहीं दिया। फिर क्या पूछना था, गदाधर की तो मौज हो गयी! गाँव भर में मौज से घूमना, सारा दिन तरह तरह के खेलों में बिताना और मनमाना उपद्रव करना ही उसका कार्यक्रम बन गया था।

इस प्रकार गदाधर का सातवाँ वर्ष आधे से अधिक बीत गया। क्रमशः सन् १८४३ का शरद आ पहुँचा। क्षुदिराम के भानजे रामचान्द प्रायः वर्ष भर मेदिनीपुर में रहते थे, पर इस उत्सव के समय सेलामपुर--अपने पूर्वजों के निवासस्थान--में जाकर इस उत्सव को बड़े समारोह के साथ मनाते थे। इस वर्ष के उत्सव में उन्होंने अपने मामा क्षुदिराम को भी निमन्त्रण दिया था। क्षुदिराम का ६८ वाँ वर्ष चल रहा था। हाल ही में कुछ दिन तक संग्रहणी से बीमार होने के कारण उनका सुदृढ शरीर आजकल कमजोर हो गया था। अतः जाऊँ या न जाऊँ, इस दुविधा में वे पड़ गये। पर मेरे दिन पूरे हो चुके हैं, अगला वर्ष मुझे देखने को मिलेगा या नहीं, ऐसा सोचकर उन्होंने जाने का निश्चय किया।

सेलामपुर पहुँचने पर एक दो दिन के भीतर ही उनका रोग पुनः उमड़ा। रामचान्द ने चिकित्सा करायी; षष्ठी, सप्तमी, अष्टमी तीन दिन किसी तरह बीते। नवमी के दिन रोग बहुत बढ़ गया, सारी रात लोगों ने जागकर व्यतीत की। विजयादशमी का प्रभात हुआ। क्षुदिराम आज इतने कमजोर हो गये थे कि उनसे एक शब्द भी बोलते नहीं बनता था। दोपहर हुआ। रामचान्द जान गये कि अब मामा का अन्तकाल समीप आ गया

है। क्षुदिराम को निश्चेष्ट पड़े देखकर उनकी आँखें डबडबा गयीं और वे बोले, "मामा! आप सदैव 'रघुवीर' 'रघुवीर' जपा करते थे, पर अभी ही ऐसे क्यों पड़े हैं?" "रघुवीर" नाम सुनते ही क्षुदिराम होश में आ गये और धीमे कम्पित स्वर में बोले, "कौन रामचान्द? क्या प्रतिमा विसर्जन कर आये? अच्छा तो ठीक है। मुझे एक बार उठाकर बिठाओ तो सही।" ज्योंही रामचान्द, हेमांगिनी और रामकुमार तीनों ने उन्हें हलके हाथों से उठाकर बिठा दिया त्योंही क्षुदिराम ने गम्भीर स्वर से तीन बार "रघुवीर" नामोच्चारण करके प्राण त्याग दिया! विन्दु सिन्धु में मिल गया! श्रीरामचन्द्रजी ने अपने भक्त को अपने समीप खींचकर उसे शान्ति का अधिकारी बना दिया! तत्पश्चात् उस गम्भीर रात्रि में उच्च संकीर्तन ने उस ग्राम को कँपा दिया और लोगों ने क्षुदिराम के नश्वर देह को नदीतट पर ले जाकर अग्निसंस्कार किया।

ज्योंही दूसरे दिन यह दुःखद समाचार कामारपुकुर में क्षुदिराम के घर पहुँचा, त्योंही वहाँ के आनन्द के बाजार में चारों ओर हाहाकार मच गया। अशौच (सूतक) की अवधि बीतने पर रामकुमार ने पिता की शास्त्रोक्त क्रिया की। रामचान्द ने अपने प्यारे मामा के श्राद्ध के लिए रामकुमार को पाँच सौ रुपये दिये।

---

७. गदाधर की किशोर अवस्था

"दस ग्यारह वर्ष का था तब विशालाक्षी के दर्शन को जाते समय रास्ते में मुझे भावसमाधि लग गयी ।"

"बचपन में लाहा बाबू के घर पण्डितों की मण्डली जो बातें करती थी प्राय: वे सब मेरी समझ में आ जाती थीं ।"

—श्रीरामकृष्ण

क्षुदिराम की मृत्यु से उनकी गृहस्थी उजाड़ हो गयी । श्रीमती चन्द्रादेवी ने उनकी सहचरी बनकर उनके सुख-दु:ख में, गरीबी और अमीरी में उनके साथ छाया के समान ४३ वर्ष व्यतीत किये थे; अत: क्षुदिराम की मृत्यु का सबसे अधिक परिणाम चन्द्रादेवी पर हुआ और उन्हें सारा संसार शून्य प्रतीत होने लगा, इसमें कोई आश्चर्य नहीं । श्रीरामचन्द्रजी के चरणकमलों का निरन्तर ध्यान करनेवाला उनका मन अब संसार को त्यागकर सदा वहीं रहने के लिए छटपटाने लगा; मन संसार को छोड़ने के लिए तैयार हो गया, पर संसार मन को छोड़े तब न ? सात वर्ष का गदाधर और चार वर्ष की सर्वमंगला उनके मन को धीरे धीरे संसार की ओर पुन: खींचने लगे; अत: श्रीरामन्द्रजी के चरणों में अपना सर्वस्व समर्पण करके अपने दोनों छोटे बच्चों की ओर देखकर पतिनिधन का दारुण दु:ख किसी तरह भूलने का प्रयत्न करती हुई वे अपने दिन काटने लगीं ।

रामकुमार ज्येष्ठ पुत्र थे। गृहस्थी का सब भार अब उन्हीं के कंधे पर आ पड़ा। अतः उन्हें दुःख में व्यर्थ कालक्षेप करने का अवसर ही न था। शोकसन्तप्त परमपूज्य जननी, छोटे भाई और बहिन के दुःख को भुलाने के लिए तथा किसी प्रकार की कमी उन्हें मालूम न होने पाये इसके लिए क्या करना चाहिए; मझले भाई रामेश्वर का अध्ययन किस तरह पूर्ण हो और वह गृहस्थी में सहायता देने लगे; खुद की कमाई कैसे बढ़े; इस तरह की एक दो नहीं, अनेक चिन्ताओं से उनका मन सदा व्याकुल रहता था। उनकी स्त्री भी गृहकार्यों में कुशल थी। अपनी पूज्य सास की दारुण विपत्ति को देखकर गृहकार्यों का बहुतेरा भार उसने अपने सिर पर ले लिया। कहावत है कि "बालपन में मातृवियोग, लड़कपन में पितृवियोग और तरुणावस्था में स्त्रीवियोग के समान दुःखदायक और कुछ नहीं होता।" बालपन प्रायः माता की संगति और लालन-पालन में बीतता है, उस समय यदि पितृवियोग हुआ तो पुत्र को उस वियोग की जानकारी नहीं होती। पर जब कुछ समझने योग्य होने पर पिता के अमूल्य प्रेम का उसे लाभ होने लगता है और माता जो लाड़ पूरा नहीं करती उसे पिता पूरा करने लगता है और इस कारण उसे माता के प्रेम की अपेक्षा पिता के प्यार का अनुभव अधिक होने लगता है उस समय यदि पितृवियोग हो जाय तो फिर उसके दुःख का पारावार नहीं रहता। यही अवस्था गदाधर की हुई। प्रतिक्षण पिता का स्मरण होने के कारण उसे सर्वत्र अंधेरा दिखायी देने लगा। परन्तु उसकी बुद्धि इस छोटी अवस्था में भी अन्य बालकों की अपेक्षा अधिक परिपक्व होने के कारण उसने अपना दुःख माता का ख्याल करके बाहर प्रकट होने नहीं दिया। सभी को मालूम पड़ता था कि गदाधर

पूर्ववत् ही चैन और आनन्द में दिन बिता रहा है। गांव के पास के ही "भूतों के स्मशान", "माणिकराज की अमराई" इत्यादि जनशून्य स्थानों में उसे कभी कभी अकेले घूमते देखकर भी लोगों को उसके इस तरह घूमने में किसी विशेष कारण की शंका नहीं होती थी। उन्हें तो यही मालूम होता था कि "लड़का नटखट है, आया होगा योंही भटकते भटकते!" बस इतना ही; परन्तु गदाधर का स्वभाव पिता की मृत्यु के समय से एकान्तप्रिय और विचारशील बन गया था।

समदुःखी मनुष्यों का आपस में आकर्षण होता है। गदाधर के मन में अपनी माता के प्रति अब और अधिक प्रेम उत्पन्न हो गया था, इसका शायद यही कारण हो। वह अब पहले की अपेक्षा अधिक समय अपनी माता के ही समीप व्यतीत करता था और पूजा आदि कर्मों में और गृहकार्य में आनन्दपूर्वक उन्हें मदद देता था, क्योंकि अपने समीप रहने से उनका दुःख कुछ कम हो जाता है, यह बात उस चतुर और बुद्धिमान बालक के ध्यान में आने लगी थी। पिता की मृत्यु के समय से वह कभी भी अपनी माता के पास हठ नहीं करता था, क्योंकि उसे अब मालूम होने लगा था कि यदि माता मेरा हठ पूरा न कर सकीं तो उन्हें बहुत बुरा लगेगा और उनकी शोकाग्नि अधिक भड़केगी।

गदाधर पूववंत् पाठशाला जाने लगा, पर शाला की अपेक्षा पुराण-भजन सुनने और देवी-देवताओं की मूर्ति तैयार करने में उसका ध्यान अधिक लगता था। इस समय उसका ध्यान एक और बात की ओर था। वह यह है : गाँव के आग्नेय में जगन्नाथ-पुरी जाने की राह में गांव के जमींदार लाहा बाबू की धर्मशाला थी। वहाँ जगन्नाथ जाने वाले साधु-बैरागी ठहरते थे और गांव

में भिक्षा माँगते थे। गांव में पुराण सुनते समय गदाधर ने सुना था कि "संसार अनित्य है" इत्यादि और पिता की मृत्यु से इस बात का प्रत्यक्ष ज्ञान उसके शुद्ध और कोमल मन में उत्पन्न हो गया था। साधु, बैरागी इस अनित्य संसार को छोड़कर श्रीभगवान के दर्शनार्थ उसकी सेवा में ही अपना समय बिताते हैं और ऐसे साधुओं की संगति से मनुष्य शान्ति प्राप्त करके कृतार्थ होता है, यह बात भी उसने सुनी, अतः ऐसे साधुओं का परिचय प्राप्त करने की इच्छा से वह कभी कभी धर्मशाला में जाया करता था। प्रात:सायं धूनी में अग्नि प्रज्वलित करके वे भगवच्चिन्तन में कैसे निमग्न हो जाते हैं; जो भिक्षा मिलती है उसे वे प्रथम इष्टदेवता को समर्पण करके तत्पश्चात् आनन्द से उसे प्रसाद जानकर कैसे ग्रहण करते हैं; बीमार पड़ने पर वे भगवान पर सारा भार सौंपकर बीमारी के दुःख को किस तरह शान्ति के साथ सहन करते हैं; जो मिलता है उसी में वे कैसे प्रसन्न रहते हैं; इत्यादि बातें इस बुद्धिमान बालक की तीक्ष्ण दृष्टि से नहीं बचीं। क्रमशः गदाधर ने साधु-बैरागियों की छोटी-मोटी सेवा करना, उनके लिए लकड़ी, पानी इत्यादि ला देना, उनका स्थान झाड़ बुहार देना शुरू किया और उनके साथ मिलकर रहने भी लगा। उन साधु-बैरागियों को भी इस सुन्दर बालक के मधुर आचरण को देखकर आनन्द मालूम होता था और वे लोग उसे अनेक प्रकार के दोहे, गीत, भजन आदि सिखाते थे, कथाएँ सुनाते थे, उपदेश देते थे और अपने भिक्षान्न में से थोड़ासा प्रसाद भी खाने को देते थे।

गदाधर के अष्टम वर्ष में ऐसे ही कुछ साधु उस धर्मशाला में बहुत दिनों तक ठहरे थे। गदाधर उन्हीं में मिलकर रहने लगा और शीघ्र ही वह उनका प्रीतिपात्र बन गया। पहले पहल तो

गदाधर धर्मशाला के साधु-बैरागियों में मिल जाया करता है, यह बात किसी के ध्यान में नहीं आयी, पर जब वह दिन भर में कई बार वहाँ जाने लगा तब यह बात सब को विदित हो गयी। किसी किसी दिन बैरागी लोग इसे कुछ खाने को दे देते थे और घर आने पर वह अपनी माता से सब बातें बताकर "मुझे अब भूख नहीं है" कह देता था। पहले तो इसे केवल साधुओं की एक प्रकार की कृपा समझकर माता को कोई चिन्ता नहीं हुई; परन्तु किसी किसी दिन अपने सर्वांग में विभूति रमाकर या किसी दिन टीका लगाकर अथवा किसी दिन साधुओं की सी लँगोटी बाँध या पंछा लपेटकर घर पर आकर वह माता से कहता था "देखो, माँ! मुझे साधुओं ने कैसा सुन्दर सजा दिया है!" तब तो चन्द्रादेवी को चिन्ता होने लगती थी। उन्हें मालूम होने लगा कि ये साधु फकीर मेरे गदाधर को फँसाकर कहीं ले तो नहीं जायेंगे? एक दिन गदाधर के घर लौटने पर माता का हृदय भर आया और पुत्र गदाधर को हृदय से लगाकर आँखों से आँसू बहाती हुई वे कहने लगीं "बेटा, सँभलकर चलना भला, वे लोग तुझे फँसाकर ले जायेंगे।" गदाधर ने अपनी ओर से माता के इस भय का निवारण किया, पर माता के मन का संशय दूर नहीं हुआ। तब अपने कारण माता को दु:खित होते देख गदाधर बोला, "अच्छा! माँ! आज मैं वहाँ जाऊँगा ही नहीं तब तो ठीक होगा न?" यह सुनकर चन्द्रादेवी के जी में जी आया और मन का भय दूर हुआ।

उस दिन सन्ध्या समय धर्मशाला में जाकर गदाधर ने सब साधुओं से कह दिया कि आज से मैं आप लोगों की सेवा करने नहीं आऊँगा। इसका कारण पूछने पर उसने सब वृत्तान्त स्पष्ट बता दिया। यह सुनकर गदाधर के साथ ही वे साधु लोग उसके घर

आये और चन्द्रादेवी को आश्वासन देकर बोले, "बालक को इस तरह फँसाकर ले जाने का विचार कभी हमारे मन में भी नहीं आया और हम ऐसा कभी नहीं करेंगे; हम लोग संन्यासी, फकीर हैं। हम बिना कारण किसी अल्पवयस्क बालक को उसके माता-पिता की अनुमति बिना कैसे ले जायेंगे? ऐसा करना तो घोर पाप है। अतः इस विषय में निश्चिन्त रहो!" यह सुनकर चन्द्रादेवी का सारा संशय बिल्कुल दूर हो गया और साधु लोगों की इच्छा के अनुसार गदाधर को उनके पास पुनः आने जाने के लिए माता ने अनुमति दे दी।

लगभग इसी अवधि में एक और घटना हुई जिससे चन्द्रादेवी को गदाधर के विषय में चिन्ता होने लगी। कामारपुकुर से एक मील पर आनूर गाँव है। वहाँ श्री विशालाक्षी देवी का जागृत स्थान है। एक दिन गाँव की बहुत सी स्त्रियाँ कोई मानता पूरी करने के लिए देवी के मन्दिर को जा रही थीं। उन्हीं में धर्मदास लाहा की विधवा बहिन प्रसन्न भी थी!

प्रसन्न की सरलता, पवित्रता इत्यादि गुणों के विषय में श्रीरामकृष्ण की उच्च धारणा थी और उसके कहने के अनुसार व्यवहार करने के लिए उन्होंने अपनी धर्मपत्नी को आज्ञा दे रखी थी। वे अपने स्त्री-भक्तों के समक्ष प्रसन्न के गुणों का वर्णन करते थे। प्रसन्न का भी गदाधर पर अत्यन्त स्नेह था। कभी कभी तो यह प्रत्यक्ष भगवान 'गदाधर' है ऐसा भी उसे मालूम पड़ता था। सरलहृदया प्रसन्न गदाधर के मुख से देवादिकों के भक्तिपूर्ण गायन सुनकर कह उठती थी, 'गदाई, तू साक्षात् भगवान है, ऐसा मुझे बीच-बीच में क्यों लगता है! तू कुछ भी कहे, पर तू मनुष्य नहीं है, यह निश्चय है।" अस्तु--

स्त्रियों को जाते देखकर गदाधर बोला, "मैं भी आता हूँ।" स्त्रियों ने प्रथम तो "तू मत आ। रास्ता दूर का है, थक जायगा" इत्यादि बहुतेरी बातें कहकर देखीं, पर गदाधर ने न माना। तब निरुपाय हो उसे आने की अनुमति दे दी। गदाधर को बड़ा आनन्द हुआ और वह देवताओं के गीत गाते गाते उनके साथ चलने लगा।

इस तरह गदाधर आनन्द से देवी के गीत गाते गाते चला जा रहा था कि अचानक उसकी आवाज रुक गयी, आँखों से अश्रुधारा बहने लगी और वह अचेत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। बेचारी स्त्रियाँ बड़े संकट में पड़ गयीं। कोई इधर उधर से पानी लाकर सिर पर सींचने लगीं, तो कोई हवा करने लगीं, कोई देवी को मानता मानने लगीं, परन्तु गदाधर को चेतना ही न आती थी। तब एकदम प्रसन्न के मन में विचार आया कि गदाधर के शरीर में देवी तो नहीं आयी है, कारण कि सरल स्वभाव के भक्तिपरायण लोगों के शरीर में देवी का भाव आता है यह उसका विश्वास था। तुरन्त ही उसने स्त्रियों को देवी की प्रार्थना करने को कहा। उसके पुण्यचरित्र पर स्त्रियों की बड़ी श्रद्धा थी, अतएव उसके ऐसा कहते ही सभी स्त्रियों ने मनःपूर्वक देवी की प्रार्थना की और आश्चर्य की बात यह है कि देवी की पुकार शुरू करते ही थोड़ी देर में गदाधर सावध होकर उठ बैठा! उसके शरीर में कमजोरी या थकावट के कोई चिह्न भी नहीं थे। यह देखकर स्त्रियों को विश्वास हो गया कि इसके शरीर में देवी का संचार हुआ था। अस्तु। तत्पश्चात् सब लोग देवी को गये। वहाँ से लौटकर उन्होंने सारी हकीकत चन्द्रादेवी को कह सुनायी। इसे सुनकर चन्द्रादेवी को बड़ी चिन्ता हुई और उन्होंने गदाधर की कुदृष्टि उतारकर श्री रघुवीर और विशालाक्षी देवी की अपने पुत्र के कल्याणार्थ

पुनः पुनः प्रार्थना की । अस्तु--

डेढ़ वर्ष और बीता । गदाधर धीरे धीरे अपने पिता की स्मृति भूलने लगा । धर्मदास लाहा के पुत्र गयाविष्णु के साथ इस समय गदाधर की बड़ी मैत्री हो गयी, यहाँ तक कि वे दोनों सदा एक साथ ही रहते थे । खाना, खेलना, पढ़ना, लिखना दोनों का एक साथ होने लगा । गदाधर को स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक खाने के लिए बुलाती थीं तो यह गयाविष्णु को साथ लिये बिना कहीं न जाता । इस प्रकार इन दोनों का अकृत्रिम प्रेम देखकर धर्मदास और गदाधर के घर के लोगों को बड़ा आनन्द होता था ।

गदाधर का ९ वाँ वर्ष समाप्त होते देख रामकुमार ने उसका उपनयन करना निश्चय किया । धनी ने गदाधर से एक बार यह माँगा था कि यज्ञोपवीत के समय तू प्रथम भिक्षा मुझसे लेना । धनी के अकृत्रिम प्रेम से मुग्ध होकर गदाधर ने भी यह बात स्वीकार कर ली थी । गदाधर कहने के अनुसार करने में चूकने वाला नहीं है, इस विश्वास के कारण धनी बड़ी आनन्दित हो गयी और वह बड़े प्रयत्न से चार पैसे जोड़कर उपनयन की बाट जोहने लगी । उपनयन के कुछ दिनों पूर्व धनी से की गयी प्रतिज्ञा की बात गदाधर ने रामकुमार को बतायी ; परन्तु उनके कुल में ऐसी प्रथा न होने के कारण रामकुमार चिन्ता में पड़ गये, और गदाधर ने भी हठ पकड़ लिया । वह कहने लगा कि यदि मैं ऐसा न करूँगा तो मुझे असत्य बोलने का दोष लगेगा और असत्यभाषी को जनेऊ धारण करने का अधिकार कदापि नहीं है । उपनयन का दिन समीप आया और गदाधर के इस हठ के कारण उपनयन की नियत तिथि बढ़ानी पड़ेगी, यह चिन्ता रामकुमार को होने लगी । यह बात धर्मदास लाहा के कान में

पड़ी, तब उन्होंने रामकुमार को बुलाकर समझाया कि ऐसी प्रथा यदि तुम्हारे कुल में नहीं है तो न सही, पर यह किन्हीं किन्हीं कुलीन ब्राह्मणों के कुटुम्बों में पायी जाती है। लड़के को समझाने के लिए तुम्हें भी वैसा करने में कोई हानि नहीं है। धर्मदास के समान सयाने की सलाह मानकर रामकुमार निश्चिन्त हुए और गदाधर की इच्छानुसार आचरण करने में उन्होंने कोई आपत्ति नहीं की। गदाधर ने प्रथम भिक्षा धनी से ही ग्रहण की और वह भी अपने को गदाधर की भिक्षामाता बनने का सौभाग्य पाकर परम धन्य मानने लगी।

लाहा बाबू के घर में एक दिन पण्डित मण्डली जमी थी। चार पण्डित एक जगह बैठे हों वहाँ वादविवाद की कौनसी कमी? कुछ प्रश्न उपस्थित होकर पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष चलने लगा! वाद-विवाद रंग में आने लगा और बढ़ते बढ़ते एक ऐसा विकट प्रश्न मण्डली के सामने उपस्थित हुआ कि उसका उचित उत्तर किसी को न सूझा। उस दिन गदाधर वहीं था। उसका उपनयन अभी ही हुआ था। उस प्रश्न को सुनकर उसने अपने समीप ही बैठे हुए एक परिचित पण्डितजी से कहा, "क्यों पण्डितजी, क्या इस प्रश्न का उत्तर ऐसा ऐसा नहीं होगा?" पण्डितजी को वह ठीक जँचा, अतः उन्होंने वह उत्तर दूसरे को सुझाया। अन्त में सभी को वह उत्तर स्वीकृत हुआ। इस उत्तर को सुझाने वाले का पता लगाने पर जब मालूम हुआ कि यह उत्तर एक नौ दस वर्ष के बालक का है तो सभी के आश्चर्य की सीमा न रही। सभी ने यह समझकर कि यह बालक निश्चय रूप से दैवी शक्तिसम्पन्न होना चाहिए, उसकी प्रशंसा की और उसे आशीर्वाद दिया।

उपनयन होने पर गदाधर को देवपूजा का अधिकार प्राप्त हो

गया। एक तो पहले से ही उसका हृदय भक्तिपूर्ण था और अब तो अधिकारी हो जाने पर सन्ध्यावन्दन आदि करके वह अपना बहुतसा समय पूजा तथा ध्यान में लगाने लगा। अपने पिता के समान उसे भी बीच बीच में दर्शन प्राप्त हों, स्वप्न दिखें इस हेतु से उसने मनःपूर्वक देवताओं की सेवा और भक्ति आरम्भ कर दी। पवित्र मन वाले गदाधर पर देवों ने भी कृपा की जिससे बीच बीच में उसे भावसमाधि होने लगी और दिव्य दर्शन होने लगे।

उसी वर्ष महाशिवरात्रि के दिन गदाधर ने उपवास किया और यथाविधि महादेव की पूजा-अर्चना की। उसके साथी गया-विष्णु ने भी वैसा ही उपवास किया और रात को सीतानाथ पाईन के घर होने वाले शिवचरित्र नाटक देखकर जागरण करने का निश्चय किया। प्रथम प्रहर की पूजा समाप्त करके गदाधर शिव के ध्यान में मग्न बैठा था, इतने में ही उसके कुछ नाटक के साथी आये और वे गदाधर से कहने लगे, "शंकर का अभिनय करने वाला लड़का अचानक बीमार हो गया है। अतः उसके स्थान में आज तुम्हें वह काम करना चाहिए।" गदाधर ने उत्तर दिया, "इससे पूजा में विघ्न होगा; इसलिए मैं यह काम नहीं करता।" साथी लोगों ने नहीं माना और कहने लगे, "शिव का अभिनय करने से तेरे मन में शिव के ही विचार दौड़ते रहेंगे! यह काम क्या पूजा से कम है? यदि आज तूने यह काम नहीं किया तो लोगों को कितनी उदासी होगी, भला इसका तो कुछ विचार कर।" उनका यह आग्रह देख गदाधर राजी हो गया।

नाटक का समय आया। गदाधर को शिवरूप सजाया गया। वह शिव का चिन्तन करते हुए अपने कार्य के समय की राह

देखने लगा । समय आते ही जब वह परदे के बाहर निकला तो उसकी उस रुद्राक्षधारी जटामण्डित, विभूतिभूषित शिवमूर्ति को देखकर सभी कह उठे, "यह तो यथार्थ में शंकर के समान दीख रहा है ।" इधर शिव के ध्यान में गदाधर इतना तन्मय हो गया कि उसका भाषण और गायन बन्द होकर उसे भावसमाधि लग गयी । मण्डप में सर्वत्र गड़बड़ी मच गयी । गदाधर को उठाकर लोग भीतर ले गये और उसके शरीर पर पानी आदि सींचा गया तब बहुत समय के बाद वह सचेत हुआ । उस दिन का नाटक इस तरह बन्द करना पड़ा ।

उस दिन से गदाधर को समय समय पर भावसमाधि होने लगी । देवताओं का ध्यान करते करते तथा उनकी स्तुति के गान सुनते सुनते वह इतना तन्मय हो जाता था कि कुछ समय तक वह अपना देहभान भी भूल जाता था । जिस दिन यह तन्मयता अत्यन्त बढ़ती थी उस दिन तो उसका बाह्यज्ञान बिलकुल नष्ट होकर उसका सारा शरीर काष्ठ के टुकड़े के समान जड़ होकर पड़ा रहता था । सचेत होने पर पूछने से बताता था कि "जिस देवता का मैं ध्यान कर रहा था या जिसकी स्तुति सुन रहा था उस देवता का मुझे दिव्य दर्शन हुआ ।"

गदाधर की यह दशा देखकर माता और अन्य स्वजनों को बड़ा डर लगता था, पर जब उन्होंने देख लिया कि इस अवस्था से गदाधर के स्वास्थ्य को कोई हानि नहीं पहुँचती है तो उनका डर बहुत कम हो गया । गदाधर की धार्मिक प्रवृत्ति इस समय से बढ़ने लगी और गाँव में कहीं भी उत्सव, जयन्ती इत्यादि हो तो वहाँ वह जाने लगा और अन्तःकरणपूर्वक वहाँ के कार्यों में सम्मिलित होने लगा । इस प्रकार धार्मिक वृत्ति तो अवश्य बढ़ी,

पर विद्याभ्यास में वह पिछड़ गया। बड़े बड़े पण्डित, तर्कालङ्कार इत्यादि पदवीविभूषित नामांकित विद्वान भी ऐहिक भोगसुख और कीर्ति के लिए किस तरह लालायित रहते हैं, यह उस तीक्ष्णदृष्टि गदाधर ने इस अल्प अवस्था में ही जान लिया था। इसी कारण उनके समान विद्या प्राप्त करने के सम्बन्ध में वह अधिकाधिक उदासीन हो चला था। इस समय उसकी सूक्ष्म दृष्टि सब लोग किस उद्देश्य से कार्य करते हैं, यही देखने की ओर लगी थी और अपने पिता के वैराग्य, ईश्वरभक्ति, सत्यनिष्ठा, सदाचार, धर्म-परायणता इत्यादि अनेक सद्‌गुणों का अपने सामने आदर्श रखकर उनकी तुलना से वह दूसरों का मूल्य निश्चित करने लगा। पुराण में संसार की क्षणभंगुरता का वर्णन सुनकर ऐसी स्थिति में संसार में रहकर दुःख भोगने वाले लोगों के विषय में उसे बड़ा अचरज लगता था तथा दुःख होता था और मैं ऐसे अनित्य संसार में कदापि नहीं रहूँगा, ऐसा वह अपने मन में निश्चय करने लगता था। ग्यारह-बारह वर्ष की छोटी अवस्था में ऐसे गम्भीर विचार गदाधर के मन में कैसे आते थे, इसकी शंका या आश्चर्य करने का कोई कारण नहीं है; क्योंकि उसकी बुद्धि, प्रतिभा और मानसिक संस्कार सभी तो अलौकिक और असाधारण थे। अस्तु--

विद्याभ्यास के सम्बन्ध में गदाधर की उदासीनता का भाव अधिकाधिक बढ़ने लगा, तथापि वह अभी भी पूर्ववत् पाठशाला को जाता था। उसका पढ़ना (वाचन) अब बहुत सुधर गया था। रामायण, महाभारत इत्यादि धर्मग्रन्थ वह ऐसी भक्ति से, ऐसा सुन्दर पढ़ता था कि सुनने वाले तन्मय हो जाते थे। गाँव के सीधे-सादे सरल हृदय वाले लोग उससे इन ग्रन्थों के पढ़ने का आग्रह

करते थे और वह उन लोगों के मन को कभी दु:खित नहीं होने देता था। इस प्रकार सीतानाथ पाईन, मधुयुगी इत्यादि अनेक लोग उसे अपने घर ले जाते और समाज एकत्रित करके गदाधर के मुख से प्रह्लादचरित्र, ध्रुवोपाख्यान, महाभारत अथवा रामायण में से कोई कथा बड़ी भक्ति और भाव के साथ सुना करते थे। वैसे गाँव के और आसपास के गाँवों के देवी-देवताओं के गीत भी सदा गदाधर के कान में पड़ा करते थे। उन्हें भी वह अपनी असाधारण स्मरणशक्ति के कारण सुनकर मन में रख लेता था और कभी कभी तो उन्हें लिख भी डालता था। गदाधर की स्वहस्त लिखित "रामकृष्णायन पोथी", "योगाद्या का गीत", "सुबाहु गीत" इत्यादि कामारपुकुर में उनके घर में हमने प्रत्यक्ष देखे हैं। हम कह आये हैं कि गणित से गदाधर को घृणा थी। पाठशाला में इस विषय में उसकी बहुत कम प्रगति हुई। जोड़, बाकी, गुणा, भाग और कुछ कोष्टक इतना ही उसके गणित विषय का ज्ञान था। परन्तु दसवें वर्ष से समय समय पर उसे भावसमाधि होने लगी थी। इस कारण उसके घर के लोगों ने उसे चाहे जिस समय शाला जाने की, और जितना मन चाहे उतना ही अध्ययन करने की अनुमति दे दी थी। शिक्षकों को भी यह बात विदित होने के कारण वे गदाधर को तंग नहीं करते थे! इस कारण गदाधर का गणित का अभ्यास वहीं रुक गया।

क्रमश: गदाधर का बारहवाँ वर्ष प्रारम्भ हुआ। उसके मझले भाई रामेश्वर का २२ वाँ और छोटी बहिन सर्वमंगला का ९ वाँ वर्ष आरम्भ हुआ। रामेश्वर को विवाह योग्य हुआ देखकर रामकुमार ने उसका विवाह कामारपुकुर के पास ही के गौरहाटी ग्राम के रामसदय वन्द्योपाध्याय की भगिनी के साथ कर दिया और

रामसदय के लिए अपनी बहिन सर्वमंगला दे दी।

भाई और बहिन के विवाह हो जाने पर रामकुमार उस चिन्ता से तो मुक्त हुए, पर अब उनके पीछे दूसरी चिन्ताएँ आ लगीं। उनकी पत्नी इसी समय गर्भवती हुईं जिससे उन्हें एक प्रकार का आनन्द तो हुआ, पर "प्रसूतिकाल में मेरी पत्नी मरेगी" यह उन्हें पहिले से ज्ञात होने के कारण वे अत्यन्त चिन्ताग्रस्त रहने लगे। वैसे ही छोटे भाई रामेश्वर का विद्याभ्यास समाप्त हो गया था, पर अभी वह कोई कमाई नहीं करता था। इस कारण गृहस्थी की स्थिति पहले की अपेक्षा और भी अधिक गिरती जाती थी; अब इसका क्या उपाय किया जाय, यह भी उनकी सतत चिन्ता का एक कारण था।

प्रसूतिकाल जैसे जैसे समीप आने लगा, वैसे वैसे रामकुमार की मानसिक चिन्ता बढ़ने लगी। अन्त में १८४९ के साल में एक दिन उनकी पत्नी एक अत्यन्त सुन्दर पुत्ररत्न को जन्म देकर संसार से चल बसीं। इस घटना से रामकुमार की साधारण गृहस्थी पर पुनः शोक की छाया पड़ गयी।

---

८. यौवन का आरम्भ

"छुटपन में जब बुद्धि की शाखाएँ नहीं फूटी होती हैं उस समय मन सहज ही ईश्वर में लग जाता है। बड़ी आयु में बुद्धि की शाखाएँ फूटने पर वही मन ईश्वर में लगाने से भी नहीं लगता है।"

—श्रीरामकृष्ण

रामकुमार की सहधर्मिणी का स्वर्गवास होने के बाद उनकी गरीब गृहस्थी में दुःख अधिक बढ़ गया, सम्पत्ति कम हो गयी और गृहस्थी की दिनोंदिन अवनति होने लगी। उनकी डेढ़ बीघा जमीन से गुजर के लिए किसी तरह अनाज पूरा पड़ जाता था, पर कपड़े-लत्ते आदि नित्योपयोगी अन्य वस्तुओं का अभाव प्रति दिन बढ़ता चला। इसके सिवाय वृद्ध माता और मातृहीन शिशु अक्षय को रोज दूध की आवश्यकता रहती थी। यह सब खर्च कर्ज से किसी तरह चलाना पड़ता था और कर्ज भी दिनोंदिन बढ़ने लगा। अपनी आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए उन्होंने अनेक प्रयत्न किये, पर सब व्यर्थ हुए। तब उन्होंने इष्टमित्रों की सलाह से अन्यत्र जाने का निश्चय किया। ऐसा करने का एक दूसरा कारण यह भी था कि जिस घर में उन्होंने अपनी पत्नी के साथ बीस वर्ष बिताये थे वहाँ उसका पग पग पर स्मरण होने की सम्भावना थी। अतः उस घर से चार कदम दूर रहने से मानसिक शान्ति मिल सकेगी, यह सोचकर उन्होंने अपना गाँव छोड़कर कलकत्ता

जाने का निश्चय किया और पत्नी की मृत्यु के थोड़े ही दिनों बाद रामेश्वर को गृहस्थी का भार सौंपकर रामकुमार कलकत्ता चले गये और वहाँ झामापुकुर मोहल्ले में उन्होंने एक पाठशाला खोली।

इधर रामकुमार की पत्नी के मरने से गृहस्थी के सभी कामों का भार चन्द्रादेवी पर पुनः आ पड़ा। रामकुमार के पुत्र अक्षय को संभालने में रामेश्वर की स्त्री उन्हें थोड़ीबहुत सहायता देती थी, पर वह भी तो छोटी उम्र की थी। अतः गृहस्थी के कामकाज, देवपूजा, अक्षय का पालन-पोषण इत्यादि सभी कार्यों का बोझ ५८ वर्ष की आयु में उन पर दुबारा आ पड़ने से उन्हें क्षण भर भी अवकाश नहीं मिलता था।

रामेश्वर को भी चार पैसे कमाकर गृहस्थी ठीक ठीक चलाने की चिन्ता होने लगी, परन्तु उसे गृहस्थी चलाने के लायक धन कभी नहीं मिला। उलटा उसका बहुत सा समय संन्यासी-बैरागियों के साथ बीतता था और उन लोगों को जो चीज आवश्यक होती थी वह चीज यदि उसके घर में हो तो उसे उनको दे देने में वह किंचित् भी आगे पीछे नहीं सोचता था। सम्पत्ति तो घर में थी ही नहीं और खर्च था बहुत––इससे पहले का कर्ज कम न होकर उलटा बढ़ने लगा। संसारी होकर भी वह संचयी नहीं हो सका और आय से व्यय अधिक करते हुए "रामजी किसी तरह पूरा कर देंगे" ऐसा कहते हुए निश्चिन्त बैठे रहने के सिवाय उससे कुछ नहीं किया गया।

रामेश्वर गदाधर पर बहुत प्रेम करता था; परन्तु उसके विद्याभ्यास की ओर वह ध्यान नहीं देता था। एक तो उसे इस विषय में रुचि ही नहीं थी और दूसरे उसे गृहस्थी की चिन्ता और अन्य झंझटों के कारण समय भी नहीं मिलता था। गदाधर की धार्मिक

वृत्ति देखकर उसे बड़ा आनन्द होता था और आगे चलकर यह कोई महापुरुष होगा, ऐसा समझकर उसके विषय में वह निश्चिन्त रहा करता था। इस प्रकार रामकुमार के कलकत्ता चले जाने के बाद कोई देखनेवाला न होने के कारण गदाधर बिलकुल स्वतन्त्र हो गया और उसका शुद्ध और धर्मपरायण मन उसे जिस ओर ले जाता था उसी ओर प्रसन्नतापूर्वक वह जाने लगा।

हम कह आये हैं कि इस अल्पायु में ही गदाधर की बुद्धि बड़ी प्रखर थी। उसने देख लिया कि लोग विद्योपार्जन केवल पैसा कमाने के लिए करते हैं। भला बहुत विद्वान होने पर भी अपने पिता के समान धर्मनिष्ठा, सत्यता और भक्ति कितने लोगों में पायी जाती है? पैसे के सम्बन्ध में गाँव के झगड़ों को देखकर उसके मन में यही धारणा हो गयी थी कि पैसा ही सब अनर्थों का मूल है। तब ऐसी अर्थकारी विद्या और अनर्थकारी अर्थ के सम्बन्ध में उदासीन होकर उसने ईश्वरप्राप्ति को ही अपने जीवन का ध्येय मान लिया इसमें कोई अचरज की बात नहीं है। अपने सहपाठियों के साथ वह पाठशाला को तो जाता था, पर वह अपना बहुत सा समय देवताओं की पूजाअर्चा और गृहस्थी के कार्यों में अपनी माता को सहायता देने में बिताता था।

पड़ोस की स्त्रियों को गदाधर बड़ा प्यारा था और आजकल तो प्राय: तीसरे प्रहर तक घर में ही रहने के कारण जब वे चन्द्रादेवी के पास जाती थीं तो वहाँ गदाधर को देखकर उससे पद, भजन इत्यादि गाने के लिए कहा करती थीं और यदि वह उस समय चन्द्रादेवी को गृहकार्यों में मदद देने में लगा होता था तो ये सब स्त्रियाँ मिलकर चन्द्रादेवी का कामकाज स्वयं ही निपटा दिया करती थीं, जिससे कि गदाधर भजन गाने के लिए फुरसत पा

जाये। यह गदाधर का प्रतिदिन का कार्यक्रम ही था। किसी दिन स्त्रियों को भी बिना गये अच्छा नहीं लगता था; अतः वे दोपहर को अपना कार्य शीघ्र निपटाकर चन्द्रादेवी के घर को चली जाती थीं। गदाधर इन सरलस्वभाव धर्मपरायण स्त्रियों को कभी पुराण पढ़कर सुनाता था; कभी भजन-गायन सुनाता था और कभी किसी विशेष प्रसिद्ध व्यक्ति का अनुकरण करते हुए उसी हावभाव के साथ भाषण देकर उन्हें हँसाया करता था। गदाधर की आवाज बहुत मधुर थी और वह इतना तन्मय होकर देवताओं के भजन गाता था कि ये स्त्रियाँ भी क्षणभर के लिए अपना देहभान भूल जाती थीं। कभी कभी भजन गाते गाते ही गदाधर को भावसमाधि लग जाती थी और उसका अन्त होते तक ये स्त्रियाँ बड़े भक्तिभाव से उसकी ओर देखती रहती थीं। इसके जन्म के पूर्व माता-पिता को स्वप्न होने की बातें इन स्त्रियों को विदित थीं और उसी के अनुरूप इसकी धार्मिकता, असीम भक्ति और आकर्षण शक्ति को प्रत्यक्ष देखकर ये स्त्रियाँ गदाधर को कोई भावी महान सत्पुरुष समझकर बड़ा प्रेम करती थीं। हमने सुना है कि धर्मदास लाहा की बहिन प्रसन्न और कुछ अन्य स्त्रियों को एक दिन गदाधर की ओर देखते देखते श्रीकृष्णचन्द्र का दर्शन हुआ था और दूसरी भी बहुत सी सरल अन्तःकरण वाली स्त्रियाँ इसके अलौकिक गुणों को देखकर इसे देवता ही समझती थीं।

कभी कभी गदाधर स्त्रीवेश धारण कर स्त्रियों के समान अभिनय और भाषण करता था। उसका अभिनय इतना सजीव होता था कि अनजान मनुष्य यह नहीं पहचान सकता था कि यह पुरुष है! इसी प्रकार स्त्रीवेश में गदाधर एक बार अन्य स्त्रियों के साथ हलधरपुकुर तालाब से पानी भर लाया, पर उसे किसी

ने नहीं पहचाना ! उस गाँव में गूजर गली में सीतानाथ पाईन नाम के एक श्रीमान सज्जन रहते थे । उनकी स्त्री और कन्या गदाधर पर बड़ा स्नेह रखती थीं । वे गदाधर को कई बार अपने घर ले जाकर उससे भजन-गायन सुना करती थीं। कई बार उसे स्त्रीवेश में सजाकर उसके हावभाव देखतीं और उसके स्त्रियों के समान भाषण सुना करती थीं। सीतानाथ गदाधर को बहुत चाहते थे; अतः उसे उनके यहाँ जाने की सदा स्वतन्त्रता थी ।

उसी गली में एक दूसरे सज्जन दुर्गादास पाईन रहते थे । गदाधर पर उनका बड़ा प्रेम था । परन्तु उनके यहाँ परदे की प्रथा बड़ी कड़ी ती । गदाधर को वे अपने यहाँ की स्त्रियों के समाज में जाने नहीं देते थे । अपने घर की परदा-प्रणाली का उन्हें बड़ा अभिमान था । वे बड़ी शेखी से कहते थे, "मेरे घर की स्त्रियाँ कभी किसी की नजर में नहीं पड़तीं ।" सीतानाथ इत्यादि अन्य गृहस्थों के घर परदे की चाल नहीं थी, इस कारण वे इन गृहस्थों को अपने से हलके दर्जे के मानते थे । एक दिन किसी सज्जन के पास दुर्गादास अपने यहाँ के परदे की बड़ाई कर रहे थे। इतने में गदाधर वहाँ सहज ही आ पहुँचा और उनकी बड़ाई सुनकर कहने लगा, "परदे से क्या कभी स्त्रियों की पवित्रता की रक्षा होती है। अच्छी शिक्षा और देवभक्ति से ही यह रक्षा सम्भव है । यदि इरादा करूँ तो आपके घर के परदे की सभी स्त्रियों को देख लूँ और उनकी सारी बातें जान लूँ ।" दुर्गादास बड़े गर्व से बोले "अच्छा, कैसे देखता है, देखूँ भला ?" गदाधर ने शान्तिपूर्वक उत्तर दिया, "किसी दिन समय आयेगा तब देखूँगा" और यह कहकर वहाँ से चला गया । बाद में किसी दिन सन्ध्या समय किसी को बिना बताये उसने स्त्रीवेश करके अपना मुख वस्त्र से ढाँक

लिया और बगल में एक टोकनी लेकर दुर्गादास के दरवाजे पर खड़ा होकर बोला, "पास के गाँव से बाजार में दूसरी स्त्रियों के साथ सूत बेचने आयी थी, पर वे मुझे छोड़कर चली गयीं, इसलिए रात बिताने को जगह ढूँढ़ती हूँ। क्या आप मुझे अपने यहाँ आज रात को रहने के लिए जगह दे देंगे ?" दुर्गादास ने उससे उसका नाम-गाँव पूछा तथा और भी एक-दो प्रश्न पूछकर कहा, "अच्छा, भीतर स्त्रियों के पास जाओ और वे जहाँ बतायें वहीं रात भर रहो।" बड़ी कृतज्ञता से प्रणाम करके गदाधर भीतर गया और वहाँ भी वही किस्सा बताकर कहा "आज की रात बिताने के लिए जगह दे दो !" इसके बाद तरह तरह की बातचीत, गपशप करके उन सब स्त्रियों को उसने मुग्ध कर डाला। वे स्त्रियाँ उसकी तरुण अवस्था और मधुर भाषण से मोहित हो गयीं और उन्होंने उसे रात को सोने के लिए एक कोठरी दे दी तथा कुछ फलाहार की सामग्री भी दी। गदाधर ने घर की सब बातें सुभीते के साथ बारीकी से देख लीं। इधर इतनी रात होने पर भी गदाधर कैसे नहीं लौटा, यह चिन्ता चन्द्रादेवी को होने लगी और उन्होंने उसे ढूँढ़ने के लिए रामेश्वर से कहा। उसके जाने के सभी स्थानों को रामेश्वर ने ढूँढ़ डाला। सीतानाथ के घर तलाश किया, पर गदाधर का पता न चला। तब दुर्गादास के घर के पास खड़े होकर उसने योंही गदाधर का नाम लेकर दो तीन बार पुकारा। रामेश्वर की आवाज को पहचानकर और अब रात्रि अधिक हो गयी है, यह सोच गदाधर ने भीतर से ही "आता हूँ भैया" उत्तर दिया और दरवाजे की तरफ दौड़ पड़ा ! दुर्गादास इन बातों को उसी समय जान गये और यह गदाधर मुझे धोखा देकर परदे के भीतर प्रवेश कर गया, ऐसा समझकर उन्हें बहुत क्रोध आया, परन्तु उसका वह स्त्रीवेश,

वह भाषण और चालढाल किस तरह हूबहू स्त्रियों के समान थी, यह सोचकर और इस लड़के ने मुझे अच्छा चकमा दिया, इस विचार से उन्हें बड़ी हँसी आने लगी। शीघ्र ही यह बात गाँव भर में फैल गयी और सब कहने लगे कि गदाधर ने दुर्गादास का घमण्ड अच्छा चूर किया। तदुपरान्त सीतानाथ के यहाँ जब कभी गदाधर आये तब उन्होंने अपने यहाँ की स्त्रियों को भी उसके पास जाने की अनुमति दे दी।

इस गूजर गली में और भी स्त्रियों के मन में गदाधर के प्रति क्रमशः बड़ा स्नेह उत्पन्न हो गया। यदि गदाधर कुछ दिनों तक सीतानाथ के घर नहीं जाता था तो सीतानाथ उसे विशेष रूप से बुलाते थे। सीतानाथ के यहाँ पद-गायन करते करते कभी कभी गदाधर को भावावेश आ जाता था और उसे देखकर तो स्त्रियों की भक्ति उस पर अधिक होने लगी थी। कहते हैं कि भावसमाधि के समय स्त्रियाँ श्रीगौराङ्ग या श्रीकृष्ण के भाव से गदाधर की पूजा किया करती थीं। श्रीकृष्ण का वेश उसे सोहता था; अतः उसके लिए एक सोने की मुरली, एक सुन्दर मुकुट और स्त्रीवेशोपयोगी सर्व सामग्री इन स्त्रियों ने संग्रह कर रखी थी।

धार्मिकता, पवित्र आचरण, तीक्ष्ण बुद्धि, मधुर स्वभाव, गन्धर्व के समान स्वर और प्रेमयुक्त सरलता के कारण गदाधर पर कामारपुकुर की स्त्रियाँ कितना प्रेम करती थीं, यह हमने स्वयं उन्हीं में से कुछ स्त्रियों के मुँह से सुना है। सन् १८९३ में वैशाख मास के आरम्भ में हम स्वामी रामकृष्णानन्दजी के साथ कामारपुकुर देखने गये थे तब हमें सीतानाथ पाईन की पुत्री श्रीमती रुक्मिणी देवी के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। उस समय उनकी आयु ६० वर्ष की थी। गदाधर के बाल्यकाल की वार्ता

पूछने पर उन्होंने बताया:—

"उस समय हमारा घर यहाँ से उत्तर की ओर बिलकुल समीप ही था। अब वह सब गिर पड़ा है; मेरी आयु तब १७-१८ वर्ष की रही होगी। उस समय हमारा घर किसी श्रीमान की हवेली के समान था। सीतानाथ पाईन मेरे पिता थे। हमारे घर चचेरी वहिन, फुफेरी बहिन, ममेरी बहिन सब मिलकर हम १७-१८ बहिनें थीं। हम सब लगभग समवयस्क ही थीं। बचपन से गदाधर हमारे बीच खेला करता था और उस पर हम सब बड़ा प्रेम किया करती थीं। हमारे बड़े हो जाने पर भी वह हमारे यहाँ आता था। वह हमारे पिता को भी बड़ा प्यारा था और उस पर वे अपने इष्टदेव के समान भक्ति और प्रीति करते थे। उस मोहल्ले के कोई कोई लोग उनसे कहते थे कि अब लड़कियाँ बड़ी हो गयी हैं, उनसे गदाधर को मिलने मत दो। इस पर वे कहते थे कि इसकी चिन्ता तुम मत करो, मैं गदाधर को अच्छी तरह जानता हूँ। गदाधर हमारे यहाँ आकर पुराण की कथाएँ कहता था, पद-भजन गाया करता था और हमारी दिल्लगी करके हमें हँसाता था। यह सब सुनते हुए हम लोग अपना अपना काम बड़े आनन्द से करती रहती थीं। उसके समीप रहने से समय न जाने कितनी जल्दी कट जाता था। किसी दिन यदि वह नहीं आता था तो उसे कुछ हो तो नहीं गया, यही चिन्ता हमें होने लगती थी और चैन नहीं पड़ती थी। हममें से ही कोई जाकर जब तक चन्द्रादेवी के पास से उसका समाचार नहीं ले आती थी, तब तक हमारे प्राणों में प्राण नहीं आता था। उसके सम्बन्ध की हर एक बात हमें अमृत के समान मधुर लगती थी। अतः वह जिस दिन हमारे घर नहीं आता था उस दिन उसीकी बातें करते करते हम

अपना दिन बिता दिया करती थीं।"

वह केवल स्त्रियों को ही नहीं, वरन् गाँव के छोटे बड़े पुरुषों को भी बड़ा प्यारा था। गाँव के छोटे बड़े सभी लोग सायंकाल के समय एक स्थान पर जमा होकर भागवत, पुराण आदि बड़ी भक्ति से पाठ कर आनन्द लूटते थे। वहाँ गदाधर भी अवश्य रहता था। उसके रहने से मानो सभी के आनन्दसागर में बाढ़ आ जाती थी, क्योंकि उसके समान पुराण पढ़ना, भक्तिभावपूर्वक पौराणिक कथाएँ कहना और भिन्न भिन्न देवताओं के पद और भजन गाना किसी को भी नहीं आता था। और गाते गाते भाव में तन्मय होकर जब वह नाचना प्रारम्भ कर देता था तब तो सभी के अन्तःकरण भक्तिपूर्ण होकर उनके नेत्रों से अश्रुधारा प्रवाहित होने लगती थी। कभी कभी वह सुन्दर सुन्दर बातें बताकर मनोरंजन करता था और स्त्रियों के समान हूबहू अभिनय द्वारा सभी को चकित कर देता था। कभी कभी तो वह ऐसी मजेदार बातें बताता था कि सुनने वाले पेट दबाकर हँसते हँसते लोटपोट हो जाते थे। उसके इन गुणों के कारण बालक तथा वृद्ध सभी उसे अपने पास रखना चाहते थे। संध्या होते ही सभी उसके आने की राह बड़ी उत्कण्ठा के साथ देखा करते थे।

जैसे जैसे गदाधर की भक्ति बढ़ने लगी, वैसे वैसे उसे निश्चय होने लगा कि अपना जीवन अर्थकारी विद्या में प्रवीणता प्राप्त करने में खर्च करने के लिए नहीं है, वरन् ईश्वर की प्राप्ति करने के लिए ही है। संन्यासियों के गेरुए वस्त्र, पवित्र अग्नि, भिक्षान्न और उनके निःसंग विचरण का चित्र इसकी आँखों के सामने सदा झूलने लगा। "क्या मैं भी कभी उनके समान ईश्वर को सब भार सौंपकर पूर्ण निर्भय और संसार से पूरा उदासीन होऊँगा?"—

यही विचार उसके मन में बारम्बार आया करता था, पर तुरन्त ही अपनी माता की और भाई की सांसारिक स्थिति का ध्यान उसे हो आता था और उन्हें गृहस्थी चलाने में सहायता देना अपना कर्तव्य है, यह विचार मन में आने से उसका मन दुविधा में पड़ जाता था। अन्त में "जो ईश्वर करेगा वही ठीक है" ("राम कीन चाहहि सो होई") ऐसा जानकर अपने मन को परमेश्वर के चरणों में समर्पित करके और सब भार उन्हीं पर डालकर ईश्वर की ओर से ही कोई आदेश पाने की राह देखने लगता था।

गदाधर का हृदय स्वभाव से ही विलक्षण सहानुभूतिसम्पन्न था। उस पर गाँव में भी सभी प्रकार के और सभी अवस्था के लोगों से मिलनेजुलने और उनके सुखदु:ख को देखने के कारण वह सहानुभूति और अधिक बढ़ गयी थी। उनके सुखदु:खों को अपना ही मानने का उदार भाव उसके हृदय में उत्पन्न हो गया था। उन सरल स्वभाव वाले लोगों का जो उस पर अपार प्रेम था उसका उसे स्मरण हो आता और बारम्बार उसे यही मालूम होता कि यदि इन्हें परमेश्वर की भक्ति सिखाकर मैं इनके दु:खों की मात्रा कम करके सुख को बढ़ा सकूँ तो कितना अच्छा हो !

ऐसे विचारों के होते हुए भी वह पाठशाला को जाया ही करता था। अपने गयाविष्णु इत्यादि साथियों की संगत में उसे बड़ा आनन्द आता था और यदि मैं उनसे बार बार न मिलूँ तो उन्हें बुरा लगेगा, यह सोचकर वह पाठशाला को जाता था। लगभग इसी समय उसके साथियों ने एक छोटी सी नाटक कम्पनी बनाने का निश्चय किया। पात्रों को उनका काम सिखाने के लिए सर्व-सम्मति से गदाधर ही को उन्होंने नियुक्त किया। पर यह कम्पनी

चले कैसे ? किसीको मालूम न था कि इसका कारोबार कैसे चले, क्योंकि बालक जानते थे कि यह बात यदि उनके माता-पिता को विदित हो गयी तो सब मामला गड़बड़ हो जायगा। तब इसके लिए कौनसी युक्ति की जाय ? अन्त में गदाधर ने सुझाया कि हम सब माणिकराज की अमराई में एकत्रित हों तो फिर कोई नहीं जान पायेगा। सभी को यह विचार ठीक लगा और निश्चय हुआ कि सब लोग रोज नियत समय पर पाठशाला से भागकर वहाँ एकत्र हुआ करें।

निश्चय हो जाने पर कार्य में क्या देर लगती है ? शीघ्र ही उस अमराई में बालकों के भाषण और गायन गूँजने लगे। वे राम, कृष्ण आदि के चरित्रों के नाटक तैयार करने लगे। बोलने तथा अभिनय करने का ढंग भिन्न भिन्न पात्रों को सिखाकर मुख्य भूमिका गदाधर स्वयं करता था। थोड़े ही दिनों में नाटक रंग पर आता हुआ देखकर बालकों को आनन्द होने लगा। कहते हैं कि भिन्न भिन्न पात्रों का कार्य करते हुए गदाधर को कभी कभी भावसमाधि लग जाया करती थी।

गदाधर का बहुत सा समय इस प्रकार बीत जाने के कारण वह अपने प्रिय विषय चित्रकारी में उन्नति नहीं कर सका, तो भी उसका ज्ञान इस समय बिलकुल साधारण नहीं था। एक दिन वह अपनी बहिन से मिलने गौरहाटी ग्राम को गया था। बहिन के घर में प्रविष्ट होते ही सर्वमंगला आनन्दपूर्वक पतिसेवा करती हुई उसे दिखायी दी। घर लौटने पर उसने उसी दृश्य का एक चित्र खींचकर घर के सभी लोगों को दिखाया। सभी उस चित्र में सर्वमंगला और उसके पति को पहचान गये।

देव-देवियों की बहुत उत्तम मूर्तियाँ गदाधर बना लेता था। कई

बार तो ऐसी मूर्ति बनाकर वह अपने साथियों के साथ पूजाअर्चा करता था।

इस प्रकार और भी तीन वर्ष बीत गये और गदाधर को १७ वाँ वर्ष लगा। वहाँ कलकत्ता में रामकुमार की पाठशाला उनके अथक परिश्रम से अच्छी उन्नत अवस्था को पहुँच चुकी थी और अब उसमें उन्हें चार पैसे की कमाई भी होने लगी थी। वे वर्ष में एक बार कामारपुकुर आते थे और कुछ दिन वहाँ रहते थे। गदाधर को विद्याभ्यास के सम्बन्ध में उदासीन देखकर उन्हें बड़ी चिन्ता होती थी। सन् १८५३ में जब वे घर आये तब उनसे इस विषय में चन्द्रादेवी और रामेश्वर की बातें होने के बाद यह निश्चय हुआ कि गदाधर रामकुमार के साथ जाकर कलकत्ते में रहे। रामकुमार वहाँ अकेले ही रहते थे। उन्हें घर का काम करते हुए पाठशाला चलाने में बड़ा कष्ट होता था। अतः गदाधर के वहाँ जाने से उसका विद्याभ्यास भी होगा और रामकुमार को भी उससे कुछ सहायता मिलेगी, यह सोचकर यह निश्चय किया गया था। गदाधर से उस विषय में पूछने पर वह तुरन्त ही राजी हो गया और अब मैं अपने पितृतुल्य भाई को कुछ सहायता दे सकूँगा, इस विचार से उसे सन्तोष हुआ।

थोड़े ही दिनों के बाद शुभ मुहूर्त देखकर रामकुमार और गदाधर दोनों ने अपने कुलदेव और माता की वन्दना करके कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया (सन् १८५३)। कामारपुकुर के आनन्द का बाजार उखड़ गया और वहाँ के निवासी गदाधर के गुणों का स्मरण करते हुए अपने दिन व्यतीत करने लगे।

साधकभाव

(विषयप्रवेश)

"मनुष्यदेह धारण करने पर सभी कार्य मनुष्यों के समान होते हैं, ईश्वर को मनुष्य के समान ही सुख-दुःख का भोग करना पड़ता है, और मनुष्य के ही समान उद्योग और प्रयत्न करके सब विषयों में पूर्णता प्राप्त करनी पड़ती है।"

"आचार्य को सभी अवस्थाओं का स्वयं अनुभव प्राप्त करना पड़ता है।"

"यहाँ (मेरे द्वारा) सब प्रकार के साधन--ज्ञान-योग, भक्तियोग, कर्मयोग और हठयोग भी--आयु बढ़ाने के लिए--सम्पन्न हो चुके।"

"मुझे कोई भी साधन करने के लिए तीन दिन से अधिक समय नहीं लगा।"

"मेरी अवस्था उदाहरण-स्वरूप है।"

--श्रीरामकृष्ण

संसार के आध्यात्मिक इतिहास को पढ़ने से पता लगता है कि बुद्धदेव और श्रीचैतन्यदेव को छोड़ और किसी भी महापुरुष की साधक अवस्था का वृत्तान्त लिखा हुआ नहीं है। अदम्य उत्साह और अनुराग से हृदय को भरकर ईश्वरप्राप्ति के कठिन मार्ग में प्रगति करते हुए उनकी मानसिक स्थिति में कैसे कैसे परिवर्तन होते गये, उन्हें अपनी आशाओं और निराशाओं से किस प्रकार

झगड़ना पड़ा, उन्होंने अपने दोषों पर विजय किस तरह प्राप्त की, और भी अनेकों विघ्न उनके मार्ग में कैसे आये और सदैव अपने ध्येय की ओर दृष्टि रखते हुए ईश्वर पर पूर्ण विश्वास रखकर उन्होंने उन विघ्नों को किस तरह दूर किया--इत्यादि बातों का विस्तारपूर्वक वर्णन उनके जीवनचरित्रों में नहीं पाया जाता।

इसका कारण मालूम होना कठिन है। शायद भक्ति की प्रबलता के ही कारण उनके भक्तों ने ये बातें लिखकर न रखी हों। उन महापुरुषों के प्रति परमेश्वर के समान भक्ति रहने के कारण उनके भक्त लोग "साधनकाल का इतिहास लिखकर उस देवचरित्र की असम्पूर्णता संसार को न बताना ही अच्छा है," ऐसा समझे हों। या उन्होंने यह सोचा हो कि महापुरुषों के चरित्र में से शायद सर्वांगपूर्ण भाव ही संसार के सामने रखने से जितना लोककल्याण सम्भव है उतना कल्याण साधनकालीन असम्पूर्ण भाव को बताने से शायद न हो सके।

हमारे आराध्य देव सर्वांगपूर्ण हैं, यही भावना भक्तों की सदा रहती है। मानवशरीर धारण करने के कारण उनमें मानवोचित दौर्बल्य या शक्तिहीनता कभी कभी दिखना सम्भव है, यह बात भक्त नहीं मानता। वह तो उनके बालमुख में विश्वब्रह्माण्ड के दर्शन के लिए ही उत्सुक रहता है। बाल्यकाल की असम्बद्ध चेष्टाओं में भी वह भक्त पूर्ण बुद्धि और दूरदृष्टि का पता लगाता रहता है। इतना ही नहीं, वह तो उस छोटी बाल्यावस्था में भी सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, उदारता और अगाध प्रेम की खोज किया करता है। इसी कारण भक्त लोग जो कहते हैं कि "अपना ईश्वरीय रूप संसार को विदित न होने पाये, इस हेतु से अवतारी पुरुष साधन-भजन इत्यादि कार्य औरों के समान करते हुए आहार,

निद्रा, थकावट, व्याधि इत्यादि भी दूसरों के समान अपने में व्यर्थ ही झूठमूठ दिखाते हैं" इस वाक्य में विचित्रता नहीं है। श्रीरामकृष्ण की अन्तिम व्याधि के सम्बन्ध में इसी प्रकार की आलोचना होते हम लोगों ने प्रत्यक्ष सुनी है।

भक्त लोग अपनी दुर्बलता के ही कारण इस प्रकार का सिद्धान्त निकाला करते हैं। उन्हें भय रहता है कि अवतारी पुरुषों को मनुष्य के ही समान जानने से हमारी भक्ति की हानि होगी; अतः हमें ऐसे लोगों के विरुद्ध कुछ नहीं कहना है। पर सच तो यह है कि भक्ति परिपक्व न होने के कारण ही यह दुर्बलता उनमें होती है। भक्ति की प्रथम अवस्था में ही भगवान को ऐश्वर्य-हीन बनाकर चिन्तन करना भक्त के लिए सम्भव नहीं होता; भक्ति जब परिपक्व हो जाती है, ईश्वर पर उसका प्रेम अत्यन्त बढ़ जाता है तब उसे दिखता है कि ऐश्वर्य का चिन्तन भक्तिलाभ के मार्ग में बड़ा घातक है और तब तो वह ऐश्वर्य की कल्पना को दूर रखने का प्रयत्न करता है—यह बात भक्तिशास्त्र में बार बार बतायी गयी है। श्रीकृष्ण के ईश्वरत्व का प्रमाण बार बार पाने के बाद भी यशोदा उसे अपना पुत्र ही समझकर लालन पालन करती थीं। श्रीकृष्ण ईश्वर हैं यह निश्चय गोपियों को हो जाने के बाद भी वे उन्हें अपने सहचर की ही दृष्टि से देखती थीं। अन्य अवतारों के सम्बन्ध में भी यही बात पायी जाती है।

यदि कोई श्रीरामकृष्ण के पास भगवान की अलौकिक शक्ति —उनके ऐश्वर्य—का प्रत्यक्ष दिखने योग्य कोई दर्शन करा देने के लिए आग्रह करता था तो वे बहुधा यही कहते थे, "अरे भाई! इस प्रकार के दर्शन की इच्छा करना ठीक नहीं है। ऐश्वर्य के दर्शन से मन में भय उत्पन्न होता है और भोजन कराना, सजाना,

लाड़-प्यार करना, 'मैं, तू' करना इस प्रकार प्रेम का या भक्ति का भाव नहीं रह पाता।" यह उत्तर सुनकर उनके भक्तों को कई बार ऐसा लगता था कि हमें ऐसा दर्शन करा देने का इनके मन में ही नहीं है; इसलिए हमें किसी तरह समझा रहे हैं। ऐसे समय यदि कोई अधिक धृष्टता से कहता था कि "आपकी कृपा से सब सम्भव है, आप कृपा कर हमें इस प्रकार का दर्शन करा ही दीजिये" तो वे बड़ी नम्रता से कहते थे, "अरे, क्या मैं करूँगा कहने से भला कुछ होगा? माता की जैसी इच्छा होगी वैसा ही होगा।" इतने पर भी चुप न रहकर यदि कोई कहता कि "आप इच्छा करेंगे तो माता की भी इच्छा होगी ही!" तब वे कहते थे कि "मेरी तो अत्यन्त इच्छा है कि तुम सब को सब प्रकार की अवस्था और सब प्रकार के दर्शन प्राप्त हों, पर वैसा होता कहाँ है?" इतने पर भी यदि उस भक्त ने अपना हठ नहीं छोड़ा तो वे हँसकर कहते, "क्या बताऊँ रे बाबा! माता की जो इच्छा होगी वही होगा!"—ऐसा कहते हुए भी उसके विश्वास को वे कदापि नष्ट नहीं करते थे। यह व्यवहार हम लोगों ने कई बार प्रत्यक्ष देखा है और उन्हें हमने बारम्बार यह कहते भी सुना है कि "किसी का भाव कभी नष्ट नहीं करना चाहिए!"

अन्तिम दिनों में जब श्रीरामकृष्ण गले के रोग से काशीपुर के बगीचे में बीमार थे उस समय नरेन्द्रनाथ (स्वामी विवेकानन्द) इत्यादि भक्तगण उनके बताये हुए मार्ग से साधना करने में निमग्न रहा करते थे। साधनाओं के प्रभाव से दूसरे के शरीर में केवल स्पर्श से धर्मभाव संचारित करने की थोड़ीबहुत शक्ति उस समय नरेन्द्र में उत्पन्न हो चुकी थी और शिवरात्रि के दिन रात्रि को ध्यान में मग्न रहते हुए अपनी इस शक्ति का प्रयोग करके देखने

की उन्हें प्रबल इच्छा हुई। पास ही काली (स्वामी अभेदानन्द) बैठे थे। उनसे नरेन्द्र ने कहा कि मुझे कुछ देर तक स्पर्श किए हुए बैठो और स्वयं नरेन्द्र गम्भीर ध्यान में निमग्न हो गये। काली उनके घुटने को हाथ लगाये हुए लगातार काँप रहे थे। एक-दो मिनट में ध्यान की समाप्ति करके नरेन्द्र ने कहा, "बस! तुम्हें क्या अनुभव हुआ बताओ तो सही।"

काली बोले, "बिजली की बैटरी पकड़ने पर अपने शरीर में जिस प्रकार के संचार का भास होता है और सर्वांग काँपता है वैसा ही हुआ। हाथ काँपने न देने का प्रयत्न भी निष्फल हुआ।"

इस पर कोई कुछ नहीं बोला। द्वितीय प्रहर की पूजा होने के बाद काली ध्यानस्थ होकर बैठे और उसमें वे इतने तन्मय हो गये कि उनका वैसा ध्यान किसी ने कभी नहीं देखा था। शरीर टेढ़ा-मेढ़ा हो गया, गर्दन भी टेढ़ी हो गयी और कुछ समय तक उनका बाह्यज्ञान बिलकुल नष्ट हो गया।

प्रातःकाल शशी (स्वामी रामकृष्णानन्द) नरेन्द्र के पास आकर बोले, "ठाकुर* तुम्हें बुलाते हैं।" सन्देश सुनते ही नरेन्द्रनाथ उठे और दूसरी मंजिल पर श्रीरामकृष्ण के कमरे में जाकर उन्हें प्रणाम करके खड़े रहे। उन्हें देखते ही श्रीरामकृष्ण बोले, "क्यों रे? कुछ थोड़ा सा जमा होते ही खर्च शुरू कर दिया? पहले अपने पास पर्याप्त संचय हो लेने दे तब तुझे कहाँ और कैसे खर्च करना चाहिए यह मालूम हो जायगा—माता ही तुझे समझा देगी! उसके शरीर में अपना भाव संचारित करके तूने उसको कितना नुकसान पहुँचाया है देख भला? वह इतने दिनों तक एक

---

* श्रीरामकृष्ण को उनकी भक्तमण्डली "ठाकुर", "महाशय" कहा करती थी।

भाव से जा रहा था, उसका सारा भाव नष्ट हो गया !--छः मास के गर्भपात के समान हो गया ! खैर, अब हुआ सो हुआ पर पुनः इस प्रकार एकदम कुछ का कुछ न कर बैठना। उस लड़के का भाग्य ठीक दिखता है।"

नरेन्द्रनाथ कहते थे, "मैं तो यह सुनकर चकित ही हो गया ! हम नीचे क्या करते थे सो सब ठाकुर ऊपर बैठे जान गये ! उनके इस प्रकार कान ऐंठने से मैं तो एक अपराधी के समान चुप ही हो गया !"

तत्पश्चात् यथार्थ में यही दिखायी दिया कि काली का पूर्व का भाव तो नष्ट हो ही गया, पर नये अद्वैतभाव को धारण करने के लिए उनका मन तैयार न रहने के कारण उस भाव को भी वे यथायोग्य धारण नहीं कर सकते थे। इस कारण उनका व्यवहार किसी नास्तिक के समान होने लगा। श्रीरामकृष्ण ने उन्हें इसके पश्चात् अद्वैतभाव का ही उपदेश देना प्रारम्भ किया और अपने सदा के मधुर ढंग से वे उन्हें उनकी गलती दिखलाने लगे। तथापि श्रीरामकृष्ण के समाधिस्थ होने के बाद भी काफी समय तक उनका आचरण पूर्ववत् नहीं सुधर पाया था। अस्तु--

सत्य को प्राप्त करने के लिए अवतारी पुरुष जो प्रयत्न किया करते हैं उसे केवल स्वाँग समझने वाली भक्त मण्डली से हमारा यही निवेदन है कि श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने ऐसी बात कभी नहीं सुनी, वरन् इसके विपरीत अनेकों बार उन्हें ऐसा कहते सुना है कि "नरदेह धारण करने पर भी सभी कार्य मनुष्य के समान ही होते हैं। ईश्वर को मनुष्यों के समान ही सुख-दुःख भोगना पड़ता है और मनुष्यों के ही सदृश उद्योग और प्रयत्न करके सभी विषयों में पूर्णत्व प्राप्त करना पड़ता है।" संसार का आध्यात्मिक

इतिहास भी यही बताता है और विचार में भी यही स्पष्ट दिखता है कि यदि ऐसा न हो तो साधक पर दया करने के हेतु नरदेह धारण करने में ईश्वर का वह उद्देश्य बिलकुल सिद्ध नहीं होता और ईश्वर के नरदेह धारण करने के सारे संकट में कोई सार्थकता भी नहीं रहती।

नरदेह धारण करने पर अवतारी पुरुषों को भी मनुष्य के समान ही दृष्टिहीनता, अल्पज्ञता आदि का थोड़ा बहुत अनुभव कुछ समय के लिए करना ही पड़ता है। मनुष्यों के ही समान इन दोषों से छूटने का प्रयत्न भी उन्हें करना पड़ता है और जब तक यह प्रयत्न पूर्ण होकर उसका फल उन्हें प्राप्त नहीं हो जाता तब तक उन्हें अपने निजस्वरूप का ज्ञान (बीच बीच में होता हो तो भी) सदैव अखण्ड रूप से नहीं होता। उन्हें साधारण जीवों के समान संसार के अंधकारमय और नैराश्यपूर्ण मार्ग से ही जाना पड़ता है। अन्तर सिर्फ यही है कि उनमें स्वार्थबुद्धि की गन्ध भी नहीं होने के कारण उन्हें अपने मार्ग में औरों की अपेक्षा अधिक प्रकाश दिखता है। इसी कारण वे अपनी सर्व शक्ति एकत्रित कर अपनी जीवनसमस्या शीघ्र ही पूरी करके लोककल्याण का कार्य आरम्भ कर देते हैं।

मनुष्य में रहने वाला अधूरापन श्रीरामकृष्ण में भी पहले था, इस दृष्टि से यदि हम उनके चरित्र का विचार करेंगे तभी उनके चरित्र के चिन्तन का लाभ हमें प्राप्त होगा और इसी कारण पाठकों से हमारी विनय है कि उनके मानवभाव को सदा अपनी दृष्टि के सामने रखकर ही उनके ईश्वरीय भाव पर विचार करें। वे हमीं में से एक थे इस दृष्टि से यदि हमने उनकी ओर नहीं देखा तब तो साधनाकाल के उनके अपूर्व उद्योग और विलक्षण

आचरण का कोई अर्थ हमारी समझ में नहीं आयेगा। हमें ऐसा लगेगा कि वे तो आरम्भ से ही पूर्ण थे; उन्हें सत्य की प्राप्ति के लिए इतनी खटपट की क्या आवश्यकता थी? हम यही जानेंगे कि उनकी आजीवन खटपट संसार को रिझाने का स्वाँग था। यही नहीं, बल्कि ईश्वर की प्राप्ति के लिए की हुई उनकी अलौकिक तपस्या, असाधारण त्याग और उनकी अटल निष्ठा को देखकर भी हमारे मन में स्फूर्ति उत्पन्न नहीं होगी और उनके चरित्र से हमें कुछ भी ज्ञान प्राप्त नहीं होगा।

श्रीरामकृष्ण की कृपा का लाभ करके धन्य होने के लिए हमें उनको अपने ही समान मनुष्य समझना चाहिए। हमारे ही समान उन्हें सुख-दुःख का अनुभव होता था, तभी तो हमारे दुःखों को मिटाने का उन्होंने प्रयत्न किया। इसी कारण उन्हें अपने समान मानवभावापन्न मानने के अतिरिक्त हमारे लिए और दूसरा मार्ग नहीं है, और सच पूछिये तो जब तक हम सब बन्धनों से मुक्त होकर परब्रह्मस्वरूप में लीन नहीं होते तब तक जगत्कारण ईश्वर और उनके अवतारों को हमें 'मनुष्य' ही मानना चाहिए। "देवो भूत्वा देवं यजेत्" यह कहावत इसी दृष्टि से सत्य है। तुम यदि स्वतः समाधिबल से निर्विकल्प अवस्था तक पहुँच सकोगे, तभी तुम ईश्वर के यथार्थ स्वरूप को समझकर उसकी सच्ची पूजा कर सकोगे।

देव बनकर देव की यथार्थ पूजा करने में समर्थ पुरुष बहुत विरले होते हैं। हमारे समान दुर्बल अधिकारी उस स्थिति से बड़ी दूर हैं। इसी कारण हमारे जैसे साधारण लोगों पर कृपा करके उनके हृदय की पूजा ग्रहण करने के लिए ही ईश्वर नरदेह धारण करते हैं। प्राचीन काल के अवतारी पुरुषों की अपेक्षा श्रीरामकृष्ण

के साधनाकाल के इतिहास को समझने के लिए हमारे पास अनेक साधन हैं। एक तो अपने साधनाकाल की अनेक बातें श्रीरामकृष्ण ने स्वयं विस्तारपूर्वक अपने शिष्यों को बतायी हैं। दूसरे, हम लोगों के उनके चरणकमलों का आश्रय ग्रहण करने के थोड़े ही पूर्व जिन लोगों ने उनके साधनाकाल का चरित्र अपनी आँखों से दक्षिणेश्वर में देखा था, उनमें से बहुतेरे लोग वहीं थे और उनसे हम लोगों को कुछ वृत्तान्त मालूम हुआ। अस्तु--

श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल के अलौकिक इतिहास की ओर दृष्टि डालने के पहले, आइये, साधनातत्त्व के मूल सूत्रों पर विहंगम दृष्टि से हम थोड़ा विचार करें।

१०. साधक और साधना

"स्थूलभाव से समाधि दो प्रकार की होती है। ज्ञानमार्ग से विचार करते करते 'अहं' कार का नाश हो जाने पर जो समाधि होती है उसे 'स्थिर' अथवा 'जड़' अथवा 'निर्विकल्प' समाधि कहते हैं। भक्तिमार्ग की समाधि को 'भाव-समाधि' कहते हैं। इस प्रकार की समाधि में सम्भोग के लिए या आस्वादन के लिए किंचित् अहंभाव शेष रहता है।"

"शुद्ध ज्ञान और शुद्ध भक्ति दोनों एक हैं।"

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के जीवनचरित्र में साधकभाव का वृत्तान्त बताने के पूर्व साधना किसे कहते हैं यह चर्चा करना उचित है। इस सिलसिले में सम्भवतः कोई यह कहे कि 'भारतवर्ष में तो प्राचीन काल से साधना, तपस्या आदि प्रचलित हैं, अतः उन विषयों पर यहाँ विचार करने की क्या आवश्यकता है; भारतवर्ष के समान साधना या तपस्या और किस देश में पायी जाती है; इस देश के समान बड़े बड़े महात्मा तथा ब्रह्मज्ञानी और किस देश में हुए हैं; साधना के बारे में थोड़ीबहुत कल्पना इस देश में सभी को है,' तो ये संशय यद्यपि अनेक अंशों में सत्य हैं तथापि साधना किसे कहते हैं, इसका यहाँ विचार करना उचित ही है, क्योंकि इस सम्बन्ध में साधारण जनता में अनेक विचित्र तथा भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ प्रचलित हैं। अपने ध्येय की ओर दृष्टि न रखकर शरीर को कष्ट देना, दुष्प्राप्य वस्तुओं के पीछे पड़ना, किसी स्थानविशेष

में ही विशेष क्रियाओं का अनुष्ठान करना, श्वासोच्छ्वास की ही ओर सम्पूर्ण ध्यान देना, इत्यादि क्रियाओं को ही लोग बहुधा साधना कहा करते हैं। यह भी मालूम पड़ता है कि अपने मन के कुसंस्कार को हटाकर उसे योग्य संस्कार देने के लिए और उसे उचित मार्ग में अग्रसर करने के लिए बड़े बड़े महात्माओं ने जिन क्रियाओं का अनुष्ठान किया उन्हीं क्रियाओं का नाम साधना है। इसके अतिरिक्त अन्य क्रियाएँ साधना नहीं कहला सकतीं, यह भ्रम भी लोगों में दीख पड़ता है। विवेकी और वैराग्यवान् होने का प्रयत्न किये बिना, सांसारिक सुखभोग की लालसा छोड़ने का प्रयत्न किये बिना कुछ विशिष्ट क्रियाओं को करके अथवा कुछ विशिष्ट अक्षरों को रटकर ही ईश्वर को मन्त्रमुग्ध सर्प की तरह वश में ला सकते हैं, ऐसी भ्रमात्मक कल्पना से कई लोग उन क्रियाओं को करने में और उन अक्षरों को रटने में अपनी सारी आयु व्यर्थ में बिताते हुए भी देखे जाते हैं। इस कारण पुरातन ऋषियों ने गहन विचार द्वारा साधना सम्बन्धी जिन तत्त्वों का आविष्कार किया है उनकी संक्षिप्त चर्चा करने से पाठकों को उस विषय की कुछ यथार्थ जानकारी प्राप्त हो सकेगी।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे--"सर्व भूतों में ब्रह्मदर्शन अथवा ईश्वरदर्शन ही अत्यन्त उच्च और अन्तिम अवस्था है।" यह साधना का अन्तिम फल है ऐसा उपनिषद् कहते हैं। उनका वाक्य है कि "इस सृष्टि में स्थूल, सूक्ष्म, चेतन, अचेतन आदि जो कुछ तुम्हें दृष्टिगोचर होता है वह सब एक--ब्रह्म--है। इस एक अद्वितीय ब्रह्म वस्तु को ही तुम भिन्न-भिन्न नाम देते हो और भिन्न-भिन्न दृष्टियों से देखते हो। जन्म से मृत्यु तक सब समय तुम्हारा उसी से सम्बन्ध रहता है, परन्तु उसका परिचय न होने

से तुम्हें मालूम होता है कि हम भिन्न-भिन्न वस्तुओं और व्यक्तियों से ही सम्बन्ध रखते हैं।"

उपरोक्त सिद्धान्त को सुनकर मन में कैसे विचार उत्पन्न होते हैं और उन पर शास्त्रों का क्या कहना है, यह यहाँ संक्षेप में प्रश्नोत्तर के रूप में बताया गया है।

प्रश्न--यह सिद्धान्त हमें क्यों ठीक नहीं जँचता?

उत्तर--भ्रम के कारण। जब तक यह भ्रम दूर नहीं होता है, तब तक यह बात कैसे जँचे? सत्य वस्तु और अवस्था से मिलान करने पर ही हम भ्रम का रूप निश्चित करते हैं।

प्रश्न--ठीक है। पर यह भ्रम हमें क्यों और कब से हुआ?

उत्तर--भ्रम होने का कारण--सर्वत्र दिखायी देने वाला--अज्ञान है। यह अज्ञान कब उत्पन्न हुआ यह कैसे जाना जाय! जब तक हम अज्ञान में ही पड़े हैं तब तक इसे जानने का प्रयत्न व्यर्थ है। जब तक स्वप्न दिखायी देता है तब तक वह सत्य भासता है। निद्राभंग होने पर जागृतावस्था से उसकी तुलना करने पर उसकी असत्यता का हमें निश्चय हो जाता है। कदाचित् हम यह कहें कि स्वप्न की दशा में भी कई बार "मैं स्वप्न देखता हूँ" यह ज्ञान रहता है तो वहाँ भी जागृतावस्था से तुलना करने के ही कारण यह ज्ञान उत्पन्न होता है। जागृतावस्था में संसार से सम्बन्ध रहते हुए भी किसी किसी को इसी प्रकार अद्वयब्रह्म-वस्तु की स्मृति होती हुई दिखायी पड़ती है।

प्रश्न--तो फिर इस भ्रम को दूर करने का उपाय क्या है?

उत्तर--उपाय एक ही है--इस अज्ञान को दूर करना चाहिए। यह अज्ञान, यह भ्रम दूर किया जा सकता है, इसमें संशय नहीं है। पूर्वकालीन ऋषियों ने इस भ्रम को दूर किया था और इस

भ्रम को दूर करने का उपाय भी उन्होंने बतला दिया है।

प्रश्न––ठीक है, पर उस उपाय को समझने के पूर्व एक-दो प्रश्न और करने हैं। आज सारा संसार जिसे प्रत्यक्ष देख रहा है उसे आप भ्रम या अज्ञान कहते हैं और थोड़े से ऋषियों ने संसार को जैसा देखा उसे सत्य या ज्ञान कहते हैं, यह कैसी बात है? सम्भवतः ऋषियों को ही भ्रम हुआ होगा!

उत्तर––बहुत से लोग विश्वास करते हैं इसी कारण किसी बात को सत्य नहीं कह सकते। ऋषियों का ही अनुभव सत्य इसलिए कहते हैं कि उसी अनुभव के कारण वे सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हुए, सब तरह से भयशून्य हुए और विचारशान्ति के अधिकारी हुए। क्षणभंगुर मानवजीवन का उद्देश्य उन्होंने ठीक ठीक पहचाना। इसके सिवाय यथार्थ ज्ञान से मनुष्य के मन में सदा सहिष्णुता, सन्तोष, करुणा, नम्रता इत्यादि गुणों का विकास होकर हृदय अत्यन्त उदार वन जाता है। ऋषियों के जीवन में इन्हीं गुणों का विकास पाया जाता है और उनके बताये हुए मार्ग का जो अवलम्बन करता है उसे भी ये गुण प्राप्त होते हैं; यह आज भी हम प्रत्यक्ष देख सकते हैं।

प्रश्न––भला हम सभी को एक ही प्रकार का भ्रम कैसे हुआ? जिसे हम पशु कहते हैं उसे आप भी पशु कहते हैं, जिसे हम मनुष्य कहते ह उसे आप भी मनुष्य कहते हैं; इसी प्रकार सभी बातों को जानिये। सभी को एक ही समय सब प्रकार के विषयों के सम्बन्ध में एक ही प्रकार का भ्रम हो जाय यह कैसा आश्चर्य है? कुछ मनुष्यों की किसी विषय में गलत कल्पना हो जाय तो अन्य कुछ मनुष्यों की कल्पना तो सत्य रहती है ऐसा सर्वत्र देखा जाता है, पर यहाँ तो सब बात ही निराली है। इसलिए आपका

कहना हमें नहीं जँचता।

उत्तर——इसका कारण यह है कि आप जब सभी मनुष्यों की बातें करते हैं, तब उनमें से ऋषियों को अलग कर देते हैं। सभी के साथ ऋषियों की गणना नहीं करते। इसी कारण आपको यहाँ सभी बातें निराली दिखायी देती हैं। नहीं तो, आपने अपने प्रश्न में ही इस शंका का समाधान कर डाला है। अब सभी को एक ही प्रकार का भ्रम कैसे हुआ, इस प्रश्न का उत्तर शास्त्रों में यह है——"एक ही असीम अनन्त समष्टि मन में जगत्कल्पना का उदय हुआ है। आपका, मेरा और सभी का व्यष्टि-मन उस विराट मन का अंश होने के कारण हम सभी को इसी एक ही कल्पना का अनुभव होता है। इसी कारण हम सभी, पशु को पशु और मनुष्य को मनुष्य कहते हैं और इसी कारण हममें से कोई यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके सर्व प्रकार के भ्रम से मुक्त हो जाता है, तथापि हममें से शेष पूर्ववत् भ्रम में ही रहा करते हैं। पुनश्च, विराट पुरुष के विराट मन में यद्यपि जगत्कल्पना का उदय हुआ, तथापि वह हमारे समान अज्ञान के बन्धन में नहीं पड़ा। वह तो सर्वदर्शी होने के कारण अज्ञान से उत्पन्न होने वाली जगत्कल्पना के भीतर-बाहर सर्वत्र अद्वय ब्रह्मवस्तु को ही सर्वदा ओतप्रोत देखा करता है; पर हम वैसा नहीं करते इसी से हमें भ्रम होता है।" श्रीराम-कृष्ण कहा करते थे——"साँप के मुँह में विष रहता है, साँप उसी मुँह से खाता है, पर उससे उसे कुछ नहीं होता, परन्तु जिसे वह काटता है उसका तो उस विष से तत्काल प्राण ही चला जाता है।"

उसी प्रकार, यह भी दीख पड़ेगा कि विराट मन में कल्पनारूप से जगत् उत्पन्न हुआ है; अतः एक दृष्टि से हमारे भी मन में जगत् कल्पना से ही उत्पन्न हुआ होना चाहिए; क्योंकि हमारा क्षुद्र व्यष्टि-

मन भी तो समष्टिभूत विराट मन का ही अंश है। इसके सिवाय यह जगत्कल्पना विराट मन में एक समय नहीं थी और वह कल्पना बाद में उत्पन्न हुई ऐसा भी नहीं कह सकते, कारण कि नाम-रूप, देश-काल आदि द्वन्द्व ही तो——जिनके बिना किसी तरह की सृष्टि का उद्भव असम्भव है——जगद्रूप कल्पना की मध्यवर्ती वस्तुएँ हैं। थोड़े ही विचार से यह स्पष्ट हो जायेगा कि जगत्कल्पना से इनका नित्य सम्बन्ध है और वेदान्त शास्त्र में जगत्कर्त्री मूलप्रकृति को अनादि और कालातीत क्यों कहा है। जगत् यदि मनःकल्पित है और उस कल्पना का आरम्भ यदि काल की कक्षा के भीतर नहीं आता, तो यह स्पष्ट है कि काल की कल्पना और जगत् की कल्पना विराट मन में एक साथ उत्पन्न हुई। हमारे क्षुद्र व्यष्टि मन बहुत समय से जगत् के अस्तित्व की दृढ़ धारणा किये हुए हैं और जगत्कल्पना के परे अद्वय ब्रह्मवस्तु के साक्षात् दर्शन से वंचित हो गये हैं तथा जगत् केवल एक मनःकल्पित वस्तु है, यह पूर्णतया भूल गये हैं और हमें अपना भ्रम भी समझ में नहीं आ रहा है। इसका कारण ऊपर कह ही चुके हैं कि सत्य वस्तु और अवस्था से मिलान करने पर ही हमें भ्रम के स्वरूप का पता लगता है।

इससे यह दिखता है कि हमारी जगत्सम्बन्धी कल्पना और अनुभव हमारे दीर्घकाल के अभ्यास का परिणाम है। यदि हमें इसके विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना है तो हमें नाम-रूप, देश-काल, मन-बुद्धि आदि जगदन्तर्गत विषयों से जो वस्तु अतीत है, उसका ज्ञान या परिचय प्राप्त करना होगा। इसी ज्ञान की प्राप्ति के प्रयत्न को वेदशास्त्रों ने 'साधना' 'तप' इत्यादि नाम दिये हैं और जो जानकर या बिना जाने इस प्रकार का प्रयत्न करता है, वह 'साधक' कहलाता है।

साधारणतः देशकालातीत जगत्कारण का ज्ञान प्राप्त करने के दो मार्ग हैं। प्रथम––शास्त्रों ने जिसे 'नेति' 'नेति' या 'ज्ञानमार्ग' कहा है और द्वितीय––जिसे 'इति इति' या 'भक्तिमार्ग' कहा है। ज्ञानमार्ग का साधक शुरू से ही प्रत्येक समय अपने अन्तिम ध्येय को समझते हुए अपने मन में रखकर प्रयत्न करता रहता है। भक्तिमार्ग के साधक को अन्त में हम कहाँ पहुँचेंगे, इस बात का ज्ञान बहुधा नहीं रहता; परन्तु उस मार्ग में रहते हुए उसे उत्तरोत्तर उच्च अवस्था प्राप्त होती जाती है और अन्त में वह जगत् के अतीत अद्वैत वस्तु का साक्षात्कार कर ही लेता है। कुछ भी हो, इन दोनों ही साधकों को साधारण मनुष्यों की सी जगत्सम्बन्धी धारणा छोड़ देनी पड़ती है। ज्ञानमार्ग का साधक प्रारम्भ से ही इस धारणा को छोड़ने का प्रयत्न करता रहता है और भक्तिमार्ग का साधक उसे आधी रखकर और आधी छोड़कर साधना का प्रारम्भ करता है, पर अन्त में उसकी वह धारणा पूरी छूट जाती है और वह 'एकमेवाद्वितीयम्' ब्रह्मवस्तु का साक्षात्कार कर लेता है। जगत् के सम्बन्ध में स्वार्थपरता, सुखभोग की लालसा इत्यादि धारणाओं को छोड़ देने का ही नाम शास्त्रों में 'वैराग्य' है। मानवजीवन की क्षणभंगुरता का ज्ञान मनुष्य को उसी समय हो जाता है। इसी कारण मालूम पड़ता है कि जगत्सम्बन्धी साधारण धारणा को छोड़कर 'नेति नेति' मार्ग से जगत्कारण की खोज करने की कल्पना प्राचीन काल में मनुष्य के मन में उत्पन्न हुई होगी; इसीलिए तो ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग दोनों एक समान चलते हुए भक्तिमार्ग की पूर्णता होने के पहले उपनिषदों में इस 'नेति नेति' अथवा ज्ञानमार्ग की पूर्णता होती हुई दिखायी पड़ती है।

'नेति नेति' मार्ग में चलने से थोड़े ही समय में मनुष्य अन्त-र्दृष्टिसम्पन्न हो जाता है, ऐसा उपनिषदों से दिखता है। जब मनुष्य को यह पता लग गया कि अन्य दूसरी बाह्य वस्तुओं की अपेक्षा देह और मन द्वारा ही संसार से अपना अधिक सम्बन्ध होता है और इस कारण अन्य सब बाह्य वस्तुओं की सहायता की अपेक्षा देह और मन की ही सहायता से हमें जगत्कारण ब्रह्म-वस्तु का पता अधिक शीघ्र लगेगा तथा 'एक दाने पर से भात की परीक्षा' के न्याय से यदि अपने में ही जगत्कारण का पता लग गया तो बाहरी वस्तुओं में भी स्वभावत: उसका पता लगना सरल होगा ऐसा सोचकर "मैं क्या हूँ" इस प्रश्न को हल करने की ओर ही ज्ञानमार्गवाले साधक का सब ध्यान खिच जाता है।

अभी ही बताया गया है कि ज्ञान और भक्ति दोनों मार्ग के साधकों को संसार सम्बन्धी साधारण कल्पना का त्याग करना पड़ता है। इस कल्पना का नि:शेष त्याग करने पर ही मनुष्य का मन सर्ववृत्तिरहित होकर समाधि का अधिकारी होता है। इस प्रकार की समाधि को ही शास्त्रों ने 'निर्विकल्प समाधि' कहा है। इस समाधि की अधिक विवेचना अभी न करके 'सविकल्प समाधि' के सम्बन्ध में कुछ चर्चा की जाती है।

हम ऊपर पढ़ चुके हैं कि भक्तिमार्ग का दूसरा नाम 'इति इति' मार्ग है; क्योंकि इस मार्ग का साधक यद्यपि जग को क्षणभंगुर जान लेता है तथापि उसे जगत्कर्ता ईश्वर पर विश्वास रहता है और उसका निर्माण किया हुआ जगत् सत्य है, यह वह समझा करता है। जगत् की सभी वस्तुओं और व्यक्तियों का ईश्वर से ऐसा सम्बन्ध देखकर भक्त को वे सब अपने ही हैं, ऐसा मालूम होता है। इस सम्बन्ध के प्रत्यक्ष अनुभव करने में उसे जो जो बातें

विघ्नरूप दिखायी देती हैं उन सभी को दूर करने का वह प्रयत्न करता है । इसके सिवाय ईश्वर के किसी एक रूप पर प्रेम करना, उसी रूप के ध्यान में तन्मय हो जाना और ईश्वरार्पण-बुद्धि से सब कर्म करना आदि इन्हीं बातों की ओर उसका लक्ष्य रहता है।

ईश्वर का ध्यान करते समय पहले पहल उसकी सम्पूर्ण मूर्ति को भक्त अपने मानसचक्षु के सामने नहीं ला सकता । कभी हस्त, कभी चरण, कभी मुख ऐसे एक दो अवयव ही आँखों के सामने आते हैं और ये भी दिखते ही अदृश्य हो जाते हैं, अधिक समय तक स्थिर नहीं रहते । अभ्यास से ध्यान उत्तरोत्तर दृढ़ हो जाने पर क्रमशः सर्वांगपूर्ण मूर्ति मन में स्थिर रहने लगती है । जैसे जैसे ध्यान तन्मयता के साथ होने लगता है वैसे वैसे उस मूर्ति में सजीवता दिखायी देती है । कभी वह हँसती है, कभी बोलती है, ऐसा दिखते दिखते अन्त में उसका वह स्पर्श भी कर सकता है, और तब तो उसे उस मूर्ति के सजीव होने में कोई शंका ही नहीं रह जाती और आँखें मूँदकर या खोलकर किसी भी स्थिति में उस मूर्ति का स्मरण करते ही उसे वह देख सकता है। आगे चल कर 'हमारे इष्टदेव चाहे जो रूप धारण कर सकते हैं' इस विश्वास के बल से उसे अपने इष्टदेव की मूर्ति में नाना प्रकार के दिव्य रूपों के दर्शन प्राप्त होते हैं । श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "जो एक ही रूप का सजीव भाव से दर्शन करता है उसे और सभी प्रकार के रूपों का दर्शन सहज ही हो सकता है ।"

जिन्हें इस प्रकार सजीव मूर्ति के दर्शन का लाभ हो गया है उन्हें ध्यानकाल में दिखने वाली मूर्तियाँ जागृत अवस्था में दिखने वाले पदार्थों के समान ही सत्य हैं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है । तत्प-

श्चात् बाह्य जगत् और भावावस्था ये दोनों ही एक समान सत्य हैं, यह ज्ञान जैसे जैसे अधिक दृढ़ होता जाता है वैसे वैसे उसकी यह धारणा होने लगती है कि बाह्य जगत् केवल एक मनःकल्पित वस्तु है। इसके सिवाय अत्यन्त गम्भीर ध्यानकाल में भावराज्य का अनुभव भक्त के मन में इतना प्रबल रहता है कि उस समय उसे बाह्य जगत् का लेशमात्र भी अनुभव नहीं होता। इस प्रकार की अवस्था को शास्त्रों में 'सविकल्प समाधि' की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार की समाधि में बाह्य जगत् का पूर्ण लोप होने पर भी भावराज्य का पूर्ण लोप नहीं होता। जगत् की वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्ध होने पर हमें जैसे सुख-दुःख का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार का अनुभव भक्त को अपनी इष्ट मूर्ति के सम्बन्ध में हुआ करता है। उसके मन में उस अवस्था में उत्पन्न होने वाले सभी संकल्प-विकल्प अपनी इष्ट मूर्ति के ही सम्बन्ध में हुआ करते हैं। भक्त के मन में उत्पन्न होने वाली सभी वृत्तियाँ इस अवस्था में एक ही वस्तु के अवलम्बन से उत्पन्न होती हैं; अतः शास्त्रों में इस अवस्था को 'सविकल्प समाधि' अथवा 'विकल्प-संयुक्त समाधि' कहा गया है।

इस प्रकार भावराज्यान्तर्गत विषयों का ही सतत चिन्तन करते रहने के कारण भक्त के मन से स्थूल (बाह्य) जगत् का सहज ही लोप हो जाता है। जिस भक्त साधक ने इतनी मंजिल तय कर ली उसके लिए यहाँ से निर्विकल्प समाधि कुछ अधिक दूर नहीं रह जाती। जो अनेक जन्म से अभ्यास किये हुए जगत् के अस्तित्वज्ञान को इतनी पूर्णता से मिटा सकता है उसका मन अत्यन्त शक्तिसम्पन्न हो चुकता है, यह बताना अनावश्यक है। मन को पूर्ण रीति से निर्विकल्प कर लेने पर ईश्वर से अपना अत्यन्त निकट

सम्बन्ध हो जायेगा, यह बात एक बार उसके ध्यान में आते ही उसी दृष्टि से वह अपनी सारी शक्तियाँ एकत्रित करके प्रयत्न करने लगता है और श्रीगुरु और ईश्वर की कृपा से भावराज्य की अत्युच्च भूमि में जाकर अद्वैतज्ञान के साक्षात्कार द्वारा चिरशान्ति का अधिकारी हो जाता है। या यों कहिये, इष्टदेवता का अत्युत्कट प्रेम ही उसे यह मार्ग दिखा देता है और उसी की प्रेरणा से वह अपने इष्टदेव के साथ एकता का अनुभव करने लगता है।

ज्ञान और भक्ति मार्ग के साधक इसी क्रम से अपने ध्येय को पहुँचते हैं, पर अवतारी महापुरुषों में दैवी और मानवीय दोनों भावों का सम्मिश्रण जन्म से ही विद्यमान रहने के कारण उनमें साधनाकाल में भी कभी कभी सिद्धों की शक्ति और पूर्णता दिखायी देती है। दैवी और मानव दोनों भूमिकाओं में विहार करने की शक्ति उनमें स्वभावतः रहने के कारण या अन्तःस्थित देवभाव ही उनकी स्वाभाविक अवस्था होने के कारण बाहरी मानवभाव का आवरण समय समय पर दूर हटाकर वे प्रकट होते दिखायी देते हैं। इस तरह इस विषय की किसी भी प्रकार की मीमांसा करने का प्रयत्न कीजिये तथापि अवतारी महापुरुषों के जीवनचरित्र को यथार्थ रीति से समझने में मानवबुद्धि असमर्थ ही रहती है। उनके जीवन के गूढ़ रहस्यों का पूरा पार पाना मनुष्य की बुद्धि के लिए कदापि सम्भव नहीं है। तथापि श्रद्धायुक्त अन्तःकरण से उनके चरित्रों का मनन करने से मनुष्य का कल्याण ही होता है। प्राचीन काल में ऐसे महापुरुषों के जीवन के मानवभाव को अलग रखकर उनके देवभाव का ही विचार किया गया है। पर आजकल के सन्देहशील युग में उनके देवभाव की उपेक्षा करके केवल उनके मानवभाव का ही विचार किया जाता है। प्रस्तुत विषय में हम

यही स्पष्ट रूप से समझाने का प्रयत्न करेंगे कि ऐसे महापुरुषों के जीवन में दैवी और मानवी दोनों भाव एक साथ कैसे विद्यमान रहा करते हैं। देव-मानव श्रीरामकृष्ण के पुण्य दर्शन का लाभ यदि हमें न हुआ होता तो इसमें सन्देह नहीं कि हम ऐसे महापुरुष के चरित्र को उपरोक्त दोनों दृष्टि से कदापि नहीं देख पाते।

११. साधकभाव का प्रारम्भ

"दाल रोटी प्राप्त करने वाली विद्या मुझे नहीं चाहिए ;
मुझे तो वही विद्या चाहिए, जिससे कि हृदय में ज्ञान का उदय
होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।"

—रामकुमार को श्रीरामकृष्ण का उत्तर।

श्रीरामकृष्ण की भावतन्मयता के सम्बन्ध में पीछे बतलायी हुई बातों के सिवाय उनके बालपन की और भी अनेक बातें सुनने में आती हैं। बहुतसी छोटी छोटी बातों पर से उनकी उस समय की मनोवृत्ति का पता सहज ही लग जाता है। एक बार गाँव का कुम्हार शिव, दुर्गा आदि देवी-देवताओं की मूर्तियाँ बना रहा था। अपने बालमित्रों के साथ घूमते घूमते गदाधर सहज ही वहाँ आ पहुँचा और उन प्रतिमाओं को देखते देखते एकदम बोल उठा, "अरे, यह क्या किया है ? क्या देवताओं की आँखें ऐसी होती हैं ? देखो, आँखें इस तरह चाहिए।" ऐसा कहकर भौहें कैसी हों, आँखों का आकार कैसा हो, दृष्टि कैसी होने से आँखों में दैवी-शक्ति, करुणा, अन्तर्मुखी भाव, आनन्द आदि गुण एकत्रित होकर मूर्ति में सजीवता का भास होता है, आदि आदि विषय में उस कुम्हार को गदाधर ने प्रत्यक्ष जानकारी प्राप्त करा दी। गदाधर की यह जानकारी देखकर वह कुम्हार और दूसरे लोग आश्चर्यचकित रह गये।

अपने बालमित्रों के साथ खेलते खेलते एकदम गदाधर को

किसी देवता की पूजा करने की इच्छा हो जाती थी और तत्काल वह मृत्तिका की ऐसी सुन्दर मूर्ति तैयार कर डालता था कि देखने वालों को वह मूर्ति किसी चतुर कारीगर की बनायी हुई मालूम पड़ती थी ।

किसी को कल्पना न रहते हुए या उस सम्बन्ध की बातें न होते हुए भी किसी से गदाधर एक-आध ऐसा वाक्य बोल बैठता था कि उसे सुनकर उसके मन का बहुत दिनों का कोई प्रश्न हल हो जाता था और उसकी शंकाओं का समाधान हो जाता था ।

श्रीरामकृष्ण के बाल्यकाल की जो अनेक बातें सुनने में आती हैं, असल में वे सभी उनके उच्च भूमि पर आरूढ़ होने की शक्ति की द्योतक नहीं हैं । उनमें कुछ सचमुच उच्च कोटि की हैं और शेष साधारणत: निचली श्रेणी की हैं । कुछ से उनकी अद्‌भुत स्मरणशक्ति, कुछ से प्रबल विचारशक्ति, कुछ से दृढ़ निश्चय, विलक्षण साहस, रसिकता, अपार प्रेम आदि दिखता है । परन्तु इन सब के मूल में असाधारण विश्वास, पवित्रता और नि:स्वार्थता से ओतप्रोत उनका स्वभाव दिखायी देता है । ऐसा मालूम होता है कि उनका मन सच्चे विश्वास, पवित्रता और स्वार्थहीनता आदि से गढ़ा गया है और संसार के आघातों के कारण उसमें स्मरण-शक्ति, निश्चय, साहस, विनोद, प्रेम, करुणा इत्यादि तरंगरूप से उठा करते हैं ।

इस सम्बन्ध में कुछ घटनाओं का यहाँ उल्लेख कर देने से पूर्वोक्त विषय पाठकों की समझ में सहज ही आ जायेगा ।

मेले में राम, कृष्ण आदि के चरित्रों का नाटक देखने के बाद गदाधर घर आकर उनकी नकल करता था और अपनी बालगोपाल मित्रमण्डली को माणिकराजा की अमराई में ले जाता था । वहाँ

लड़कों को भिन्न भिन्न पात्रों के कार्य सिखाकर मुख्य नायक का काम वह स्वयं करता था। इस प्रकार मेले में देखे हुए नाटक वह बहुतेरे अंशों में ज्यों के त्यों तैयार कर लेता था।

"उपनयन के समय प्रथम भिक्षा तेरे हाथ से लूँगा"––इस प्रकार का वचन छुटपन में ही गदाधर ने अपने ऊपर अत्यन्त प्रेम करने वाली धनी नाम की लुहारिन को दे रखा था और उपनयन के समय घर के लोगों की, सामाजिक रूढ़ि की और किसी के भी कहने की परवाह न करते हुए उसने अपने वचन का अक्षरशः पालन किया।

"क्या गदाधर कभी मेरे हाथ से खाकर मुझे धन्य करेगा ?"–– यह भावना उस स्त्री के प्रेमपूर्ण हृदय में उठा करती थी; पर मैं नीच जाति की स्त्री हूँ, क्या मेरी इच्छा पूरी होगी ?––ऐसा सोचकर वह मन ही मन सदा दुःखी हो जाती थी। गदाधर को यह बात किसी तरह मालूम हो गयी; उसने निर्भयतापूर्वक उस सरल और दयालु स्त्री के हाथ से खाकर उसे आह्लादित कर दिया।

शरीर में भस्म रमाये, सिर पर जटा बढ़ाये, हाथ में बहुत लम्बा चिमटा लिये हुए साधु को देखकर साधारणतः बालकों को डर लगता है; पर गदाधर को डर क्या चीज है मालूम ही नहीं था। गाँव के बाहर की धर्मशाला में उतरने वाले ऐसे साधुओं से वह आनन्दपूर्वक मिलता था, उनसे गपशप करता था, उनके पास से खाता था और उनका रहनसहन बारीकी के साथ और सावधानी से देखा करता था। कभी कभी ऐसे साधु लोग उसे टीका आदि लगाकर सजा देते थे तो उसे बड़ा अच्छा लगता था और अपने घर जाकर वह घर के लोगों को अपना वह वेष बड़े शौक से दिखाता था।

गाँव मे नीच जाति के लोगों को पढ़ना लिखना नहीं आता था।

इस कारण वे लोग रामायण, महाभारत, पुराण इत्यादि की कथा कहने के लिए किसी पौराणिक को बड़े आदर सम्मान से बुलाते थे। वे लोग उनकी कितनी खुशामद करते थे! उनके पैर धोने के लिए पानी, हाथ पाँव पोंछने के लिए कपड़ा, धूम्रपान के लिए नया हुक्का, बैठने के लिए सुन्दर सजायी हुई व्यासगद्दी इत्यादि सामग्री वे लोग बड़े भक्तिभाव से तैयार करके रखते थे। पौराणिक महाराज इस सम्मान से फूलकर अपने आपको साक्षात् बृहस्पति समझने लगते थे! फिर उनका वह शान के साथ बैठना, अद्‌भुत ढंग से हाथ हिलाना, पोथी की ओर देखते देखते कभी चष्मे की काँच के भीतर से, और श्रोताओं की ओर देखते देखते सिर थोड़ा झुकाकर, कभी चष्मे के ऊपरी भाग और भौंहों के बीच से, कभी चष्मा माथे पर चढ़ाकर खाली आँखों से रुआब के साथ देखना, अपने चेहरे पर गम्भीरता लाना--उनके इन सब चरित्रों को तीक्ष्ण-दृष्टिसम्पन्न गदाधर बड़ी बारीकी से देखा करता था। तदुपरान्त किसी समय लोगों के सामने वह इन सब बातों की हूबहू नकल करके दिखा देता था जिससे वे लोग हँसते हँसते लोटपोट हो जाया करते थे!

उपरोक्त बातों से श्रीरामकृष्ण के बाल्यकाल के स्वभाव की कुछ कल्पना हो सकती है। अस्तु--

इसके पूर्व हम कह आये हैं कि अपने छोटे भाई का विद्याध्ययन ठीक हो तथा थोड़ीबहुत सहायता उसे भी मिल सके, इस हेतु से रामकुमार ने गदाधर को कलकत्ता लाकर अपने साथ रखा था। रामकुमार ने झामापुकुर में अपनी पाठशाला खोली थी और उस मोहल्ले के कुछ घरों की देवपूजा का भार भी अपने जिम्मे ले रखा था; परन्तु उनका बहुत सा समय पाठशाला के ही कार्य में बीत

जाने से देवपूजा के लिए समय नहीं रहता था। इस काम को छोड़ देने से भी कैसे चल सकता था? अतः उन्होंने देवपूजा का काम गदाधर को सौंप दिया था। उससे गदाधर को भी आनन्द हुआ। वह देवपूजा का कार्य दोनों समय बड़ी तत्परता से करने के अतिरिक्त अपने बड़े भाई से कुछ पढ़ने भी लगा। कुछ ही दिनों में अपने स्वाभाविक गुणों के कारण गदाधर अपने यजमानों के घर के सभी लोगों को बहुत प्रिय हो गया। उसके सुन्दर रूप, कार्यकुशलता, सरल व्यवहार, मिष्ट भाषण, देवभक्ति और मधुर स्वर ने यहाँ भी, कामारपुकुर के समान, सभी लोगों पर एक प्रकार की मोहनी सी डाल दी। कामारपुकुर के ही समान यहाँ भी उसने अपने आसपास बालगोपाल की मण्डली जमा कर ली और उनकी संगत में अपने दिन आनन्द से बिताने लगा। कलकत्ता आकर भी अध्ययन में उसकी कोई विशेष उन्नति नहीं हुई।

यह देखकर रामकुमार को चिन्ता तो होने लगी, परन्तु गदाधर आज पढ़ेगा, कल पढ़ेगा इसी आशा से उससे कुछ न कहकर बहुत दिनों तक वे शान्त रहे तथापि उसके विद्याभ्यास की ओर ध्यान देने के कोई लक्षण दिखायी नहीं दिये। तब तो इसे चेतावनी देनी ही चाहिए, ऐसा निश्चय करके रामकुमार ने गदाधर को विद्याभ्यास करने का उपदेश दिया। बड़े भाई की बातें शान्ति के साथ सुनकर गदाधर ने उन्हें नम्रता से, परन्तु स्पष्ट उत्तर दिया--"दाल-रोटी प्राप्त कराने वाली विद्या मुझे नहीं चाहिए, मुझे तो वही विद्या चाहिए जिससे हृदय में ज्ञान का उदय होकर मनुष्य कृतार्थ हो जाता है।"

गदाधर का यह उत्तर उस समय रामकुमार की समझ में ठीक ठीक नहीं आया। उनका गदाधर पर प्रेम था। इसी कारण उसकी

इच्छा के विरुद्ध विद्या पढ़ने में लगाकर उसे दुःखी करने में रामकुमार को कष्ट प्रतीत होता था; अतः गदाधर से और कुछ न कहकर वह जैसा चाहे वैसा उसे करने देने का निश्चय रामकुमार ने किया।

बाद के वर्षों में रामकुमार की आर्थिक स्थिति सुधरने के बदले और भी गिरती गयी। पाठशाला के बालकों की संख्या घटने लगी। अनेक प्रकार के परिश्रम करने पर भी पैसा नहीं मिलता था। अतः पाठशाला बन्द करके और कोई काम करें, यह विचार उनके मन में आने लगा; परन्तु कुछ भी निश्चय न हो सका। इसी तरह यदि और कुछ दिन बीतें तो ऋण का भार बढ़ने से स्थिति भयानक हो जायगी, इसी बात की चिन्ता उन्हें लगी रहती थी और कोई दूसरा उपाय भी नहीं सूझता था। पर वे क्या करते? यजन-याजन और अध्यापन के अतिरिक्त उनके लिए और कार्य ही क्या था? पैसा कमाने की कोई अन्य विद्या उन्हें आती ही नहीं थी। तो फिर यह समस्या कैसे हल हो? ऐसा सोचते सोचते ईश्वर पर भरोसा रखकर अपनी उन्नति के लिए कोई साधन आसमान से टपकने की राह देखते हुए साधुवृत्ति वाले रामकुमार अपना पुराना कार्य ही किसी तरह करते रहे और ईश्वर की अचिन्त्य लीला ने यथार्थ में इस प्रकार का एक साधन शीघ्र ही आसमान से टपका दिया।

---

१२. रानी रासमणि और दक्षिणेश्वर

"रानी रासमणि जगदम्बा की अष्ट नायिकाओं में से एक थीं।"

"माता भोजन करती हैं कालीघाट में और विश्राम करती हैं दक्षिणेश्वर में।"

—श्रीरामकृष्ण

इधर रामकुमार अपनी गृहस्थी की चिन्ता में मग्न थे और उधर कलकत्ते के दूसरी ओर श्रीरामकृष्ण का साधनास्थान, उनकी उत्तर अवस्था का कार्यक्षेत्र तथा उनके विचित्र लीलाभिनय का स्थल निर्माण हो रहा था। ईश्वर की अचिन्त्य लीला द्वारा, उनके भावी चरित्र से अति घनिष्ठ सम्बन्ध रखने वाला, रानी रासमणि का दक्षिणेश्वर का विशाल कालीमन्दिर बनकर तैयार हो रहा था।

कलकत्ते के दक्षिण भाग में जानबाजार नामक मोहल्ले में सुप्रसिद्ध रानी रासमणि का निवासस्थान था। वह जाति की ढीमर थीं। रामचन्द्रदास अपने पीछे अपनी पत्नी रानी रासमणि और चार कन्याओं को छोड़कर परलोक चले गये। उस समय रानी रासमणि की आयु ४४ वर्ष की थी। अपने प्रिय पति की अपार सम्पत्ति के प्रबन्ध का कठिन कार्य उन पर आ पड़ा। वह अत्यन्त व्यवहारकुशल होने के कारण सम्पत्ति की सब व्यवस्था स्वयं ही कर लेती थीं। उनके सुन्दर प्रबन्ध से सम्पत्ति की उत्तरोत्तर वृद्धि होने लगी और उनका नाम सारे कलकत्ता शहर में शीघ्र ही गूँजने लगा। अपनी सम्पत्ति का प्रबन्ध करने में चतुर होने के

कारण उनका नाम प्रसिद्ध हुआ यह बात नहीं है; वरन् साहस, बुद्धिमत्ता, तेजस्वी और मानी स्वभाव, ईश्वरभक्ति और विशेषत: दु:खी-क्लेशित लोगों के प्रति करुणा आदि गुण ही उनकी प्रसिद्धि के कारण थे। उनके इन गुणों के कुछ उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

इनके जानबाजार के निवासस्थान से थोड़ी ही दूर पर अंग्रेजी फौज की छावनी थी। एक दिन कुछ अंग्रेज सिपाही शराब के नशे में मस्त होकर रानी के दरवानों की मनाई की भी परवाह न करके बेधड़क रानी के बाड़े में घुस पड़े और वहाँ मनमानी धूम मचाने लगे। मथुरबाबू इत्यादि पुरुष मण्डली कहीं बाहर गयी थी, इस कारण इन सिपाहियों को रोकने का साहस किसी से न हो सका। बाहरी चौक में उपद्रव मचाकर अब वे सिपाही भीतर घुसने लगे। यह देखते ही स्वयं रानी रासमणि हाथ में हथियार लेकर उनका मुकाबला करने के लिए निकल पड़ी। इतने में ही लोग जमा हो गये और उन सिपाहियों का उचित बन्दोबस्त कर दिया गया।

एक बार सरकार ने गंगाजी में मछली पकड़ने के लिए ढीमर लोगों पर कर लगा दिया था। उनमें से बहुतेरे रानी की ही जमीनों में बसे हुए थे। कर लगाने की बात रानी को विदित होते ही उन लोगों को उन्होंने अभय कर दिया और सरकार से मछली पकड़ने का हक बहुत सा पैसा खर्च करके रानी ने स्वयं खरीद लिया। हक का सर्टिफिकेट सरकार से पाते ही रानी ने नदी के एक किनारे से दूसरे किनारे तक बड़ी बड़ी मोटी जंजीरें जाली के समान बनवा कर पक्की बँधवा दीं! इससे नदी में से जहाजों का आना जाना बन्द हो गया। रास्ता रोकने का कारण सरकार ने जब

पूछा तो रानी ने उत्तर दिया—"यहाँ पर जहाजों का आवागमन लगातार बना रहने के कारण नदी की मछलियाँ दूसरी ओर भाग जाती हैं, इससे मुझे बड़ी हानि होती है। मछली पकड़ने का हक मैंने खरीद लिया है और मुझे अपने सुभीते के लिए ऐसा करना जरूरी है। फिर भी यदि नदी की मछली पकड़ने के लिए सरकार आज से कर लगाना बन्द कर दे तो मैं भी अपना हक छोड़ दूँगी और इन जंजीर के खम्भों को तुरन्त निकलवा दूँगी।" इस युक्ति-वाद से सरकार निरुत्तर हो गयी और उस कर को उसे रद्द करना पड़ा। श्रीकालीमाता के चरणों में रानी रासमणि की बड़ी भक्ति थी; उनकी मुहर में "कालीपदाभिलाषी श्रीमती रासमणि दासी" ये शब्द खुदे हुए थे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "तेजस्वी रानी की देवीभक्ति इसी प्रकार अन्य सभी विषयों और कार्यों में दिखायी देती थी।"

लोकोपयोगी कार्यों के लिए रानी सदा उद्यत रहती थीं। उन्होंने नदी में जगह जगह घाट बँधवाये, यात्रियों के लिए दो तीन सड़कें बनवायीं, कई जगह कुएँ खुदवाये और कहीं कहीं अन्नक्षेत्र भी स्थापित किये। अपनी जमींदारी की प्रजा के सुख के लिए वे अनेक उपाय करती थीं। अनेक देवस्थानों की यात्रा करके उन्होंने बहुत सा धन मन्दिरों को दान में दिया। इस प्रकार इस साध्वी स्त्री ने अपने गुणों और सत्कार्यों से अपना "रानी" नाम सार्थक किया।

जिस समय की बातें हम बता रहे हैं उस समय रानी की चारों कन्याओं का विवाह हो चुका था और उन्हें सन्तति भी हो चुकी थी। तीसरी कन्या करुणामयी का विवाह उन्होंने मथुरानाथ विश्वास नामक एक कुलीन परन्तु साधारण घराने के लड़के के

साथ किया था; पर विवाह के थोड़े ही दिनों बाद करुणामयी का स्वर्गवास हो गया। मथुरानाथ पर रानी का बहुत स्नेह था और वे रानी के पास ही रहकर उन्हें उनकी सम्पत्ति के प्रबन्ध में सहायता देते थे। करुणामयी की मृत्यु के बाद दूरदर्शी तथा व्यवहारदक्ष रानी ने अपनी कनिष्ठ कन्या जगदम्बादासी का विवाह मथुरानाथ के ही साथ कर दिया।

रानी के मन में बहुत समय से काशीयात्रा करने का विचार हो रहा था। उन्होंने यात्रा की सभी तैयारी कर ली थी और बहुत-सा धन यात्रा के खर्च के लिए अलग रख लिया था। कलकत्ते से यात्रा के लिए प्रस्थान करने के पूर्व रात्रि के समय देवी ने उन्हें स्वप्न में दर्शन देकर कहा, "तू काशी मत जा। भागीरथी के किनारे मेरे लिए एक सुन्दर मन्दिर बनवा दे और वहाँ मेरी नित्य-पूजा का प्रबन्ध कर दे जिससे मैं वहाँ रहकर तेरी पूजा ग्रहण किया करूँगी।" इस आदेश को पाकर रानी ने अपने को धन्य माना और काशीयात्रा का विचार त्यागकर देवी के आदेशानुसार चलने का उन्होंने तुरन्त निश्चय किया।

तत्पश्चात् रानी ने भागीरथी के किनारे के बहुत से स्थानों में से देखकर कलकत्ता के उत्तर की ओर दक्षिणेश्वर ग्राम के समीप एक स्थान पसन्द किया और सन् १८४७ के सितम्बर मास में वहाँ ५० बीघे जमीन खरीदकर शीघ्र ही उस पर इस वर्तमान विशाल और विस्तृत कालीमन्दिर बनवाने का कार्य प्रारम्भ कर दिया। सात वर्ष लगातार काम चलने पर भी सन् १८५४ में काम पूरा नहीं हुआ था, तो भी इस शरीर का कोई भरोसा नहीं है और इमारत का काम इसी प्रकार चलता रहा तो उसके सम्पूर्ण होते तक चुप बैठना ठीक नहीं है, यह सोचकर मुख्य कालीमन्दिर

के पूर्ण होते ही रानी ने सन् १८५५ में देवी की प्राणप्रतिष्ठा करा दी।

परन्तु उन्हें इस कार्य में अनेक विघ्नों का सामना करना पड़ा। देवी का मन्दिर तैयार तो हो गया, परन्तु पूजाअर्चा, नैवेद्य इत्यादि नित्य-सेवा चलाने योग्य ब्राह्मण कैसे मिले ! रानी तो जाति की ढीमर थीं; शूद्रा की नौकरी करने के लिए कौन तैयार होता ? उस समय सामाजिक प्रथा यह थी कि शूद्रों के बनाये हुए देवालय में पूजा करना तो क्या, कोई कर्मठ ब्राह्मण उस मन्दिर के देवता को प्रणाम तक नहीं करता था। रानी की देवी पर प्रगाढ़ भक्ति होने के कारण उनके मन में ऐसा विचार आता था कि "पूजा करने के लिए ब्राह्मण ही क्यों चाहिए ? क्या देवी मेरे हाथ से सेवा ग्रहण नहीं करेगी ? मैं ही स्वयं पूजा करूँगी और देवी की सब सेवा करूँगी।" पर तुरन्त ही वे यह भी सोचने लगती थीं "यह तो सब ठीक है, पर यदि मैं ही स्वयं नित्य-सेवा करने लगूँ तो शास्त्रविरुद्ध आचरण हो जाने के कारण भक्त ब्राह्मण आदि मन्दिर में आकर प्रसाद ग्रहण नहीं करेंगे। फिर इतना बड़ा मन्दिर बनवाने का क्या लाभ ?" इस विषय में उन्होंने अनेक शास्त्री और पण्डितों से परामर्श किया, पर कोई सन्तोषजनक व्यवस्था होने की आशा न दिखी।

इधर मन्दिरत था मूर्ति तैयार हो गयी, पर देवी की नित्य-पूजा की व्यवस्था न हो सकने के कारण "इतना बड़ा मन्दिर बनाना क्या व्यर्थ ही होगा" इस चिन्ता से रानी रातदिन बेचैन रहा करती थीं। ऐसे संकट की अवस्था में झामापुकुर की पाठशाला के अध्यापक (रामकुमार) ने एक युक्ति सुझायी कि देवी का मन्दिर और सब सम्पत्ति यदि रानी किसी ब्राह्मण को दान कर दें और तत्पश्चात्

वह ब्राह्मण देवी की नित्य-सेवा का प्रबन्ध करे तो शास्त्रीय नियमों का उल्लंघन नहीं होगा और ब्राह्मण आदि उच्चवर्ण के लोगों को वहाँ प्रसाद ग्रहण करने में भी कोई आपत्ति न होगी।

यह व्यवस्था सुनकर रानी को धीरज हुआ और उन्होंने देवी की सम्पत्ति को अपने गुरु के नाम करके उनकी अनुमति से स्वयं उस सम्पत्ति की व्यवस्थापिका बनकर रहने का इरादा किया। यह बात शास्त्री लोगों से बताने पर उन्होंने उत्तर दिया, "नहीं, ऐसी चाल कहीं नहीं है और ऐसा करने पर भी कोई ब्राह्मण उस मन्दिर में नहीं जायेगा।" पर उन्हें इसे शास्त्रविरुद्ध आचरण कहने का साहस नहीं हुआ।

सब पण्डितों के मत के विरुद्ध रामकुमार को अपना मत स्पष्ट प्रकट करते हुए देखकर तथा यह जानकर कि वे उन लोगों की परवाह नहीं करते, रानी को रामकुमार के सम्बन्ध में बड़ी आशा हुई और उनके बारे में रानी के मन में आदर उत्पन्न हुआ।

रानी के पास शिरूड़ गाँव का महेशचन्द्र चटर्जी नामक एक कर्मचारी था। उससे एक बार सदाचारी, निष्ठावान तथा विद्वान ब्राह्मण ढूंढ़ने के लिए रानी ने कहा। इस काम के करने में पुरस्कार पाने का अच्छा अवसर देखकर उसने श्रीराधा-गोविन्दजी की पूजा के लिए अपने बड़े भाई क्षेत्रनाथ की तजवीज करा दी। परन्तु श्रीकालीदेवी की पूजा के लिए उसे कोई भी योग्य ब्राह्मण नहीं मिला। रामकुमार का गाँव उसके गाँव के समीप ही होने के कारण उन्हें वह जानता था और घर की स्थिति ठीक न रहने के कारण कलकत्ते में आकर रामकुमार ने पाठशाला खोली है यह बात भी उसे विदित थी; पर शूद्र से दान भी न लेने वाले क्षुदिराम का लड़का इस कार्य के लिए सहमत होगा अथवा नहीं, इस बात

की प्रबल शंका उसके मन में थी। अतः रामकुमार से स्वयं न पूछकर रानी को सब बातें उसने बता दीं और रानी को ही रामकुमार से इस विषय में स्वयं पूछ लेने के लिए कह दिया। रामकुमार यदि देवी की पूजा का भार उठा लें तो बड़ा अच्छा होगा, इस विचार से रानी आनन्दित हुईं और उन्होंने उसी समय एक पत्र रामकुमार के पास ले जाने के लिए महेशचन्द्र से ही कहा।

इस पत्र को पाकर रामकुमार ने विचार करने के बाद रानी की विनती को मान्य करने का निश्चय किया। इस अद्‌भुत संयोग से रामकुमार का और उनके कारण गदाधर का दक्षिणेश्वर से सम्बन्ध हो गया। श्रीजगदम्बा की अचिन्त्य लीला से रामकुमार पुजारी के पद पर निर्वाचित हुए। योग्य पुजारी मिल जाने से रानी की भी चिन्ता दूर हुई।

ता. ३१ मई १८५५ को बड़े समारोह के साथ कालीजी के नये मन्दिर में देवी की प्राणप्रतिष्ठा हुई और सारे दिन दक्षिणेश्वर का कालीमन्दिर आनन्द से गूँजता रहा। रानी ने उस उत्सव में पानी के समान पैसा खर्च किया! काशी, प्रयाग, कन्नौज, नवद्वीप आदि स्थानों के बड़े बड़े नामी पण्डित और विद्वान ब्राह्मण उस उत्सव में सम्मिलित हुए थे। उन सभी ब्राह्मणों में से प्रत्येक को रानी ने एक एक रेशमी वस्त्र, एक दुपट्टा और एक मुहर दक्षिणा में दी। दिन भर भोजन के लिए लोगों की पंगत पर पंगत बैठती रही। मन्दिर बनवाने और प्राणप्रतिष्ठा करने में रानी ने कुल ९ लाख रुपये खर्च किये। देवी की नित्य-पूजा की ठीक व्यवस्था रखने के लिए रानी ने दो लाख छब्बीस हजार रुपये व्यय करके दिनाजपुर जिले का शालवाड़ी परगना खरीदकर उसकी आमदनी यहाँ के खर्च के लिए लगा दी।

उस दिन के इतने बड़े उत्सव में वहाँ प्रसाद न लेने वाला केवल एक ही व्यक्ति रह गया। वह था गदाधर! वहाँ के सभी कार्यक्रम में उसने बड़े उत्साह से भाग लिया। लोगों के साथ खूब आनन्द मनाया, परन्तु आहार के सम्बन्ध में बड़ा विवेकी और नैष्ठिक होने के कारण अथवा अन्य किसी कारण से ही उसने सारा दिन उपवास में बिता दिया और सन्ध्या समय पास की ही एक दूकान से एक पैसे का चिउड़ा लेकर खा लिया और रात होने पर झामापुकुर को लौट गया।

देवी की प्राणप्रतिष्ठा का वृत्तान्त कभी कभी श्रीरामकृष्ण स्वयं ही हम लोगों से बताया करते थे। वे कहते थे, "रानी ने काशीयात्रा की सब तैयारी कर डाली थी। प्रस्थान का दिन भी निश्चित हो गया था। साथ में ले जाने का आवश्यक सामान १०० नौकाओं में भरकर घाट पर तैयार था। अगले दिन रात्रि को 'तू काशी मत जा, यहीं मेरा मन्दिर बनवा दे' इस प्रकार उससे देवी ने स्वप्न में कहा; इसलिए काशी जाने का विचार छोड़कर रानी तुरन्त मन्दिर के योग्य स्थान देखने में लग गयीं और इस वर्तमान स्थान को उन्होंने पसन्द किया। इस जगह का कुछ भाग एक अँग्रेज का था और कुछ भाग में मुसलमानों का कब्रस्थान था; जगह का आकार कछुए की पीठ के समान था। तन्त्रशास्त्र का प्रमाण है कि साधना के लिए और शक्ति की प्रतिष्ठा के लिए इसी प्रकार की जगह विशेष उपयुक्त होती है।"

देवीप्रतिष्ठा के उपयुक्त मुहूर्त के बदले विष्णुपर्वकाल में ही रानी ने यह उत्सव निपटा डाला। इसका कारण श्रीरामकृष्ण बताते थे कि "देवी की मूर्ति बनकर घर में आने से ही रानी ने शास्त्रोक्त कठोर तप आचरण का आरम्भ कर दिया। त्रिकाल

स्नान, हविष्यान्न भोजन और भूमिशयन के साथ साथ दिन का अधिकांश भाग वे जप, तप, ध्यान, पूजा में ही बिताने लगीं। देवी की प्राणप्रतिष्ठा के योग्य मुहूर्त देखने का काम भी धीरे धीरे हो रहा था। देवी की गढ़ी हुई मूर्ति को रानी ने एक बड़े सन्दूक में ताला लगाकर सावधानी से रख दिया था। एक रात को देवी ने रानी से स्वप्न में कहा, 'मुझे और कितने दिन इस प्रकार कैद में रखेगी ? तेरे बन्दीगृह में मुझे कष्ट होता है। जितना शीघ्र हो मेरी प्रतिष्ठा कर।' इस स्वप्न के कारण रानी शीघ्र ही मुहूर्त निश्चित कराने पर तुल गयीं, पर विष्णुपर्वकाल के अतिरिक्त दूसरा अच्छा मूहूर्त जल्दी न मिलने के कारण वही दिन उन्होंने निश्चित किया।"

दक्षिणेश्वर के मन्दिर में स्थायी रूप से पुजारी का पद ग्रहण करने का विचार रामकुमार का नहीं था, यह उनके उस समय के आचरण से प्रतीत होता है। उनका इरादा यही रहा होगा कि देवी की प्रतिष्ठाविधि और उत्सव समाप्त होने पर झामापुकुर को वापस चले जायँ। उस दिन देवी की पूजा का कार्य करने में मैं कोई अशास्त्रीय कार्य कर रहा हूँ, यह उनकी भावना कदापि न थी; इसका पता गदाधर के साथ उस समय के उनके बर्ताव से लगता है, और बात भी ऐसी ही थी।

उत्सव समाप्त होने पर गदाधर रात को घर वापस आ गया, पर रामकुमार रात को घर नहीं आये। उनका पता लगाने के लिए हो अथवा कुछ विधि शेष रही थी उसे देखने के कौतूहल से ही हो, गदाधर प्रातःकाल ही दक्षिणेश्वर फिर चला आया। वहाँ दिन बहुत चढ़ जाने पर भी उसने रामकुमार के लौटने की कोई इच्छा नहीं देखी। तब दोपहर को ही गदाधर घर लौट आया

और वहाँ का काम समाप्त हो जाने पर भाईसाहब वापस लौट आयेंगे इस आशा से ५–७ दिन वह दक्षिणेश्वर गया ही नहीं। फिर भी जब रामकुमार नहीं लौटे तो इसका कारण जानने के लिए पुनः सातवें या आठवें दिन गदाधर दक्षिणेश्वर पहुँचा। तब वहाँ उसे विदित हुआ कि बड़े भाई ने वहाँ के पुजारी का पद स्थायी-रूप से स्वीकृत कर लिया है। यह सुनकर उसे अच्छा नहीं लगा। हमारे पिता ने शूद्र का दान तक कभी नहीं लिया और भाई शूद्र की चाकरी करने लगे! यह कैसी बात है। यह सोचकर गदाधर ने रामकुमार से नौकरी छोड़ने के लिए बहुत विनती की। रामकुमार ने अपने छोटे भाई का कहना शान्ति के साथ सुन लिया और अनेक प्रकार से शास्त्र तथा युक्ति की सहायता से उसे समझाने का प्रयत्न किया, पर सब निष्फल हुआ। अन्त में निश्चय यह हुआ कि रामकुमार ने यह कार्य उचित किया या अनुचित इस विषय के निर्णय के लिए चिट्ठियाँ डालीं जायँ, पर चिट्ठी में भी 'रामकुमार ने यह उचित किया' ऐसा ही निकलने पर गदाधर मान गया!

यह तो ठीक हुआ। पर गदाधर के मन में यह प्रश्न उठने लगा कि अब पाठशाला बन्द रहेगी और बड़े भाई दक्षिणेश्वर में रहेंगे तब हमें क्या करना होगा। बहुत देर तक विचार करते करते उस दिन घर लौटने के लिए बहुत विलम्ब हो गया। अतः उस दिन वह वहीं रह गया। रामकुमार ने उससे देवी का प्रसाद लेने के लिए कहा, पर वह किसी तरह भी उसके लिए राजी नहीं हुआ। रामकुमार ने कहा, "गंगाजी के पवित्र जल से पकाया हुआ और वह भी देवी का प्रसाद, फिर तू क्यों नहीं लेता?" तो भी गदाधर राजी नहीं हुआ। तब रामकुमार ने कहा,

"अच्छा, ऐसा कर; कोठी से कच्चा अन्न ले जा और गंगाजी की बालू पर अपने हाथ से रसोई बनाकर खा; तब तो ठीक हो जायेगा? गंगाजी के किनारे सभी वस्तुएँ पवित्र हो जाती हैं यह तो तुझे स्वीकार है न?" गदाधर की आहार सम्बन्धी निष्ठा उसकी गंगाभक्ति के सामने पराजित हो गयी। रामकुमार शास्त्र और युक्ति द्वारा जो न कर सके वह विश्वास और भक्ति से सहज ही हो गया! उस दिन से गदाधर अपने हाथ से रसोई बनाने लगा और दक्षिणेश्वर में ही रहने लगा।

सत्य है श्रीरामकृष्ण की गंगाजी पर अपार भक्ति थी। गंगाजी के पानी को वे "ब्रह्मवारि" कहा करते थे। वे कहते थे, "गंगा के किनारे रहने से मनुष्य का मन अत्यन्त पवित्र हो जाता है और उसमें धर्मबुद्धि आप ही आप उत्पन्न हो जाती है। गंगा के उदक को स्पर्श करती हुई बहने वाली हवा गंगा के दोनों किनारे जहाँ तक बहती है वहाँ तक की भूमि को पवित्र कर देती है! उस स्थान के रहने वालों के अन्तःकरण में सदाचार, ईश्वरभक्ति, निष्ठा और तपश्चर्या करने की इच्छा गंगामाता की दया से सर्वदा जागृत रहती है।" बहुत समय तक बातचीत कर चुकने के बाद अथवा विषयी लोगों से मिलने के बाद यदि कोई व्यक्ति उनके दर्शन के लिए आता था तो उससे वे कह देते थे, "जा थोड़ा सा गंगाजी से पानी पीकर आ जा।" उनसे भेंट के लिए किसी घोर विषयासक्त या ईश्वरविमुख मनुष्य को आया हुआ देखकर उसके चले जाने के बाद उसके बैठे हुए स्थान पर वे गंगाजल छिड़क देते थे। प्रातर्विधि के लिए यदि गंगाजल का उपयोग करता हुआ कोई दीख जाता था तो उन्हें अत्यन्त दुःख होता था।

दिन भर पक्षियों के कलरवपूर्ण पंचवटी के सुशोभित उद्यान,

गंगाजी का धीर गम्भीर प्रवाह, सुन्दर, भव्य और विशाल देवी का मन्दिर और वहाँ अहर्निश होने वाली देवसेवा इत्यादि के कारण गदाधर का मन क्रमशः दक्षिणेश्वर में रमने लगा और शीघ्र ही उसे कामारपुकुर की विस्मृति हो गयी। उसका सब समय बड़े आनन्द में बीतने लगा।

श्रीरामकृष्ण की उपरोक्त आहारनिष्ठा देखकर कोई यह कहेगा कि ऐसी अनुदारता तो सर्वत्र दिखायी देती है, फिर यह अनुदारता श्रीरामकृष्ण में भी थी इसके द्वारा क्या यह सिद्ध करना है कि ऐसी अनुदारता के बिना आध्यात्मिक उन्नति सम्भव नहीं है? इस शंका के उत्तर में हमें इतना ही कहना है कि अनुदारता और अत्यन्त दृढ़ निष्ठा दोनों एक नहीं हैं। अनुदारता का जन्म अहंकार से होता है और अनुदारता रहने पर हम जैसा समझते हैं वही ज्ञान है तथा हम जो करते हैं वही उचित है, यह अभिमान होने से मनुष्य प्रगति या उन्नति के मार्ग से भ्रष्ट हो जाता है। इसके विपरीत, दृढ़ निष्ठा का जन्म शास्त्र और आप्तवाक्यों के विश्वास से होता है। दृढ़ निष्ठा के उदय होने से मनुष्य अहंकार के बन्धन से छूटकर उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता है और क्रम क्रम से सत्य का अधिकारी बन जाता है। निष्ठा के उदय होने पर शुरू शुरू में मनुष्य का बर्ताव अनुदार प्रतीत होना सम्भव है। परन्तु आगे चलकर उसके द्वारा उसे अपना मार्ग अधिकाधिक उज्ज्वल दिखने लगता है और उस निष्ठा पर से संकुचित भाव या अनुदारता का आवरण स्वयं ही नष्ट हो जाता है। इसी कारण आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग में निष्ठा की इतनी महिमा गायी गयी है। श्रीरामकृष्ण के चरित्र में भी यही बात दिखायी देती है। इससे यह निस्सन्देह सिद्ध होता है कि "दृढ़ निष्ठा के साथ शास्त्राज्ञा

के अनुसार यदि हम आध्यात्मिक मार्ग में अग्रसर हों तभी यथा-समय हम उदारता के अधिकारी बनकर शान्तिसुख प्राप्त कर सकेंगे; अन्यथा नहीं।" श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "काँटे से ही काँटे को निकालना पड़ता है।" (कण्टकेनैव कण्टकम्।) उसी तरह निष्ठा का अवलम्बन करके ही हमें उदारता प्राप्त कर लेनी चाहिए। शासन और नियम को मानते हुए ही शासनातीत, नियमातीत अवस्था प्राप्त की जा सकती है।

यौवन के आरम्भ में श्रीरामकृष्ण के जीवन में इस प्रकार की असम्पूर्णता देखकर कोई सम्भवतः यह कहे कि "तब फिर उन्हें हम 'ईश्वरावतार' क्यों कहें ? मनुष्य ही कहने में क्या हानि है ? और यदि उन्हें ईश्वरावतार ही कहना है, तो फिर इस प्रकार की असम्पूर्णता को तो छिपाकर रखना ही ठीक है।" इस पर हम यही कहते हैं कि "भाइयो, हमारे भी जीवन में एक ऐसा समय था जब हमें इस बात पर स्वप्न में भी विश्वास नहीं होता था कि ईश्वर नरदेह धारण करके अवतार लेता है, परन्तु 'यह बात सम्भव है' ऐसा जब उन्हीं की कृपा से हम समझने लगे तब हमें यह बात भी विदित हो गयी कि नरदेह धारण करने पर देह की असम्पूर्णता के साथ साथ मन की असम्पूर्णता भी ईश्वर को धारण करनी पड़ती है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, 'सोना इत्यादि धातु में बिना कुछ मिश्रण किये गढ़ाई ठीक नहीं होती।' अपने जीवन की असम्पूर्णता उन्होंने हमसे कभी भी छिपाकर नहीं रखी और न कभी उन्होंने छिपाने का प्रयत्न ही किया। पर उसी प्रकार बारम्बार हमें यह स्पष्ट बताने में भी कसर नहीं रखी कि 'जो राम और कृष्ण हुआ था वही अब जैसे राजा भेष बदलकर नगर देखने निकलता है, वैसे ही (अपनी ओर उंगली दिखाकर) इस

शरीर में गुप्त रूप से आया है।' इसी कारण हमें जो जो विदित हैं वे सब बातें तुम्हें बताते हैं। आगे अपनी इच्छा के अनुसार मत स्थिर करने के लिए तुम्हें पूरी स्वतन्त्रता है।"

---

१३. पुजारीपद-ग्रहण

(सन् १८५६)

"हृदय न रहता तो साधनाकाल में यह शरीर न टिकता। उसकी सेवा मैं कभी न भूलूंगा।"

—श्रीरामकृष्ण

हम कह आये हैं कि देवी की प्राणप्रतिष्ठा के थोड़े ही दिनों के भीतर गदाधर दक्षिणेश्वर में ही रहने के लिए चला गया और वहाँ अपना समय आनन्द से बिताने लगा। उसके सुन्दर रूप, मनोहर आवाज, नम्र और विनययुक्त स्वभाव और इस अल्पावस्था में ही ऐसी धर्मनिष्ठा को देखकर रानी के जामात मथुरबाबू की उस पर अनुकूलता दिखने लगी और क्रमशः वे उस पर बड़े प्रसन्न रहने लगे। बहुधा ऐसा देखने में आता है कि जीवन में जिनसे हमारा विशेष प्रेम होना रहता है उनकी प्रथम भेंट के समय ही कभी कभी हमारे हृदय में उनके प्रति एक प्रकार के प्रेम का आकर्षण हो जाता है। शास्त्रों में इसका कारण पूर्व जन्म का संस्कार बतलाया गया है। श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू के इसके बाद के चौदह वर्ष के दिव्य और अलौकिक सम्बन्ध को देखते हुए तो यही मानना होगा। अस्तु—

देवी की प्राणप्रतिष्ठा के उपरान्त लगभग एक मास गदाधर शान्त था। उसका कोई कार्यक्रम निश्चित नहीं हुआ था। मथुरबाबू की इच्छा उसे देवी की सेवा में मुख्य पुजारी का सहायक बनाने की थी। रामकुमार से उन्होंने ऐसा कहा भी। परन्तु अपने

भाई की मानसिक स्थिति उन्हें पूरी पूरी मालूम रहने के कारण उन्होंने मथुरबाबू से बता दिया कि इसे वह स्वीकार नहीं करेगा। पर मथुरबाबू इतने से शान्त बैठने वाले नहीं थे; फिर भी इस समय उन्होंने कोई आग्रह नहीं किया और वे उचित अवसर की प्रतीक्षा करने लगे।

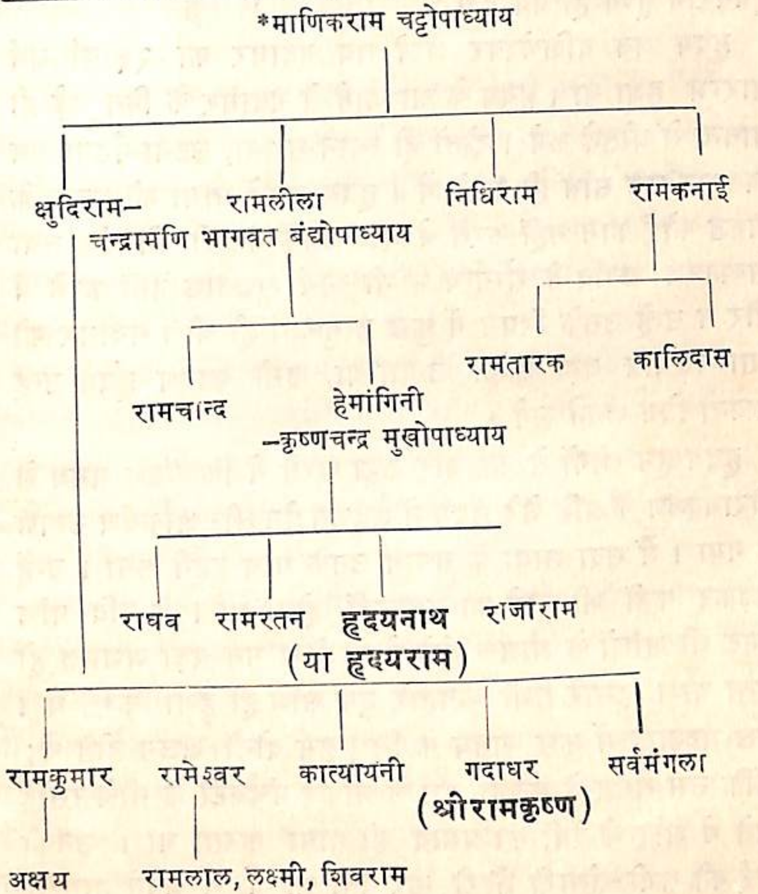
लगभग इसी समय श्रीरामकृष्ण के भावी जीवन से अत्यन्त निकट सम्बन्ध रखने वाले व्यक्ति का दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ। वे थे इनकी फुफेरी बहिन हेमांगिनी के पुत्र हृदयराम मुकर्जी *। शायद यहाँ कोई काम मिल जाय, इस उद्देश्य से वे यहाँ आये थे और यहाँ अपने मामा को रहते देखकर उनके साथ बड़े आनन्द से रहने लगे। श्रीरामकृष्ण और वे समवयस्क ही थे और बचपन से आपस में दोनों का अच्छा परिचय था।

हृदय अच्छे ऊँचे पूरे, सुन्दर और दर्शनीय पुरुष थे। वे जैसे शरीर से सुदृढ़ और बलिष्ठ थे वैसे ही मन से भी उद्यमशील और निडर थे। संकट के समय वे जरा भी डाँवाडोल नहीं होते थे और उसमें से निकलने का कोई न कोई मार्ग वे अवश्य निकाल लेते थे। वे अपने छोटे मामा गदाधर पर बड़ा प्रेम करते थे और उनको सुखी रखने के लिए वे स्वयं प्रत्येक कष्ट भोगने के लिए सदैव तैयार रहते थे। हृदय में आलस्य का नाम नहीं था। वे सदा किसी न किसी काम में व्यस्त रहा करते थे। हृदय का स्वभाव कुछ स्वार्थपरायण भी था और उनके अन्तःकरण में भक्ति-भाव बिलकुल न रहने के कारण परमार्थ की ओर उनका अधिक ध्यान नहीं था। उनकी स्वार्थपरता का समूल नाश कभी नहीं हुआ। बाद में उनमें कुछ भावुकता और निःस्वार्थ बुद्धि दिखने

*इनका सम्बन्ध आगे दिये हुए वंशवृक्ष में देखिये।

लगी, पर वह केवल श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति का परिणाम था। शरीर के लिए आवश्यक आहार-विहार आदि विषयों से सम्पूर्ण उदासीन, सर्वदा विचारशील और स्वार्थगन्धशून्य श्रीरामकृष्ण के लिए हृदय के समान उद्योगी, साहसी, श्रद्धावान और प्राणों से अधिक प्रेम करने वाले सहायक की आवश्यकता थी। सम्भव है,

---



श्री जगदम्बा ने इसी हेतु श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल में हृदय को उनके पास भज दिया हो। इसे कौन जानता है, पर यह बात अवश्य है कि यदि हृदय न होते तो साधनाकाल में श्रीरामकृष्ण के शरीर का टिकना असम्भव हो जाता। इसी कारण उनका नाम श्रीरामकृष्ण के चरित्र में अमर हो गया है और हम सब के लिए हृदयराम पूज्य हो गये हैं।

हृदय जब दक्षिणेश्वर आये तब गदाधर का २१ वाँ वर्ष आरम्भ हुआ था। हृदय के आ जाने से गदाधर के दिन बड़े ही आनन्द से बीतने लगे। दोनों ही स्नान-सन्ध्या, उठना-बैठना सब व्यवहार एक साथ ही करते थे। हृदय अपने मामा की इच्छा के विरुद्ध कोई काम नहीं करते थे और उनके बाहरी निरर्थक तथा निष्कारण बर्ताव के सम्बन्ध में भी व्यर्थ पूछताछ नहीं करते थे और न उन्हें उसके विषय में कुछ उत्सुकता ही थी। गदाधर को ऐसा स्वभाव बड़ा अच्छा लगता था, इसी कारण हृदय उन्हें अत्यन्त प्रिय लगने लगे।

हृदय हम लोगों से कई बार कहा करते थे कि "इस समय से श्रीरामकृष्ण के प्रति मेरे हृदय में अद्‌भुत प्रेम और आकर्षण उत्पन्न हो गया। मैं सदा छाया के समान उनके साथ रहने लगा। उन्हें छोड़कर कहीं भी जाने का मन नहीं होता था। वे यदि पाँच मिनट भी आँखों से ओझल होते थे तो मेरा मन बड़ा अशान्त हो उठता था। हमारे सभी व्यवहार एक साथ ही हुआ करते थे। केवल मध्याह्न में कुछ समय के लिए हम दोनों अलग होते थे; क्योंकि उस समय वे कच्चा अन्न ले जाकर पंचवटी के नीचे रसोई बनाते थे और मैं देवी का प्रसाद ही पाया करता था। उनकी रसोई की सभी तैयारी मैं ही कर देता था। वे अपने हाथ से

बनाकर खाते थे, तथापि वहाँ का भोजन ग्रहण करना बहुत दिनों तक उन्हें उचित न जँचा। उनकी आहार सम्बन्धी निष्ठा इतनी प्रबल थी ! दोपहर को वे भोजन स्वयं बनाते थे और रात को देवी का प्रसाद ही ग्रहण करते थे। पर कई बार इस प्रसाद को खाते समय उनकी आँखों में पानी आ जाता था और रोते रोते वे जगदम्बा से कहते थे, 'माता ! मुझे ढीमर का अन्न क्यों खिलाती हो' ?"

श्रीरामकृष्ण स्वयं इस विषय में कभी कभी कहते थे, "ढीमर का अन्न खाने के कारण मन में बड़ा बुरा लगता था। गरीब, कंगाल, भिखारी भी पहले पहले 'ढीमर का मन्दिर' कहकर वहाँ भीख नहीं लेते थे। पका हुआ अन्न कोई लेनेवाला न मिलने के कारण कई बार सब का सब जानवरों को खिला दिया जाता था या गंगाजी में डाल दिया जाता था।"

हमने सुना है कि श्रीरामकृष्ण ने वहाँ बहुत दिनों तक हाथ से पकाकर नहीं खाया। इससे ऐसा मालूम होता है कि देवी के पुजारी होते तक ही वे अपने हाथ से रसोई बनाकर खाते रहे होंगे। वे दक्षिणेश्वर में आने के दो-तीन मास के भीतर ही पुजारी हो गये थे।

हृदय जानते थे कि मामा का मेरे ऊपर बड़ा प्रेम है। श्रीरामकृष्ण के सभी व्यवहार उनके सामने ही होते थे, पर उन्हें केवल एक बात बहुत दिनों तक समझ में नहीं आयी। वह यह थी——वह जिस समय अपने बड़े मामा रामकुमार को कुछ मदद देने में लगे रहते या दोपहर को भोजन के उपरान्त कुछ विश्राम लेते होते या सन्ध्या समय जब वे आरती देखने में मग्न रहते तब गदाधर उनको वैसे ही छोड़कर कहीं गायब हो जाता था। हृदय

उसे बहुत ढूँढ़ते थे पर पाते नहीं थे, और घण्टे-डेढ़ घण्टे के बाद लौट आने पर "मामा आप कहाँ थे ?"--यह प्रश्न करने से वे स्पष्ट कुछ भी नहीं बताते थे; "इधर ही था" ऐसा कह देते थे। बहुत दिनों तक ताकते रहने से एक बार श्रीरामकृष्ण पंचवटी की ओर से लौटते हुए दिखायी दिये तब हृदय ने अन्दाज लगाया कि ये शौच के लिए गये होंगे। तब से उसने इस विषय में अधिक जाँच नहीं की।

हृदय कहते थे--"एक दिन मामा की इच्छा हुई कि शिवमूर्ति बनाकर उसकी पूजा करें। बचपन से ही उन्हें उत्तम मूर्ति बनाना आता था। इच्छा होते ही उन्होंने गंगाजी की मृत्तिका लेकर नन्दी और शिव दोनों की सुन्दर प्रतिमाएँ बना लीं और उनकी पूजा में वे निमग्न हो गये। इतने में ही वहाँ मथुरबाबू सहज ही आ पहुँचे और इतनी तन्मयता से मामा क्या कर रहे हैं, यह देखते देखते उनकी दृष्टि इन प्रतिमाओं पर पड़ी। मूर्ति थी तो छोटी, पर बहुत उत्तम बनी थी। यह मूर्ति मामा ने ही तैयार की है, यह सुनकर मथुरबाबू को बड़ा आश्चर्य हुआ। पूजा होने के बाद उस मूर्ति को मुझसे लेकर उन्होंने पुनः बारीकी के साथ देखा और बड़े कुतूहल से उस मूर्ति को रानी के पास भी देखने के लिए भेज दिया।" उसे देखकर रानी को भी अचरज मालूम हुआ। गदाधर को नौकर रखने की इच्छा उन्हें बहुत दिनों से थी। आज उसके इस नये गुण को देखकर उनकी वह इच्छा और भी बढ़ गयी और रामकुमार के द्वारा उन्होंने उससे नौकरी करने के लिए दुबारा पुछवाया; परन्तु गदाधर ने "एक भगवान के सिवाय मुझे दूसरे किसी की नौकरी नहीं करना है," यह स्पष्ट उत्तर दे दिया। नौकरी-चाकरी के सम्बन्ध में इसी प्रकार का मत कई बार हमने

श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुना है। साधारणतः स्थिति ठीक रहते हुए नौकरी करना मनुष्य के लिए वे हीनता समझते थे। अपने बालभक्तों में से एक (निरंजन) की नौकरी का समाचार सुनकर वे बोल उठे, "उसकी मृत्यु की वार्ता सुनकर मुझे जितना दुःख न होता, उतना उसके नौकरी स्वीकार करने की बात सुनकर हुआ है।" कुछ दिनों बाद जब उससे भेंट हुई तब उन्हें विदित हुआ कि गरीबी के कारण उसकी वृद्धा माता की व्यवस्था ठीक नहीं हो सकी थी और इसी कारण उसने नौकरी कर ली। तब उन्हें बड़ा आनन्द हुआ और उसके शरीर और मुँह पर हाथ फेरते हुए उन्होंने बड़े प्रेम से कहा, "कोई हर्ज नहीं। ऐसी अवस्था में नौकरी करने से तुझे कोई दोष नहीं लगेगा; पर यदि अपनी माता के लिए नहीं, स्वयं अपने ही कारण नौकरी स्वीकार करके तू यहाँ आता तो मुझे तुझको स्पर्श भी करते नहीं बनता! तभी तो मैंने कहा था कि 'मेरे निरंजन में तो किंचित् भी अंजन (दोष या दाग) नहीं है और उसने यह बला कहाँ से बटोर ली?' " निरंजन के प्रति ये उद्गार सुनकर अन्य लोगों को बड़ा विस्मय हुआ। एक ने कहा भी—"महाराज, आप नौकरी को इतनी दूषित मानते हैं पर विना नौकरी के गृहस्थी चले कैसे?" श्रीरामकृष्ण बोले—"जिन्हें नौकरी करना हो वे खुशी से करें; मैं सभी को नौकरी करने से नहीं रोकता। (बालभक्तों की ओर इशारा करके) मेरा कहना केवल इन्हीं के लिए है। इनकी बात अलग है और तुम लोगों की बात अलग है।" आध्यात्मिक उन्नति और नौकरी का संयोग कभी नहीं हो सकता, यही उनका निश्चित मत था। इसी कारण वे बालभक्तों को ऐसा उपदेश देते थे।

बड़े भाई से मथुरबाबू की इच्छा जान लेने के बाद गदाधर

मथुरबाबू के सामने आने या उन्हें दिखायी देने का अवसर टालने लगा; क्योंकि जैसे सत्य और धर्म का पालन करते समय वह किसी का कहना नहीं मानता था उसी प्रकार किसी को व्यर्थ कष्ट देने में भी उसे प्राणसंकट मालूम होता था। उसी प्रकार मन में बिना कोई आशा रखे गुणी व्यक्तियों के गुण का आदर करना और मानी व्यक्ति को सरल चित्त से मान देना उसका स्वभाव ही था। इसी कारण मन्दिर का पुजारी-पद ग्रहण करने या न करने का स्वयं निश्चय करने के पूर्व मथुरबाबू के प्रश्न का यदि मैं अप्रिय उत्तर दे दूँ तो उन्हें बुरा लगेगा और मेरे लिए भी अच्छा नहीं दिखेगा, यही सोचकर वह मथुरबाबू को टालने लगा। इधर दक्षिणेश्वर में जैसे जैसे अधिक समय बीतने लगा वैसे वैसे उसके मन में यह विचार आने लगा कि मुझे यहीं रहने को मिले तो ठीक हो और वह स्थान उसे अधिकाधिक प्रिय हो चला। इसी कारण उसने अपना विचार निश्चित न हुए बिना मथुरबाबू से दूर रहने की ही सोची।

परन्तु जिस बात से वह डरता था वह एक दिन सहज ही सामने आ पड़ी। उस दिन मथुरबाबू देवी के दर्शन के लिए आये थे। उन्होंने दूर से ही गदाधर को देखा और उसे बुलवा भेजा। हृदय साथ में ही थे। मथुरबाबू को देखते ही गदाधर उन्हें टालकर दूसरी ओर जाने के विचार में था। इतने में ही नौकर ने आकर कहा, 'बाबूसाहब आपको बुला रहे हैं।" उनके पास जाने के लिए गदाधर की अनिच्छा देखकर हृदय बोल उठे, "मामा, बाबू बुलाते हैं, चलिये न वहाँ।" गदाधर बोला, "वहाँ जाकर क्या करना है? वे मुझसे यहाँ नौकरी करने के ही विषय में कहेंगे।" हृदय बोले, "तो उसमें हानि क्या है? बड़ों के आश्रय

में रहने से बुराई कौनसी है ?" गदाधर बोला, "जन्म भर नौकरी करने की मेरी बिलकुल ही इच्छा नहीं है। इसके सिवाय यहाँ नौकर हो जाने पर देवी के गहनों के लिए जिम्मेदार रहना होगा और उस तरह की झंझट मुझसे नहीं हो सकेगी; तथापि यदि तुम यह जिम्मेदारी स्वीकार करते हो तो नौकरी करने में मुझे कोई हर्ज नहीं है।" हृदय तो नौकरी की खोज में ही वहाँ आये थे। उन्होंने गदाधर का कहना बड़े आनन्द से स्वीकार कर लिया और वे दोनों मथुरबाबू के पास गये। गदाधर के अनुमान के अनुसार मथुरबाबू ने उससे नौकरी के विषय में ही पूछा। गदाधर ने अपना कहना स्पष्ट बता दिया और मथुरबाबू ने भी उसे स्वीकार कर लिया। तुरन्त ही उसी दिन उन्होंने गदाधर को देवी के वेशकारी पद पर नियुक्त कर दिया और हृदय को उसका और रामकुमार का सहायक बना दिया (१८५६)। अपने भाई को नौकर होते देखकर रामकुमार निश्चिन्त हो गये। इस प्रकार देवी की प्राण-प्रतिष्ठा होने के तीन मास के भीतर ही गदाधर ने वहाँ का पुजारी-पद स्वीकार कर लिया। पूजा के समय की उसकी तन्मयता, अन्य समय का उसका सरल व्यवहार, उसके सुन्दर स्वरूप और उसकी मधुर आवाज को देखकर मथुरबाबू के मन में उसके प्रति उत्तरोत्तर आदर और प्रेम बढ़ने लगा।

उसी वर्ष जन्माष्टमी के दूसरे दिन श्रीराधागोविन्दजी के पुजारी क्षेत्रनाथ के हाथ से गोविन्दजी की मूर्ति नीचे फर्श पर गिर पड़ी और उसका एक पैर भंग हो गया। पुजारी को भी चोट लगी। चोट तो वह भूल गया, पर मथुरबाबू के भय से काँपने लगा। खण्डित मूर्ति की पूजा करना शास्त्र में निषिद्ध है; अतः अब इसके लिए उपाय कौन सा है ? मथुरबाबू ने शास्त्रज्ञ पण्डितों की सभा

बुलायी और उनसे राय ली। सभा में सब ने यही कहा कि भग्न मूर्ति को हटाकर उसके स्थान पर नयी मूर्ति की स्थापना की जाय। पर वह मूर्ति बहुत मनोहर थी; पण्डितों के निर्णय के अनुसार उसे फेंक देना पड़ेगा, इस विचार से मथुरबाबू को दुःख हुआ। परन्तु उनके मन में एक विचार आया कि देखें, बाबा (श्रीरामकृष्ण को वे 'बाबा' कहा करते थे) इस विषय में क्या कहते हैं। श्रीरामकृष्ण से पूछते ही वे बोले, "रानी के जमाइयों में से यदि किसी को चोट लगकर पैर टूट जाय तो क्या उसे वह फेंक देगी और उसके स्थान में दूसरे को बैठा देगी, या उसी के पैर को दुरुस्त करने की व्यवस्था करेगी? यहाँ भी वैसा ही करना चाहिए।" बाबा के इस निर्णय को सुनकर मथुरबाबू और अन्य लोग चकित हो गये और उन्हें बड़ा आनन्द हुआ। इतनी सरल सी बात किसी को कैसे नहीं सूझी? इतने समय तक जिस मूर्ति को गोविन्दजी के दिव्य आविर्भाव से जीवित मानते थे और उसी प्रकार की दृढ़ श्रद्धा और विश्वास सब लोग मन में रखते थे, क्या आज उसी मूर्ति के पैर टूटते ही वह सब उसी के साथ नष्ट हो गया? इतने दिनों तक जिस मूर्ति का आश्रय लेकर श्रीभगवान की पूजा करके उनके प्रति अपने हृदय की भक्ति और प्रेम अर्पण किया करते थे वह सब क्या उस मूर्ति के एक पैर के टूटते ही सच्चे भक्त के हृदय से नष्ट हो जायगा? अथवा भक्त का प्रेम क्या मूर्ति के ही आकार का होता है? और उस मूर्ति के अवयव में थोड़ाबहुत अन्तर पड़ते ही क्या उसी मात्रा में वह प्रेम भी कम हो जाया करता है? उन पण्डितों में से कुछ को तो श्रीरामकृष्ण का निर्णय मान्य हुआ, पर कुछ को नहीं। मथुरबाबू ने बाबा का निर्णय मान लिया। श्रीरामकृष्ण ने उस टूटे हुए पैर को इस

खूबी के साथ जोड़ दिया कि उस मूर्ति का पैर टूटा है या नहीं यह किसी के ध्यान में भी नहीं आ सकता था। मूर्ति भंग होने का पता पाते ही मथुरबाबू ने एक नयी मूर्ति तैयार करने के लिए एक कारीगर से कह दिया था। नयी मूर्ति आने पर वह वहीं राधागोविन्द के मन्दिर में ही एक ओर वैसी रख दी गयी और पुरानी ही मूर्ति की पुनः प्राणप्रतिष्ठा कर दी गयी। वह दूसरी मूर्ति वहाँ अभी भी वैसी ही रखी हुई है। मथुरबाबू ने क्षेत्रनाथ को काम से अलग कर दिया और उसके स्थान में गदाधर की नियुक्ति कर दी और हृदय रामकुमार के हाथ के नीचे रख दिया गया।

हृदय कहता था, "मामा की पूजा एक दर्शनीय वस्तु थी। जो उसे देखता था वही मुग्ध हो जाता था। उसी तरह उनका गायन भी था। उसे जो सुनता था वह कभी नहीं भूलता था। उनके गायन में उस्तादी ढंग या हाथ आदि का हिलाना नहीं होता था। उसमें रहती थी केवल ताल-लय की विशुद्धता और गायन के पद में वर्णित विषय के साथ तन्मयता, जिसके कारण सुनने वाले का हृदय भी उनकी मधुर आवाज से हिल जाता था और वह उस पद के भाव में तन्मय हो जाता था। भाव संगीत का प्राण है, यह बात उनका गायन सुनकर निश्चय हो जाती थी और ताल-लय की विशुद्धता हुए बिना यह भाव यथोचित रीति से प्रकट नहीं होता, यह बात भी दूसरों के गायन के साथ उनके गायन की तुलना करने से मालूम हो जाती थी। रानी रासमणि को इनका गायन बड़ा प्रिय था और जब जब वे देवी के दर्शनार्थ आती थीं तब इनसे गायन सुना करती थीं।"

इनके गीत इतने मधुर होने का एक और भी कारण है। वे

गाते समय इतने तन्मय हो जाते थे कि उन्हें दूसरे को गाना सुनाने का ध्यान ही नहीं रह जाता था। जिस पद को वे गाते थे उसी के विषय में ऐसे मग्न हो जाते थे कि किसी दूसरी ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता था। अत्यन्त भक्तिपूर्वक गाने वाले भी श्रोतागणों से थोड़ीबहुत प्रशंसा पाने की इच्छा तो रखते ही हैं! पर श्रीरामकृष्ण में यह बात नहीं थी। यदि उनके गायन की प्रशंसा किसी ने की तो वे सचमुच यही समझते थे कि उस पद के विषय की ही प्रशंसा की जा रही है, न कि उनकी आवाज की! हृदय कहते थे, "देवी के सामने बैठकर पद, भजन आदि गाते समय उनकी आँखों से लगातार अश्रुधारा बह चलती थी और उससे उनका वक्षःस्थल भीग जाता था। पूजा में वे ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उस समय यदि वहाँ कोई आ जाय, तो उनको उसका भान नहीं होता था।" श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते कि "अंगन्यास इत्यादि करते समय वे मन्त्र उज्ज्वल अक्षरों में मेरे शरीर पर मुझे प्रत्यक्ष दिखायी देते थे। सर्पाकार कुण्डलिनी शक्ति के सुषुम्ना मार्ग से सहस्रार कमल की ओर जाते समय शरीर के जिस जिस अंग को छोड़कर वह आगे जाती थी उस उस अंग का तत्काल निःस्पन्दन, बधिर और मृतवत् होना मुझे प्रत्यक्ष अनुभव होता था। पूजापद्धति के विधान के अनुसार --'रं इति जलधारया वह्निप्राकारं विचिन्त्य--' अर्थात् अपने को चारों ओर पानी की धारा से घेरकर पूजक 'अपने चारों ओर अब अग्नि का घेरा हो गया है, अतः कोई भी विघ्न उस स्थान में अब नहीं आ सकता' ऐसा चिन्तन करे--इत्यादि मन्त्रों का उच्चारण करते समय मुझे यह प्रत्यक्ष दिखता था कि अग्नि देव ने अपनी शत जिह्वाओं से मुझे घेरकर एक परकोट ही तैयार कर

दिया है जिससे कोई भी विघ्न भीतर प्रवेश नहीं कर सकता।" हृदय कहता था--"पूजा के समय के उनके तेज:पुंज शरीर और तन्मयता को देखकर दर्शक लोग आपस में कहते थे कि साक्षात् ब्रह्मण्य देव ही नरदेह धारण करके पूजा तो नहीं कर रहा है?" अस्तु--

दक्षिणेश्वर की नौकरी कर लेने पर रामकुमार का आर्थिक कष्ट तो कुछ कम हो गया, पर अपने छोटे भाई की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई उदासीनता और निर्जनप्रियता से उन्हें बड़ी चिन्ता होने लगी। उसका किसी विषय में उत्साह न रहना और हृदय के अतिरिक्त अन्य किसी से बहुत बोल-चाल भी न करना इत्यादि बातों से रामकुमार सोचने लगे कि शायद उसे घर की और माता की याद अधिक आने के कारण वह इस प्रकार उदास रहता है। पर कितने ही दिन बीत जाने पर भी उसके मुँह से घर जाने की बात ही नहीं निकलती थी; और यह देखकर उसके स्वभाव में ऐसा परिवर्तन होने का कोई कारण रामकुमार की समझ में नहीं आता था। इसके बाद मथुरबाबू ने जब उसे (गदाधर को) पुजारी के पद पर नियुक्त कर दिया तब रामकुमार को कुछ अच्छा लगा। इधर रामकुमार की तबीयत भी ठीक नहीं रहती थी और उन्हें बारम्बार यही चिन्ता रहती थी कि कहीं बीच में ही उनका निधन हो गया तो उनके कुटुम्ब का क्या हाल होगा। इसी कारण छोटे भाई को पुजारी का सब काम पूरा पूरा सिखाकर उसे अपने बाद चार पैसे कमाने योग्य बनाने की चिन्ता वे करते थे। इसी इरादे से रामकुमार ने गदाधर को देवी की पूजा, चण्डीपाठ आदि सिखलाना शुरू किया। गदाधर ने अपनी अलौकिक स्मरणशक्ति के कारण इन सब बातों को तुरन्त ही सीख लिया और पूजा के

समय इनका उपयोग करना भी प्रारम्भ कर दिया । यह देखकर रामकुमार को अच्छा लगा और मथुरबाबू की सम्मति से गदाधर को श्रीदेवी की पूजा करने के लिए कहकर वे स्वयं श्रीराधा-गोविन्दजी की पूजा करने लगे । शक्तिदीक्षा लिये बिना देवी की पूजा करना अनुचित समझकर गदाधर ने श्री केनाराम भट्टाचार्य नामक एक शक्ति-उपासक और उच्च श्रेणी के साधक से शक्ति की दीक्षा ले ली । ऐसा कहते हैं कि शक्ति की दीक्षा लेते ही गदाधर को भावावेश प्राप्त हो गया । उसकी असाधारण भक्ति देखकर केनाराम को भी बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने उसे प्रसन्न चित्त से आशीर्वाद दिया ।

तदनन्तर कुछ दिनों बाद रामकुमार ने निश्चय किया कि मथुरबाबू से कहकर हृदय को अपने स्थान में नियुक्त करके कुछ समय के लिए अपने घर हो आऊँ । परन्तु कारणवश वे घर नहीं जा सके । एक दिन वे किसी काम के लिए कलकत्ता के उत्तर में श्यामनगर को गये हुए थे, वहीं अकस्मात् उनका स्वर्गवास हो गया । यह सन् १८५७ की बात है । रामकुमार देवी के पुजारी के पद पर लगभग एक वर्ष तक रहे ।

---

१४. व्याकुलता और प्रथम दर्शन

"लज्जा, घृणा, भय—इन तीन के रहते हुए ईश्वरलाभ नहीं होता।"

"अत्यन्त व्याकुल होकर ईश्वर की पुकार करो, तब देखो भला ईश्वर कैसे दर्शन नहीं देता?"

"पानी में डुबा दिये जाने पर ऊपर आने के लिए प्राण जैसे व्याकुल हो उठते हैं उसी तरह ईश्वरदर्शन के लिए हो जाय, तभी उसका दर्शन होता है।"

"सती का पति के प्रति प्रेम, माता का बालक के प्रति प्रेम और विषयी मनुष्य का विषय के प्रति प्रेम—इन तीनों प्रेमों को एकत्रित करके ईश्वर की ओर लगाने से उसका दर्शन पा सकते हैं।"

"अरे भाई! ईश्वर को साक्षात् देख सकते हैं! अभी तुम और हम जैसे गप्पें लगा रहे हैं उससे भी अधिक स्पष्ट रूप से ईश्वर से बातचीत कर सकते हैं! मैं सत्य कहता हूँ! शपथपूर्वक कहता हूँ!"

"ईश्वरदर्शन के लिए व्याकुलता—अधिक नहीं तीन ही दिन—नहीं केवल २४ घंटे—मन में टिकाओ कि उसका दर्शन होना ही चाहिए।"

—श्रीरामकृष्ण

पितृतुल्य रामकुमार की मृत्यु से गदाधर को अत्यन्त दुःख हुआ। रामकुमार उससे ३१ वर्ष से बड़े थे और पिता की मृत्यु के बाद गदाधर को उन्होंने ही छोटे से बड़ा किया था। उसे अपने

पिता की याद न आने पाये, इस सावधानी को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने उसका लालन-पालन किया था।

रामकुमार की इस तरह अचानक मृत्यु हो जाने से गदाधर संसार से और भी उदासीन हो गया और सदा देवी की पूजा तथा ध्यान में ही मग्न रहने लगा। मनुष्य को ईश्वर का दर्शन होना यथार्थ में ही सम्भव है या नहीं, इस विचार के सिवाय दूसरा विषय उसको सूझता ही नहीं था। हम इतनी व्याकुलता से पुकारते हैं; क्या उसे सुनने वाला यथार्थ में कोई है? क्या हमारी पूजा ग्रहण करने वाला कोई है? क्या सचमुच इस संसार का कोई नियन्ता है? अब ये ही विचार उसके मन में निरन्तर घूमने लगे और अब इस समय से वह देवी के पास तन्मयता में बैठकर अपने दिन बिताने लगा। बीच बीच में वह रामप्रसाद, कमलाकान्त इत्यादि भक्तों के भजन देवी को सुनाता था और प्रेम तथा भक्ति से विह्वल होकर अपनी देह की सुध भी भूल जाता था। इसी समय से उसने गप्पें लगाना भी बिलकुल बन्द कर दिया और दोपहर के समय देवी के मन्दिर का दरवाजा बन्द होने पर सब लोगों से दूर पंचवटी* के समीप के जंगल में जाकर जगन्माता के चिन्तन में अपना सब समय व्यतीत करने लगा।

हृदय को अपने मामा का इस प्रकार उदासीन बर्ताव पसन्द नहीं आया, पर वह कर ही क्या सकते थे? उसके जो मन में आये उसे निडर होकर बेधड़क करने के स्वभाव से वे परिचित थे; इस कारण यह बात उन्हें पूर्ण रीति से मालूम थी कि इसमें मेरा कोई उपाय नहीं चल सकता। पर दिनोंदिन उसके स्वभाव में अत्यधिक

*कालीमन्दिर के अहाते में एक स्थान। वहाँ अश्वत्थ, विल्व, बड़, अशोक और आँवला ये पाँच पेड़ पास-पास लगे हुए हैं।

परिवर्तन होते देखकर एक-आध बात कभी कभी उससे बिना बोले हृदय से रहा नहीं जाता था। रात के समय सब की नींद लग जाने के बाद मामा उठकर कहीं चले जाया करते थे, अतः उन्हें बड़ी चिन्ता मालूम होती थी; क्योंकि दिन भर पूजा इत्यादि का श्रम और रात का जागरण और फिर आहार में भी कमी! इन सब बातों को देखते हुए मामा का स्वास्थ्य बिगड़ने की पूरी शंका थी। हृदय इसका कोई उपाय ढूँढ़ने में व्यग्र थे।

पंचवटी के आसपास की जमीन आज के समान उस समय समतल नहीं थी। उसमें जगह जगह गड्ढे थे और सारी जगह जंगल-झाड़ी से ढकी हुई थी। एक तो कब्रस्तान, उसमें भी चारों ओर ऊँची-नीची जगह जो गड्ढे और झाड़ियों के कारण अधिक भयानक हो गयी थी; इस कारण वहाँ दिन में भी कोई नहीं जाता था। और कोई गया भी तो वह जंगल में नहीं जाता था, फिर रात की तो बात ही छोड़िये? भूतप्रेतों के डर के मारे उधर जाने का कोई नाम भी नहीं लेता था। उस जंगल में आँवले का एक पेड़ था। उस आँवले के पेड़ के नीचे थोड़ी सी समतल जमीन थी। उसके चारों ओर बहुत सी झाड़ी थी। और जंगल बढ़ जाने के कारण उस पेड़ के नीचे बैठने वाले मनुष्य को जंगल के बाहर का कोई आदमी देख भी नहीं सकता था। गदाधर रात के समय इसी स्थान में बैठकर ध्यान, जप आदि करता था।

एक रात्रि को नित्य नियम के अनुसार इसी स्थान में जाने के लिए गदाधर चला। हृदय भी उठे और उसको बिना जनाये उसके पीछे पीछे हो लिये। वहाँ पहुँचकर गदाधर के ध्यान करने के लिए बैठते ही उसको डराने के लिए बाहर से ही हृदय उस ओर ढेले, पत्थर फेंकने लगे। बहुत समय हो चुका तो भी गदाधर

बाहर नहीं निकला, इससे वे स्वयं थककर घर लौट आये। दूसरे दिन उन्होंने पूछा, "मामा, रात को जंगल में जाकर आप क्या करते हैं ?" गदाधर ने उत्तर दिया, "वहाँ आँवले का एक पेड़ है। उसके नीचे बैठकर जप, ध्यान करता हूँ। शास्त्र का वाक्य है कि आँवले के पेड़ के नीचे ध्यान करने से इच्छित फल प्राप्त होता है।" यह सुनकर हृदय चुप हो गये।

इसके बाद कुछ दिनों तक गदाधर के वहाँ जाकर बैठते ही ढेले-पत्थर पड़ने शुरू हो जाते थे। इसे हृदय का ही काम जान-कर गदाधर उस ओर ध्यान तक नहीं देता था। उसे डराने के प्रयत्न को सफल न होते देखकर हृदय को अब आगे क्या करना चाहिए, यह नहीं सूझा। एक दिन गदाधर के वहाँ पहुँचने के पूर्व ही हृदय जंगल में जाकर अपने मामा की राह देखने लगे। थोड़ी देर में गदाधर भी वहाँ आया और अपनी कमर की धोती और गले से जनेऊ अलग रखकर उसने ध्यान करना प्रारम्भ कर दिया। यह देखकर हृदय को बड़ा विस्मय हुआ और तुरन्त ही उनके सामने जाकर कहने लगे--"मामा, यह क्या है ? आप पागल तो नहीं हो गये ? ध्यान करना है तो कीजिये, पर ऐसे नग्न न होइये !" दस-पाँच बार पुकारने पर गदाधर को अपनी देह का भान हुआ और हृदय के प्रश्न को सुनकर बोले, "तुझे क्या मालूम है ? इसी तरह पाशमुक्त होकर ध्यान करने की विधि है। लज्जा, घृणा, भय, कुल, शील, जाति, मान, अभिमान इन अष्ट-पाशों से मनुष्य जन्म से ही बँधा रहता है। जनेऊ भी 'मैं ब्राह्मण हूँ, मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ' इस अभिमान का द्योतक होने के कारण एक पाश ही है। जगन्माता के ध्यान के समय ये सब पाश अलग फेंककर ध्यान करना पड़ता है, इसीलिए मैं ऐसा करता हूँ। ध्यान

समाप्त होने पर लौटते समय मैं पुनः धोती पहन लूँगा और जनेऊ गले में डाल लूँगा।" यह विधि हृदय ने कहीं नहीं सुनी थी, पर वे इसके बाद और कुछ नहीं बोल सके और अपने मामा को उपदेश की दो-चार बातें सुनाने का सब निश्चय उनके मन ही में रह गया।

यहाँ पर एक बात ध्यान में रखना आवश्यक है; क्योंकि उसे जान लेने पर श्रीरामकृष्ण के अगले चरित्र की कई बातों का मर्म सहज ही समझ में आ जायेगा। उपरोक्त बातों से पाठकों के ध्यान में यह बात आ ही गयी होगी कि अष्टपाशों का मन से त्याग करने का प्रयत्न वे कर रहे थे। यही नहीं, शरीर से भी इनका त्याग करने का वे प्रयास करते थे। आगे भी कई प्रसंगों पर उनको यही मार्ग स्वीकार करते हुए आप देखेंगे।

अहंकार का नाश करके अपने में यथार्थ नम्रता लाने के लिए उन्होंने अत्यन्त मैले स्थान (शौचकूप इत्यादि) को भी अपने हाथों से झाड़कर साफ किया। "समलोष्टाश्मकांचन" हुए बिना शारीरिक सुख की ओर से हटकर मनुष्य का मन ईश्वर के चरणों में स्थिर नहीं हो सकता। इस विचार से कुछ सिक्के और ढेले हाथ में लेकर वे सोने को मिट्टी और मिट्टी को सोना कहते हुए दोनों को गंगाजी की धारा में फेंक दिया करते थे।

"सभी जीव शिवस्वरूप हैं" यह भावना दृढ़ करने के लिए काली के मन्दिर में भिखारियों की पंगत उठने के बाद उनके जूठे अन्न को देवप्रसाद मानकर वे अपने मस्तक पर धारण करते थे और उसी में से थोड़ा सा खा भी लेते थे। तत्पश्चात् सब पत्तलों को इकट्ठा करके सिर पर उठाकर वे स्वयं गंगाजी में डाल आते थे और पंगत की जगह को झाड़ बुहारकर गोबर-पानी से

लीप डालते थे तथा इस भावना से अपने को धन्य मानते थे कि अपने इस नश्वर शरीर से इतनी तो शिवसेवा बन सकी।

उनके सम्बन्ध में ऐसी बहुतेरी बातें कही जा सकती हैं। इन सब प्रसंगों से स्पष्ट दिखता है कि ईश्वरलाभ के मार्ग के प्रतिकूल विषयों का त्याग केवल मन से ही करके वे शान्त नहीं बैठते थे, वरन् स्थूल रूप से उन सब का त्याग वे पहले ही कर देते थे अथवा अपनी इन्द्रियों और शरीर को उन विषयों से जितनी दूर हो सके उतनी दूर रखकर उनसे उनके विरुद्ध बर्ताव वे जान बूझकर कराते थे। ऐसा दिखता है कि उनके इन कार्यों से उनके मन में से सभी पूर्वसंस्कार समूल नष्ट होकर उनके स्थान में उनके विपरीत संस्कार उत्पन्न होकर इतने सुदृढ़ हो जाते थे कि उनसे पुनः कोई असत्कार्य होना असम्भव हो जाता था।

हम लोग पूर्वसंस्कार नष्ट करने के सम्बन्ध में इतने उदासीन रहते हैं कि हमें श्रीरामकृष्ण की इन क्रियाओं की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। सम्भव है कोई यह कहे कि "अपवित्र स्थान को झाड़ू देना, सुवर्ण को मिट्टी और मिट्टी को सुवर्ण कहना, भिखारियों का जूठन खाना इत्यादि व्यवहार उन्हीं के मन का निकाला हुआ साधनामार्ग है और इस प्रकार के अश्रुतपूर्व उपायों के अवलम्बन द्वारा जो फल उन्हें प्राप्त हुआ, क्या वह उन्हें उनकी अपेक्षा सरल उपायों से प्राप्त नहीं हो सकता था?" इसके सम्बन्ध में हमारा यही कहना है कि "इस प्रकार के बाह्य अनुष्ठानों का अवलम्बन किये बिना केवल मन से ही सभी विषयों का त्याग करके रूपरसादि विषयों से पूर्ण विमुख होकर आज तक कितने मनुष्यों ने अपने मन को सोलह आने ईश्वरचिन्तन में तन्मय करने में सफलता प्राप्त की है? मन यदि एक मार्ग से और शरीर

उसके विपरीत दूसरे मार्ग से जाने लगे, तो किसी भी महत्व के काम में सिद्धिलाभ नहीं हो सकता, फिर ईश्वरलाभ तो बहुत बड़ी बात है। मनुष्य का मन विषयभोग के सुख का अभ्यासी हो जाने के कारण उसे इस बात का ज्ञान नहीं होता। यदि ज्ञान हो भी जाय तो तदनुसार कार्य नहीं हो सकता। अमुक एक विषय का त्याग करना चाहिए यह बुद्धि द्वारा निश्चय हो जाने पर भी मनुष्य पूर्वसंस्कार के अनुसार ही आचरण करता रहता है और शरीर द्वारा भी उस विषय को त्यागने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् 'ऊँह! शरीर द्वारा त्याग नहीं किया तो क्या हुआ? मैंने मन से तो उसका त्याग कर ही दिया है!' ऐसा कहकर स्वयं अपने को धोखा देता रहता है। योग और भोग दोनों एक ही साथ ग्रहण कर सकूँगा, यह उसकी भ्रमात्मक भावना है; क्योंकि प्रकाश और अन्धकार के समान ही योग और भोग दोनों कभी भी एक साथ नहीं रह सकते। कामिनीकांचनमय संसार और ईश्वरसेवा दोनों एक ही समय रह सकें, ऐसा सरल मार्ग आध्यात्मिक जगत् में आज तक कोई भी नहीं निकाल सका; इसीलिए तो शास्त्रों में उपदेश है कि 'जिस वस्तु का त्याग करना है उसे काया, वचन और मन से करना चाहिए और जिसको ग्रहण करना है उसे भी काया, वचन और मन से करना चाहिए; तभी साधक ईश्वरप्राप्ति का अधिकारी हो सकता है--नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय!' " अस्तु--

बड़े भाई की मृत्यु के बाद गदाधर अधिक तन्मयता के साथ जगदम्बा के जप-ध्यान में निमग्न रहने लगा और उसके दर्शन के लिए जो कुछ भी करना उसे आवश्यक प्रतीत होता था वह सब तत्काल करने लगा। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहा करते थे, "यथाविधि

पूजा करने के बाद रामप्रसाद आदि भक्तसाधकों के पद देवी को सुनाना मेरी पूजाविधि का एक अंग हो गया था। उनके पदों को गाते समय मेरा चित्त अपार उत्साह से पूर्ण हो जाता था और मुझे ऐसा लगता था कि रामप्रसाद आदि को तो माता का दर्शन हुआ था तो फिर माता का दर्शन हो सकता है यह निश्चित है और फिर यह दर्शन मुझे ही क्यों नहीं मिलेगा ?" ऐसा सोचकर मैं व्याकुल होकर कहता था, "माँ! तूने रामप्रसाद को दर्शन दिया और मुझे ही क्यों दर्शन नहीं देती ? मुझे धन नहीं चाहिए, मान नहीं चाहिए, भोगसुख नहीं चाहिए--कुछ नहीं चाहिए; मुझे चाहिए केवल तेरा दर्शन !"

इस तरह प्रार्थना करते समय उनकी आँखों से अश्रुधारा बहने लगती थी और रोने से हृदय का भार कुछ हलका होने पर वे पुनः पद गाने लगते थे। इस प्रकार पूजा, ध्यान, जप, भजन-- इन्हीं में उनके दिन बीतने लगे। साथ ही उनके अन्तःकरण की व्याकुलता भी अधिकाधिक बढ़ने लगी। दिन पर दिन पूजा में समय भी थोड़ा थोड़ा अधिक लगने लगा। पूजा करते समय कभी कभी वे अपने ही मस्तक पर फूल चढ़ाकर दो-दो घण्टे निस्पन्दन होकर बैठे रहते थे या देवी नैवेद्य ग्रहण कर रही है, इसी भावना से बहुत समय तक नैवेद्य लगाते हुए ही बैठे रहते थे। प्रातःकाल उठकर सुन्दर सुन्दर फूल तोड़ लाते थे और स्वयं ही माला गूँथते थे। वे देवी को सजाने में कितना ही समय लगा देते थे। कभी तृतीय प्रहर में या आरती के बाद ऐसी तन्मयता के साथ पद गाते रहते थे कि बहुत सा समय निकल जाने का उन्हें बिलकुल भान भी नहीं होता था और दूसरों के बारम्बार बताने पर तब कहीं उन्हें चेत होता था।

ऐसी अद्भुत निष्ठा, शक्ति और व्याकुलता देखकर सब लोगों की दृष्टि गदाधर की ओर आकर्षित होने लगी। साधारण लोग जिस मार्ग से जाते हैं उसे छोड़कर यदि कोई भिन्न मार्ग ग्रहण करे तो पहले-पहल लोग उसकी हँसी उड़ाते हैं, पर यदि बहुत दिनों के बाद भी उसके आचरण में अन्तर नहीं पड़ता और वह अपने ही मार्ग में शान्तिपूर्वक चलता दिखायी देता है, तब तो उसके प्रति लोगों के भाव भिन्न होने लगते हैं और उसके प्रति उनकी आदरबुद्धि उत्पन्न होने लगती है। गदाधर के सम्बन्ध में भी यही बात हुई। कुछ दिनों तक लोगों ने उसकी दिल्लगी उड़ायी, पर बाद में उनका भाव बदल गया और बहुतों के मन में उसके प्रति आदर हो गया। कहते हैं--गदाधर की पूजा और तन्मयता को देखकर मथुरबाबू को बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने रानी से कहा, "हमें बड़ा अद्भुत पुजारी मिला है, देवी बहुत शीघ्र जागृत हो जायेगी।"

इस प्रकार दिन के बाद दिन जाने लगे। गदाधर की व्याकुलता उत्तरोत्तर बढ़ने से इसका परिणाम उसके शरीर पर भी दिखने लगा। उसका आहार और निद्रा कम हो गयी; वक्षःस्थल सदा आरक्त दिखने लगा; आँखों से निरन्तर अश्रुधारा बहने लगी और पूजा को छोड़ अन्य समय मन की प्रचण्ड व्याकुलता से उसके शरीर में सदा एक प्रकार की अशान्ति और चंचलता दिखायी देने लगी।

हमने श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुना है कि लगभग इसी समय एक दिन वे रोज के समान तन्मयता से जगदम्बा के सामने गायन कर रहे थे। "माँ! तुझे मैंने इतना पुकारा और मैंने तेरी इतनी विनती की, पर यह सब क्या तुझे सुनायी नहीं देता? तूने राम-

प्रसाद को दर्शन दिया और मुझको तू दर्शन क्यों नहीं देती ? तू ऐसा क्यों करती है ?" इस प्रकार की सतत उद्विग्नता उनके मन में हो रही थी। वे कहते थे, "माता का दर्शन न होने से हृदय में तीव्र वेदना उत्पन्न हुई; ऐसा मालूम पड़ने लगा कि मानो भिगोये हुए वस्त्र को निचोड़ने के समान कोई मेरे हृदय को ऐंठकर निचोड़ रहा हो ! क्या माता का दर्शन मुझे कभी भी नहीं होगा, इस विचार से जी घबराने लगा और ऐसा मालूम पड़ा कि 'अब इस अवस्था में जीवित रहकर ही क्या करना है ? बस अब तो देवी के चरणों में प्राण दे देना ही ठीक है।' इतने में ही वहीं जो एक तलवार लटक रही थी उस पर एकाएक मेरी दृष्टि पड़ी और उसके एक आघात से ही जीवन का अन्त कर देने के इरादे से उन्मत्त के समान उसकी ओर मैं झपटा और उस तलवार को हाथ में लेकर बस अब छाती में मार ही रहा था कि माता का अपूर्व अद्‌भुत दर्शन हुआ और देहभान भूलकर मैं बेसुध हो जमीन पर गिर पड़ा ! तदुपरान्त बाहर क्या हुआ और वह दिन और उसके बाद का दिन कैसे व्यतीत हुआ सो कुछ भी नहीं मालूम! अन्तःकरण में केवल एक प्रकार का अननुभूत आनन्द का प्रवाह बहने लगा !"

किसी दूसरे अवसर पर इसी दिन का वर्णन उन्होंने ऐसा किया कि "घर, द्वार, मन्दिर सब कहीं के कहीं विलीन हो गये; कुछ भी बाकी नहीं रहा; और फिर बचा क्या ? केवल एक असीम अनन्त सचेतन ज्योतिःसमुद्र ! जिस ओर देखो उसी ओर उसकी उज्ज्वल तरंगें महाध्वनि करती हुई मुझे प्लावित करने के लिए अत्यन्त वेग से बढ़ रही हैं। देखते देखते वे समीप आ पहुँचीं और मेरे शरीर पर टकराकर मुझे न मालूम कहाँ ले जाकर डुबा दिया ! मैं घबराकर धक्के खाते-खाते संज्ञाशून्य हो गया !"

इस दर्शन के पश्चात् श्रीजगन्माता की चिन्मयी मूर्ति के सदा सर्वकाल अखण्ड दर्शन के लिए वे ऐसी व्याकुलता से आक्रोश करते थे कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। सदा अन्तःकरण में प्रचण्ड उद्वेग हुआ करता था। उसकी वेदना होते ही जमीन पर लोटते-लोटते आकाश पाताल एक करते हुए रोते थे; "माता मुझ पर दया कर; मुझको दर्शन दे!"—इस प्रकार ऐसा चिल्ला उठते थे कि वहाँ लोगों की भीड़ जमा हो जाती थी। लोग क्या कहेंगे उस ओर ध्यान कौन दे? श्रीरामकृष्ण कहते थे, "चारों ओर लोग खड़े हुए हों तो भी वे मनुष्य नहीं, केवल छाया या चित्र के समान मालूम होते थे और इसी कारण लज्जा या संकोच थोड़ा भी नहीं होता था। इस प्रकार असह्य वेदना से बेहोश हो जाने पर माता की वह वराभयकरा चिन्मयी, ज्योतिर्मयी मूर्ति दिखायी पड़ती थी! उस समय ऐसा दीखता था कि माता हँस रही हैं, बोल रही हैं और तरह तरह से सान्त्वना दे रही हैं और शिक्षा भी!"

---

१५. मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण

पहला रसद्दार मथुरबाबू

मैंने कहा,—'माता, जो तूने मेरी ऐसी अवस्था कर दी है, तो अब मेरी सभी इच्छाएँ तृप्त करने वाला कोई बड़ा आदमी मुझसे मिला दे।' इसी कारण तो उसने (मथुरबाबू ने) चौदह वर्ष मेरी सेवा की।'

"ब्राह्मणी उसे प्रताप रुद्र कहती थीं।"

"माता ने उसे इस शरीर में न जाने क्या क्या दिखाया। क्या व्यर्थ ही उसने मेरी चौदह वर्ष सेवा की?"

—श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल में जिन दो व्यक्तियों ने उनकी अपूर्व सेवा की उनमें से एक (हृदय) का वृत्तान्त ऊपर कह चुके हैं। यहाँ दूसरे (मथुरबाबू) की बातें बताकर उनका और श्रीरामकृष्ण का कितना अलौकिक सम्बन्ध था, यह वर्णन करेंगे।

हममें से किसी को मथुरबाबू के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। श्रीरामकृष्ण के ही बताने पर से यह मालूम पड़ता है कि उनके ऊपर मथुरबाबू की भक्ति और श्रद्धा ऐसी अद्भुत थी कि वैसी कहीं अन्यत्र दिखायी देना सम्भव नहीं है। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य की इतनी भक्ति कर सकता है, इतना प्रेम कर सकता है, यह बात यदि श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू का सम्बन्ध हमें मालूम न रहता तो हमें या किस को भी सम्भव न दीखती। इसके सिवाय बाहर से देखने पर श्रीरामकृष्ण एक सामान्य-से पुजारी

थे और मथुरबाबू तथा रासमणि कुल में श्रेष्ठ न होते हुए भी धन में, मान में, विद्या में, बुद्धि में कितने ही श्रेष्ठ थे। इसके सिवाय बचपन से श्रीरामकृष्ण का स्वभाव कैसा विचित्र था! जहाँ धन, मान, विद्या और पदवी आदि प्राप्त करने के लिए सर्व-साधारण लोग दीर्घोद्योग किया करते हैं, वहाँ इनका (श्रीराम-कृष्ण का) पूर्ण उदासीन भाव था! वे कहते थे, "ऊँची मीनार पर खड़े होकर नीचे देखने से चार चार मंजिल की हवेलियाँ, ऊँचे ऊँचे पेड़ और जमीन पर की घास सब एक समान दिखायी देते हैं!" सचमुच ही उनका मन बचपन से सत्यनिष्ठा और ईश्वरानुराग के कारण सदा ऐसी उच्च अवस्था में रहता था कि वहाँ से हम जो धन, मान, विद्या आदि का थोड़ाबहुत अंश प्राप्त करने की चेष्टा करते रहते हैं वह सब उन्हें एक ही मूल्य का दिखायी देता था! संसार की ओर उनकी दोषदृष्टि भी कैसी विलक्षण थी! पढ़ाई आरम्भ करने पर लोगों का ध्यान साधारण रूप से तर्कालंकार, न्यायरत्न, महामहोपाध्याय आदि पदवियों की ओर जाता है और इन्हीं को प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा हो जाती है, पर श्रीरामकृष्ण की दृष्टि विपरीत दिशा की ओर गयी। उन्हें यही दिखा कि ऐसे पदवीधारी भी पेट की चिन्ता के कारण बड़ों की खुशामद करते हैं। विवाह करते समय भी सांसारिक सुख की ओर लोगों की दृष्टि जाती है, पर इनकी दृष्टि गयी संसार की क्षणभंगुरता और सुख की क्षणिकता की ओर। पैसा रहने पर संसार में अनेक प्रकार के सुखों की ओर दृष्टि जाती है, पर इनकी दृष्टि तो ईश्वरप्राप्ति के कार्य में पैसा कितना निरुपयोगी है, इस बात की ओर गयी। संसारी लोग दुःखी गरीब लोगों पर दया करके दाता, परोपकारी आदि

कहलाते हैं। इस ओर ध्यान न देकर उन्होंने विचारा कि सारे जन्म भर परिश्रम करके लोग क्या कमाते हैं? यही न कि दो-चार धर्मार्थ अस्पताल और दो-चार निःशुल्क पाठशालाएँ स्थापित कर दीं या दो-चार धर्मशालाएँ बनवा दीं और मर गये। पर संसार की कमी ज्यों की त्यों बनी रही! इसी प्रकार उन्हें संसार की अन्य सभी बातें दिखायी दीं।

ऐसी मनोवृत्तिवाले मनुष्य को ठीक ठीक पहचानना साधारण मनुष्य के लिए बहुत कठिन है; उस पर विद्याभिमानी या धनी के लिए तो और भी कठिन है; क्योंकि उन्हें तो संसार में स्पष्ट उत्तर और सच बातें सुनने को नहीं मिलतीं, इसलिए वे ऐसी बातें सुनकर नहीं सह सकते। अतः स्पष्ट वक्ता और सरल व्यवहार वाले श्रीरामकृष्ण के आशय को कई बार न समझकर यदि ये लोग इन्हें असभ्य, पागल, घमण्डी आदि मान भी लें तो कोई आश्चर्य नहीं। इसी कारण रानी रासमणि और मथुरबाबू की इनके प्रति भक्ति और प्रेम को देखकर बड़ा अचरज लगता है। ऐसा मालूम होता है कि केवल ईश्वरकृपा के ही कारण इन दोनों का श्रीरामकृष्ण पर इतना दृढ़ प्रेम हो गया था कि घटने के बदले वह उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त हुआ, यहाँ तक कि उनके गुरुभाव का अनुभव उन्हें प्राप्त हुआ और वे उनके चरणों में सर्वतोभावेन आत्मसमर्पण करने में समर्थ हो सके। जिन श्रीरामकृष्ण ने देवी-प्रतिष्ठा के दिन अपने बड़े भाई के पुजारी रहने और उनके देवी का प्रसाद ग्रहण करने पर भी यह सोचकर कि मुझे शूद्र का अन्न ग्रहण करना पड़ेगा, स्वयं उपवास किया था और बाद में भी कुछ दिनों तक अपने ही हाथ से पकाकर खाया था; जो मथुर-बाबू के बार बार बुलाने पर उन्हें विषयी मनुष्य जानकर उनसे

बातचीत करना भी टालते रहे; जो देवी का पुजारीपद ग्रहण करने के लिए विनती करने पर भी न माने, उन्हीं श्रीरामकृष्ण के प्रति रानी रासमणि और मथुरबाबू के मन में अकस्मात् ऐसी प्रीति उत्पन्न हो और वह दिनोंदिन बढ़ती जाय, यह कोई कम अचरज की बात नहीं है।

श्रीरामकृष्ण पर मथुरबाबू के ऐसे निष्कपट भक्ति-विश्वास का हाल सुनकर हम जैसे अविश्वासी तथा संशयी मनुष्यों के मन में यही आता है कि "मथुरबाबू एक पागल, भोलेभाले, तथा सनकी आदमी थे; नहीं तो एक मनुष्य का किसी दूसरे मनुष्य पर क्या इस तरह का भक्ति-विश्वास कहीं हो सकता है? उसके स्थान पर यदि हम होते तो देखते श्रीरामकृष्ण कैसे भक्ति-विश्वास पैदा करते?" मानो भक्ति-विश्वास उत्पन्न होना भी एक निन्द्य बात है! श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से और दुसरों से मथुरबाबू का वृत्तान्त सुनकर ऐसा कदापि नहीं मालूम होता था कि मथुरबाबू पागल या भोलेभाले या लापरवाह थे। वे हम आप से कम बुद्धिमान या संशयी नहीं थे। उन्होंने भी श्रीरामकृष्ण के अलौकिक चरित्र और कार्यकलाप के विषय में सन्देह कर, पद पद पर उनकी परीक्षा करके उन्हें कुछ कम नहीं सताया। पर परीक्षा करने से होता ही क्या था? श्रीरामकृष्ण की अदृष्टपूर्व विज्ञानवादिनी, प्रेमावर्तशालिनी, महाओजस्विनी भावमन्दाकिनी के गुरु-गम्भीर प्रवाह के वेग के सामने मथुरबाबू का सन्देहसिकता-सेतु कब तक टिक सकता था? थोड़े समय में वह सन्देह नष्ट हो गया और मथुरबाबू अनन्य भाव से श्रीरामकृष्ण के चरणकमलों में शरणापन्न हो गये।

मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण का सम्बन्ध एक अत्यन्त विलक्षण

बात थी। मथुर धनी तथा विषयी होते हुए भी भक्त थे; बड़े हठी और निश्चयी होकर भी बुद्धिमान थे; वे क्रोधी किन्तु धैर्यवान थे; अंग्रेजी पढ़े हुए थे; एक आध बात बारीकी से समझाने पर उसे समझ लेने वाले भी थे। वे आस्तिक और भक्त तो थे, पर धर्म के नाम से कोई मनुष्य व्यर्थ कुछ ही कह दे तो उसे वे सहज ही मान लेने वाले नहीं थे, चाहे ऐसी बात कहनेवाले स्वयं श्रीरामकृष्ण ही हों या उनके गुरुजी अथवा अन्य कोई। मथुरबाबू का स्वभाव उदार और सरल था, पर वे किसी के फाँसे में आने वाले नहीं थे। रानी के अन्य जमाइयों के रहते हुए भी उनका सब कारोबार देखने और उचित प्रबन्ध करने में मथुरबाबू उनके दाहिने हाथ थे; और यह सास और दामाद दोनों की कुशलता का ही परिणाम था कि हर एक के मुँह से रानी रासमणि का नाम सुन पड़ता था।

श्रीरामकृष्ण के सरल स्वभाव, मधुर भाषण और सुन्दर रूप से ही मथुरबाबू का मन पहले पहल उनकी ओर आकृष्ट हुआ! उसके बाद साधना की प्रथम अवस्था में जब कभी उन्हें दिव्य उन्माद होने लगा, जब वे जगदम्बा की पूजा करते करते तन्मय होकर स्वयं अपने में उस मूर्ति का दर्शन प्राप्त करने लगे, कभी कभी देवी के लिए लाये हुए फूल अपने ही ऊपर चढ़ाने लगे, जब अनुराग के प्रबल वेग से वैधी भक्ति की सीमा उल्लंघन करके साधारण लोगों की दृष्टि में विचित्र आचरण करने के कारण वे हँसी और लोकनिन्दा के विषय होने लगे, तब तीक्ष्ण बुद्धिसम्पन्न मथुरबाबू ने यही निश्चय किया कि जिसे मैंने सर्वप्रथम दर्शन के समय 'सरल प्रकृति का मनुष्य' समझा था उसके विरुद्ध कोई कुछ ही कह दे यह मैं उसकी स्वयं जाँच किये बिना

विश्वास नहीं करूँगा । इसी कारण मथुरबाबू बिना किसी को बताये स्वयं दक्षिणेश्वर आये और उन्होंने श्रीरामकृष्ण के व्यवहार का बारीकी से बारम्बार निरीक्षण किया जिससे उनका संशय दूर हो गया तथा उन्हें निश्चय हो गया कि "गदाधर अनुराग और सरलता की सजीव मूर्ति हैं और उनके विचित्र व्यवहार का कारण उनकी अपार भक्ति और विश्वास है ।" इसीलिए बुद्धिमान परन्तु विषयी मथुरबाबू ने उन्हें समझाने की कोशिश की कि "जितना पचे उतना ही खाना चाहिए, भक्ति और विश्वास होना उचित है, पर उनमें इतना उन्मत्त होने से कैसे बनेगा ? ऐसा करने से संसार में निन्दा होती है और चार भले मनुष्यों का कहना न मानकर अपने ही मन के अनुसार चलने से बुद्धिभ्रष्ट होकर पागल हो जाने का भी डर रहता है ।" परन्तु ऊपर ही ऊपर से ऐसा कहते हुए मथुरबाबू मन में यह भी सोचते थे कि "रामप्रसाद आदि पूर्वकालीन साधकों की भी भक्ति के प्रवाह में यही अवस्था होकर क्या उनके भी आचार पागल के समान नहीं होते थे ? इनकी अवस्था और बर्ताव उन्हींके समान नहीं है, यह कैसे कहा जाय ?" और यह विचार मन में आते ही उन्होंने आगे क्या होता है, यह शान्त होकर ध्यानपूर्वक देखने का निश्चय किया । जब विषयी मालिक अपने एक साधारण नौकर के बारे में यह निश्चय करता है तब क्या यह कम आश्चर्य की बात है ?

भक्ति में एक प्रकार की संक्रमण-शक्ति होती है । शारीरिक विकारों के समान मानसिक भावों का भी एक के पास से दूसरे के पास संक्रमण हुआ करता है । इसी कारण यदि एक के अन्तः-करण में भक्तिभाव जागृत होकर वह दूसरे के हृदय के निद्रित भक्तिभाव को जागृत कर दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है

यही कारण है कि धर्ममात्र के उद्दीपन करने के लिए सत्संग की महिमा शास्त्रों में वर्णित है। मथुरबाबू के भाग्य में भी यही बात हुई। श्रीरामकृष्ण के कार्यों का जैसे जैसे वे निरीक्षण करते गये वैसे वैसे उनके हृदय का भक्तिभाव उन्हें बिना मालूम हुए जागृत होने लगा। पर विषयी मन की यही स्थिति होती है कि अभी भक्ति-विश्वास का उदय हुआ और थोड़ी देर बाद पुनः संशय आने लगा। इसी प्रकार बारम्बार कुछ समय तक होते होते उनका विश्वास दृढ़ हो गया और उनके हृदय में श्रीरामकृष्ण के प्रति अटल श्रद्धा हो गयी। इसी कारण श्रीरामकृष्ण का शुरू शुरू का आचरण शायद मेरी अतिशय भक्ति के कारण ही विचित्र दिखता है, यह निःसन्देह मान लेने पर भी कभी कभी इस आचरण की उत्तरोत्तर वृद्धि देखकर उनके बुद्धिभ्रंश होने की शंका भी बीच बीच में मथुरबाबू के मन में आने लगी। इस शंका से उनके मन में चिन्ता होती थी और वे बड़े बड़े नामी वैद्यों को बुलवाकर श्रीरामकृष्ण की परीक्षा कराते तथा उन्हें योग्य औषधि दिलाने का प्रबन्ध भी करते थे।

अंग्रेजी विद्या में मथुरबाबू की कम योग्यता नहीं थी और उस विद्या के प्रभाव से एक प्रकार की स्वतन्त्रता जो मनुष्य के विचार में आ जाती है उसकी भी कमी मथुरबाबू में न थी। इसी कारण उन्होंने "ईश्वरप्रेम में बेहोश होने लायक तन्मय न होने" का उपदेश श्रीरामकृष्ण को दिया होगा! एक समय श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू में इसी तरह की बहस छिड़ गयी:—

मथुरबाबू कहने लगे—"ईश्वर को भी नियम के अनुसार चलना पड़ता है। जो नियम उन्होंने एक बार बना दिया उसे रद्द करने का सामर्थ्य उन्हें भी नहीं रहता।" श्रीरामकृष्ण बतलाते थे कि

मैंने कहा, "कैसे पागल के समान तू बोल रहा है ? अरे ! जिसने नियम बनाया वह अपना नियम चाहे जब रद्द कर दे और उसके बदले कोई दूसरा नियम शुरू कर दे ! यह तो उसकी इच्छा की बात है।"

पर यह बात मथुरबाबू को किसी प्रकार न जँची।

मथुरबाबू--"लाल फूल के पेड़ में सदा लाल फूल ही लगेगा, क्योंकि यही नियम उसने एक बार बना दिया है।"

मैंने कहा--"अरे भाई ! उसके मन में जो आयेगा वही वह करेगा, तब लाल और सफेद फूल की कौन सी बात है ? पर उसने यह बात न मानी।"

उसके दूसरे ही दिन मैं झाऊतला* की ओर शौच के लिए गया तो मुझे दिखा कि लालजवा (जासुन) के पेड़ में एक ही डाली पर दो फूल फूले हैं--एक सुर्ख लाल और दूसरा शुभ्र श्वेत--उस दूसरे पर लाल रंग की आभा तक नहीं है। देखते ही मैंने वह पूरी डाली तोड़ ली और उसे लेकर मथुरबाबू के पास गया और उनके सामने उस डाली को फेंककर मैं बोला, "तू नहीं नहीं करता था न ? यह देख !" मथुरबाबू ने बारीकी के साथ उसकी जाँच की और चकित होकर बोले "हाँ बाबा ! मैं हारा !"

इसी प्रकार कभी कुतूहल से, कभी श्रीरामकृष्ण की व्याकुलता को किसी रोग से उत्पन्न समझकर, कभी उनकी व्याकुलता को ईश्वर के अत्यन्त प्रेम और भक्ति से उत्पन्न जानकर आश्चर्य और भक्ति के साथ विषयी मथुरबाबू धीरे-धीरे उनकी संगत में अधिकाधिक समय बिताने लगे तथा उनकी ठीक-ठीक व्यवस्था

* दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर के अहाते का एक भाग। उस ओर उन दिनों जंगल था।

रखने में तत्पर रहने लगे। और मथुरबाबू निश्चिन्त रहें भी कैसे? नवानुराग के प्रबल वेग के कारण श्रीरामकृष्ण तो नित्य प्रति नया ही रंग दिखाने लगे! आज क्या है? अपने अन्तर में अन्तर्यामी जगदम्बा का दर्शन हो जाने के कारण पूजा की सभी सामग्री उन्होंने अपने ही ऊपर चढ़ा ली! कल क्या है? देवी की सन्ध्या आरती लगातार तीन घण्टे तक करते हुए अन्य नौकर-चाकरों को तंग कर डाला! परसों क्या है? जगदम्बा का दर्शन नहीं हुआ इस कारण जमीन पर लोट रहे हैं और इतना आक्रोश कर रहे हैं कि इन्हें देखने के लिए आश्चर्य से चारों ओर से लोग दौड़ पड़े हैं! इस प्रकार प्रत्येक दिन की अलग-अलग लीला हमें श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

एक दिन श्रीरामकृष्ण शिवमन्दिर में जाकर शिवमहिम्न-स्तोत्र से महादेव की स्तुति करने लगे। क्रमशः यह श्लोक आया——

असितगिरिसमं स्यात् कज्जलं सिन्धुपात्रे
सुरतरुवरशाखा लेखनी पत्रमुर्वी।
लिखति यदि गृहीत्वा शारदा सर्वकालं
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति॥

इस श्लोक को कहते समय उनके हृदय में शिव की अपार महिमा की भावना अचानक जागृत हो गयी। श्लोक का उच्चारण बीच में ही रुक गया और व्याकुलता से विह्वल होकर वे बड़े जोर-जोर से चिल्लाने लगे, "प्रभो! महादेव! तेरे गुणों का वर्णन मैं कैसे करूँ।" उनकी आँखों की अश्रुधारा के अविच्छिन्न प्रवाह से उनका वक्ष:स्थल और नीचे की भूमि भीग गयी! उस आर्तनाद को सुनकर मन्दिर के दूसरे पुजारी तथा अन्य नौकर दौड़ आये और उनका वह पागल की तरह रोना और उन्मत्त का सा व्यवहार

देखकर चकित हो गये। फिर इस रोने-गाने के परिणाम को देखने के लिए वे वहीं पर तटस्थ हो खड़े रह गये। कोई कोई कहने लगे, "अँ: ! छोटे भट्टाचार्य* की पागलपन की लहर है ! हमने सोचा था कुछ और बात है ! आज तो महाशय बड़े रंग में दीख रहे हैं !" दूसरे कहने लगे, "देखो भला, संभालो, नहीं तो ये महादेव पर ही सवार होंगे !" कुछ ऐसा भी कहने लगे, "अरे ! देखते क्या हो ? निकालो हाथ पकड़कर बाहर !" चार मुँह, चार बातें ! जिसके मन में जो आया वह वही कहने लगा।

इधर बाहर क्या हो रहा है, इसकी श्रीरामकृष्ण को खबर ही नहीं थी। शिवमहिमा के अनुभव में ही वे तन्मय थे, उनका मन बाह्य जगत् से सम्बन्ध तोड़कर न जाने किस उच्च भूमिका में प्रविष्ट हो गया था, वहाँ फिर कैसा संसार और कैसा उसका कोलाहल !

उस दिन मथुरबाबू मन्दिर में आये हुए थे। यह सब गड़बड़ श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में होता हुआ सुनकर वे तुरन्त ही शिव-मन्दिर में आये। नौकर लोग बड़ी हड़बड़ी के साथ अलग हो गये। भीतर जाकर श्रीरामकृष्ण की वह तन्मयता देखते ही मथुरबाबू का हृदय भक्ति और आदर से भर आया। इतने में ही किसी ने कहा कि क्या श्रीरामकृष्ण को खींचकर बाहर निकाल दें ? वे यह सुनकर उस पर क्रुद्ध होकर बोल उठे, "खबरदार ! यदि किसी ने उनके शरीर को हाथ लगाया तो . . .।" यह सुनकर डर के मारे कोई कुछ बोलने की हिम्मत न कर सका।

कुछ समय बाद श्रीरामकृष्ण सचेत हुए और इतनी भीड़ और

*नौकर चाकर लोग श्रीरामकृष्ण को छोटे भट्टाचार्य और रामकुमार को बड़ भट्टाचार्य कहते थे।

उसमें मथुरबाबू को खड़े हुए देखकर एक छोटे बालक के समान वे उनसे पूछने लगे, "बेहोशी में मैं कुछ अनुचित तो नहीं कर गया ?" मथुरबाबू ने नमस्कार करते हुए कहा, "नहीं बाबा ! आपने कुछ नहीं किया। आप स्तोत्र पढ़ रहे थे, उसे बिना समझे आपको कोई व्यर्थ कष्ट न दे इसलिए मैं यहीं खड़ा हो गया था।"

श्रीरामकृष्ण की ज्वलन्त संगति से एक समय मथुरबाबू को बड़ा अद्‌भुत दर्शन प्राप्त हुआ, जिससे श्रीरामकृष्ण पर उनका भक्ति-विश्वास सहस्र गुना बढ़ गया। यह बात हमने प्रत्यक्ष श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनी है। एक बार श्रीरामकृष्ण अपने ही विचारों में मग्न अपनी कोठरी के सामने के लम्बे बरामदे में से इधर से उधर टहल रहे थे। मन्दिर और पंचवटी के बीच में एक अलग घर है—जिसे अब तक 'बाबू का घर' कहते हैं—उसीके एक हिस्से में उस दिन मथुरबाबू अकेले बैठे थे। वहाँ से श्रीरामकृष्ण का टहलना उन्हें स्पष्ट दीखता था। उस समय वे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में, तथा अन्य काम-काज के बारे में कुछ विचार कर रहे थे। मथुरबाबू के वहाँ बैठे रहने की ओर श्रीरामकृष्ण का ध्यान बिलकुल नहीं था।

देखते-देखते अकस्मात् मथुरबाबू चौंककर खड़े हो गये और दौड़ते हुए जाकर श्रीरामकृष्ण के चरणों में लोटने लगे। तत्पश्चात् वे उठे और उनके दोनों पैरों को जोर से पकड़कर रोने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "मैं बोला—'तू यह क्या कर रहा है ! तू इतना बड़ा आदमी, रानी का दामाद, तू ही ऐसा करने लगा तो लोग क्या कहेंगे ? शान्त हो, उठ !' पर मेरी सुनता कौन है ? बहुत देर के बाद वह कुछ शान्त हुआ और बोला, 'अद्‌भुत दर्शन हुआ ! बाबा ! आप टहलते समय सामने जाते थे तब ऐसा

दीखता था कि आप नहीं हैं वरन् साक्षात् जगदम्बा ही सामने जा रही हैं ! जब आप पीछे लौटने लगते थे तब आप साक्षात् महादेव ही दीखते थे । पहले मैं समझा कि मुझे भ्रम हो गया, पर आँखें मलकर देखा तो भी वही दृश्य ? कितनी ही बार आँखो को मल-मलकर देखा पर दिखायी दिया वही दृश्य !' ऐसा कहकर वह पुनः रोने लगा। मैं बोला, 'मैं तो भाई इसे कुछ नहीं समझा।' पर सुने कौन ? तब तो मुझे डर लगा कि यदि कोई यह बात जाकर रानी से कह दे तो वह क्या समझेगी ? उसका निश्चय यही भाव होगा कि मैंने ही इस पर कोई जादू-टोना कर दिया है; इसलिए मैंने उसे पुनः बहुत समझाया तब कहीं जाकर वह शान्त हुआ। मथुर क्या यों ही इतनी भक्ति और सेवा करता था ? माता ने उसे कितनी ही बातें यहाँ दिखायीं और सुनायीं। लोग यह कहते अवश्य हैं कि मथुर की जन्मपत्री में लिखा था कि उसके इष्टदेव की उस पर इतनी कृपादृष्टि रहेगी कि वे शरीर धारण करके उसके साथ साथ घूमेंगे और उसकी रक्षा करेंगे।"

इस समय से मथुरबाबू का विश्वास और उनकी भक्ति बहुत दृढ़ हो गयी, क्योंकि अब उन्हें पूरा निश्चय हो गया कि सर्वप्रथम दर्शन के समय ही जिनके सम्बन्ध में मेरा अच्छा भाव हो गया था और दूसरे लोगों की दिल्लगी उड़ाने पर भी जिनके विचित्र आचरण का थोड़ाबहुत मर्म मैं समझता था, वे श्रीरामकृष्ण यथार्थ में कोई सामान्य व्यक्ति नहीं हैं। श्रीरामकृष्ण के शरीर के आश्रय से साक्षात् जगदम्बा ही मुझ पर अपना अनुग्रह करने के लिए आयी हैं और मेरी जन्मपत्रिका में बताया हुआ भविष्य सचमुच ठीक उतर रहा है।

यथार्थ में मथुरबाबू के बड़े भाग्यशाली होने में कोई संशय

नहीं है। शास्त्रों का वाक्य है कि जब तक शरीर है तब तक भले और बुरे दोनों प्रकार के कर्म मनुष्य द्वारा हुआ ही करेंगे। साधारण मनुष्यों की तो बात ही क्या, मुक्त पुरुषों का भी यही हाल है। साधारण मनुष्य अपने अपने कर्मों का फल आप स्वयं ही भोगते हैं। पर मुक्त पुरुषों के शरीर से होने वाले पाप-पुण्यों का फल कौन भोगे? वे स्वयं तो उसे भोगते ही नहीं, क्योंकि अभिमान (अहंकार) ही सुख-दुःख का भोगनेवाला होता है और मुक्त पुरुषों का अहंकार तो सदा के लिए समूल नष्ट हो जाता है। कर्म के साथ साथ उसका फल लगा ही रहता है और मुक्त पुरुषों द्वारा भी कर्म होते ही रहते हैं—तब इन फलों को भोगेगा कौन? यहाँ पर शास्त्रवाक्य है कि:—

तस्य पुत्राः दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां, द्विषतः पापकृत्याम्।
वे. सू. ३. अ., ३ पाद २६ सू. भाष्य।

"जो बद्ध पुरुष उन मुक्त पुरुषों की सेवा करते हैं, उन पर प्रीति करते हैं, वे उनके शुभ कर्मों का फल भोगते हैं और जो पुरुष उनसे द्वेष करते हैं वे उनके अशुभ कर्मों का फल भोगते हैं।" साधारण मुक्त पुरुषों की सेवा से जब इस प्रकार का फल मिलता है तो ईश्वरावतारों की भक्ति-प्रीति-पूर्ण सेवा का कितना फल मिलता होगा इसकी तो सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है।

श्रीरामकृष्ण के प्रति मथुरबाबू की भक्ति उत्तरोत्तर अधिक होने लगी और श्रीरामकृष्ण की सब इच्छाएँ तत्काल तृप्त करना तथा उनकी हर तरह से निरन्तर सेवा करना वे अपना परम सौभाग्य समझने लगे। श्रीरामकृष्ण की शारीरिक प्रकृति के अनुसार उन्हें रोज शरबत पिलाना आवश्यक मालूम होने पर उसकी भी व्यवस्था उन्होंने कर दी। श्रीरामकृष्ण के स्वास्थ्य बिगड़ने

पर उन्हें औषधि देने के लिए उन्होंने कलकत्ता के प्रसिद्ध वैद्य गंगाप्रसाद सेन और डॉक्टर महेन्द्रलाल सरकार को नियुक्त कर दिया। श्रीजगन्माता को जैसे आभूषण पहनाने की इच्छा श्रीरामकृष्ण की होती थी, वैसे ही आभूषण मथुरबाबू तत्काल बनवाकर श्रीदेवीजी को अर्पण कर देते थे। वैष्णवतन्त्रोक्त सखी-भाव की साधना करते समय श्रीरामकृष्ण को स्वयं अपना स्त्रीवेष बनाने की इच्छा होते ही मथुरबाबू ने उसी समय सब प्रकार के हीरा जवाहिरात जड़े हुए अलंकार, बनारसी साड़ी, ओढ़नी इत्यादि ला दी। श्रीरामकृष्ण की पानीहाटी का महोत्सव देखने की इच्छा होते ही मथुरबाबू ने उनके वहाँ जाने का प्रबन्ध कर दिया, और इतना ही नहीं, उन्हें भीड़ में कहीं चोट न लगे इसलिए साथ में दो चार सिपाही लेकर बिना किसी को बताये स्वयं उनके संर-क्षणार्थ वहाँ गये ! इस प्रकार की अद्भुत सेवा के वृत्तान्त के साथ साथ वेश्याओं के मेले में जाने से उनके मन में असद्भाव उत्पन्न होता है या नहीं, देवी की अपार सम्पत्ति उनके नाम लिख देने की बात निकालने से उन्हें लोभ उत्पन्न होता है या नहीं इत्यादि उनकी अनेक प्रकार की परीक्षा लेने की बातें भी हमने श्रीराम-कृष्ण के श्रीमुख से सुनी हैं। इससे पता लगता है कि मथुरबाबू का विश्वास धीरे धीरे ही दृढ़ हुआ था। सर्व परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के कारण जैसे जैसे वे विश्वास की कसौटी पर ठीक उतरने लगे और उत्तरोत्तर अधिक उज्ज्वल स्वरूप धारण करने लगे वैसे वैसे उनका श्रीरामकृष्ण पर प्रेम अधिकाधिक होता गया। मथुर-बाबू ने देखा कि लाखों रुपयों का लोभ दिखाने से भी जिनके वैराग्य में लेशमात्र भी कमी नहीं होती, सुन्दर स्त्रियाँ जिनके मन में किंचित् विकार उत्पन्न नहीं कर सकतीं, सांसारिक मानापमान

से जिनके मन में कुछ भी अहंकार उत्पन्न नहीं होता (कारण कि मनुष्य को भगवान जानकर पूजा करने से बढ़कर मान और कौन सा हो सकता है ?) जो सब प्रकार के ऐहिक विषयों से सम्पूर्ण उदासीन हैं, जो मेरे जीवन के अनेक दोषों को देखकर भी मुझ पर इतना प्यार करते हैं, अनेक संकटों से मुझे उबारते हैं और सब प्रकार से मेरी कल्याण की कामना करते हैं, वे सचमुच में मनुष्य वेषधारी होते हुए भी, 'न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्नि': ऐसे किसी दूरस्थ साम्राज्य के निवासी हैं।

एक और बात का प्रभाव मथुरबाबू के अन्तःकरण पर पड़ा। वह है, इस अद्‌भुत चरित्र का माधुर्य। ऐसी अलौकिक ईश्वरी शक्ति का इनमें पूर्ण विकास होते हुए भी वे स्वयं बालक के बालक ही बने थे। थोड़ा भी अहंकार उनमें नहीं था ! वाह रे चमत्कार ! उनके अन्तःकरण में जो भी भाव उत्पन्न हो उसे पाँच वर्ष के बालक के समान वे सरलता से कह देते थे--लेशमात्र छिपाने का प्रयत्न नहीं करते थे। जैसे भीतर वैसे बाहर। दूसरे को कदापि कष्ट नहीं देते थे। दूसरे का नुकसान होने लायक वे कभी कुछ नहीं कहते थे चाहे उसके कारण स्वयं उन्हें कितना भी कष्ट क्यों न हो।

मथुरबाबू के हलधर नाम के एक पुरोहित थे। श्रीरामकृष्ण पर बाबूजी की इतनी भक्ति देखकर उसे ईर्ष्या होने लगी। वह मन में कहता था, "इस मनुष्य ने जादूटोना करके हमारे बाबूजी को वश में कर लिया है। मैं आज कितने दिनों से अपना प्रभाव उन पर डालना चाहता हूँ, पर इसके कारण मैं कुछ कर ही नहीं पाता। तिस पर भी बालक के समान स्वांग बनाता है। यदि

इतना सरल है तो भला बताये हमें अपनी वशीकरण विद्या; पर वैसा नहीं करेगा। मैंने अपनी सारी विद्या लगा दी थी और बाबू मेरे वश में आ ही रहे थे कि न मालूम कहाँ से यह व्याधि आ गयी!" इस तरह के विचारों से वह बड़ा चिन्तित रहता था और श्रीरासकृष्ण से इसकी कसर निकालने का मौका ढूँढं रहा था।

उसे यह अवसर शीघ्र ही मिल गया। मथुरबावू के जान-बाजार के बाड़े में एक दिन सन्ध्या समय श्रीरामकृष्ण भगवच्चिन्तन में तन्मय होकर अर्धबाह्य दशा में पड़े थे! पास में कोई नहीं था। कुछ समय पश्चात् श्रीरामकृष्ण समाधि से उतरकर धीरे धीरे सचेत हो रहे थे इतने में ही हलधर पुरोहित सहज ही वहाँ आया और श्रीरामकृष्ण को वहाँ अकेला देखकर उचित अवसर मिला जानकर उसे बड़ा आनन्द हुआ। इधर उधर पास में किसी का न होना निश्चय जानकर वह श्रीरामकृष्ण के समीप आया और उनको धक्के लगाता हुआ बोला, "क्यों रे भट्ट! बाबू को जादू करके वश में कर लिया है? बोल न रे! अब क्यों चुप्पी साध ली है? क्यों रे, ढोंग करता है?" अर्धसमाधि में रहने के कारण श्रीरामकृष्ण उस समय बोल ही नहीं सकते थे। श्रीरामकृष्ण को कुछ न बोलते देखकर उसने गुस्से ही गुस्से में "जा रे! नहीं बोलता तो मत बोल" ऐसा कहते हुए एक लात मारकर वहाँ से अपना मुँह काला किया। मथुरबाबू को मालूम होने से ब्राह्मण का कहीं अनिष्ट न हो जाय, यह सोचकर निरभिमानी श्रीरामकृष्ण ने इसके बारे में जरा भी चर्चा नहीं की। पर इसके कुछ दिनों के बाद अन्य कारणों से मथुरबाबू हलधर पर नाराज हो गये जिससे हलधर नौकरी से अलग कर

दिया गया। बाद में एक दिन मामूली बातों में श्रीरामकृष्ण ने उस दिन की बात मथुरबाबू को बतायी; उसे सुनकर मथुरबाबू क्रोध और दुःख से सन्तप्त हो उठे और कहने लगे, "बाबा! यह बात मुझे पहले मालूम हो जाती तो वह ब्राह्मण कदापि जीवित न बचता।"

मथुर का भक्ति-विश्वास ज्यों ज्यों बढ़ने लगा त्यों त्यों वे श्रीरामकृष्ण की ही संगत में रहने तथा उनकी अधिकाधिक सेवा करने का उपाय ढूँढ़ने लगे। उनके मेरे ही पास रहने से उनकी सेवा करने का अवसर मुझे अधिक मिलेगा यह सोचकर वे बीच बीच में श्रीरामकृष्ण को जानबाजार के अपने बाड़े में रहने के लिए ले जाने लगे। तीसरे प्रहर में "चलिये बाबा, घूमने चलें" कहकर उन्हें कलकत्ता के किसी उत्तम स्थान में अपने साथ घूमने ले जाया करते थे। बाबा के भोजन के लिए उन्होंने सोने चांदी के बर्तन विशेष रूप से बनवाये थे। उनके लिए सदा उत्तम उत्तम वस्त्र खरीद देते थे और इतना होने पर भी कहते थे, "बाबा! आप ही तो इस सब के मालिक हैं! देखिये न, इस सोने की थाली और चांदी की कटोरी में आपका भोजन हो जाने के बाद आप उस ओर तो लौटकर देखते भी नहीं। तब मुझको ही उन्हें माँज धोकर और पोंछकर ठीक तरह से रखवाने का प्रबन्ध करना पड़ता है न?"

लगभग इसी समय एक अत्यन्त मूल्यवान बनारसी दुशाले की दुर्दशा का वृत्तान्त हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुना है। मथुरबाबू ने वह दुशाला एक हजार रुपये में खरीदा था। इतनी कीमती और सुन्दर वस्तु वे और किसे दें, यह सोचकर उन्होंने बड़े आनन्द से उसे श्रीरामकृष्ण को समर्पण किया! उस दुशाले

को ओढ़ने से उन्हें बड़ा आनन्द हुआ; उसकी ओर वे बार-बार देखने लगे और बड़े आनन्द से इधर उधर टहलने लगे। उस दुशाले को वे हर एक को दिखाने लगे और दिखलाते समय कहते, "देखो यह दुशाला मथुर ने १०००) खर्च करके मेरे लिए ला दिया है!" पर बस! एक छोटे बालक के समान थोड़ी ही देर में सब आनन्द चला गया और मन में दूसरे ही विचार आने लगे। "इस दुशाले में विशेष बात क्या है? इसमें ऊन और जरी के सिवाय तो और कुछ नहीं है; जिन पंचभूतों से सब चीजें तैयार होती हैं उन्हीं से यह दुशाला भी बना है। गुण यही है कि इससे ठण्डक से बचत होती है। (थोड़े विचार के बाद) पर यह काम तो कम्बल से भी होता है। फिर इसमें इतना अधिक क्या है? और सब वस्तुओं के समान इससे भी सच्चिदानन्द की प्राप्ति तो नहीं होती, वरन् उलटे इसे ओढ़ने से 'मैं सबसे श्रेष्ठ हूँ' इस प्रकार केवल अहंकार उत्पन्न होकर मनुष्य ईश्वर से दूर हट जाता है, यह इसका बड़ा भारी दोष है।" ऐसा सोचकर उन्होंने दुशाले को जमीन पर फेंक दिया और "इससे सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं होती, थूः थूः!"—यह कहते हुए उस पर थूकते हुए उसे पैरों से रौंद डाला। इतने से ही सन्तोष न मानकर उसे वे जलाने का प्रयत्न कर रहे थे, पर इतने ही में वहाँ कोई आ गया और श्रीरामकृष्ण के हाथ से उसने उस दुशाले को छुड़ा लिया। मथुरबाबू को यह वृत्तान्त विदित होने पर वे बोले, "बाबा ने ठीक किया!!"

मथुरबाबू श्रीरामकृष्ण को अनेक प्रकार के सुखभोग और आराम में रखने का प्रयत्न करते थे तथापि श्रीरामकृष्ण का मन कितने ऊँचे विचारों में मग्न रहता था, यह ऊपर की घटना से

स्पष्ट दीखता है। मथुरबाबू की पत्नी भी उन्हें साक्षात् ईश्वर समझती थीं। मथुर और उनकी स्त्री दोनों श्रीरामकृष्ण से कोई बात नहीं छिपाते थे। वे दोनों कहते थे, "बाबा कोई मनुष्य नहीं हैं। उनसे कोई बात छिपाना ठीक नहीं। उन्हें सब बातें मालूम हो जाती हैं। मन की बात भी वे जान लेते हैं।" और वे दोनों सिर्फ ऐसा कहा ही नहीं करते थे वरन् श्रीरामकृष्ण के साथ उनका व्यवहार भी उसी प्रकार का था। वे अपना खान-पान, उठना-बैठना, सभी व्यवहार उनको साथ लेकर ही करते थे। इतना ही नहीं, उनका शयन भी कई दिनों तक एक ही स्थान में होता था। बाबा को किसी समय भी बाड़े के किसी भी भाग में जाने की पूरी स्वतन्त्रता थी। ऐसी स्वतन्त्रता न देने से लाभ ही क्या था ? कहाँ क्या हो रहा है, यह सब बाबा को मालूम हो जाने का उन्हें कई बार निश्चय हो चुका था। इसके अतिरिक्त पुरुष को स्त्रियों में शामिल नहीं होने देने का मुख्य कारण है मानसिक विकार। परन्तु इस सम्बन्ध में तो बाबा को घर के किसी एक संगमरमर के पुतले के समान ही समझना चाहिए। किसी अपरिचित पुरुष को देखकर स्त्रियों के मन में जिस प्रकार लज्जा और संकोच उत्पन्न होता है वैसा भाव मथुरबाबू के यहाँ किसी स्त्री के मन में श्रीरामकृष्ण को देखकर नहीं होता था। उन्हें वे उनमें से ही एक या कोई पाँच वर्ष के छोटे बालक के समान प्रतीत होते थे। सखीभाव से साधना करते समय वे स्त्रीवेष धारण करके इन स्त्रियों में मिल जाते थे। दुर्गापूजा के समय इन स्त्रियों के साथ वे श्रीजगदम्बा पर चँवर डुलाया करते थे। किसी स्त्री का पति आ जाय, तो ठाटबाट से सजाकर पति के साथ बोलने की रीति आदि सिखाकर उसे पति के शयनमन्दिर में पहुँचाकर वे वापस

आते थे--इत्यादि अनेक बातें स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनकर इन सब स्त्रियों का इस कामगन्धहीन अद्‌भुत पुरुष श्रीरामकृष्ण से कैसा अपूर्व भक्ति-विश्वास का सम्बन्ध था, यह सोचकर मन आश्चर्यचकित हो जाता है और हृदय से यही निकलता है कि उनकी भक्ति, उनका विश्वास और उनकी नि:संकोच वृत्ति के आचरण को धन्य है।

१६. श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू

इस वर्ष मथुरबाबू के घर दुर्गापूजा का उत्सव बड़े ठाटबाट से होने वाला था, क्योंकि कुछ दिनों से बाबा उन्हीं के घर में थे और उत्सव की समाप्ति तक वहीं रहने वाले थे। जैसे अपनी माता के पास छोटा बालक निर्भय होकर खेलता है, अनेक प्रकार के उपद्रव करता है, हठ करता है, मचलता है और विनोद करता है, ठीक उसी प्रकार की अवस्था और आचरण निरन्तर भावावेश में मग्न रहने वाले बाबाजी का था! भास होता था कि मानो आजकल साक्षात् देवी की मूर्ति भी जागृत हो गयी है! सारे घर के वातावरण में भी मानो पवित्रता और प्रसन्नता छा गयी थी!

मथुरबाबू की भक्ति राजसी थी। उन्होंने अपने बाड़े को सजाया था। देवी की मूर्ति का अति विचित्र रीति से श्रृंगार किया था। पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि पूजाद्रव्यों की भरमार थी। रातदिन मंगलवाद्य बजते रहते थे; पूजा के किसी भी बाह्य उपचार में उन्होंने थोड़ी भी न्यूनता नहीं पड़ने दी। सभी प्रकार की व्यवस्था करने में व्यग्र होने के कारण मथुरबाबू और उनकी पत्नी दोनों को एक क्षण भर भी फ़ुरसत नहीं मिलती थी।

सन्ध्या हो गयी है। अब थोड़े ही समय में आरती होने वाली है। आज सखीभाव में रहने के कारण बाबा अपना पुरुष होना बिलकुल भूल गये थे। उनकी बोल-चाल और अन्य सब व्यवहार बिलकुल स्त्रियों के समान दीखते थे। मानो वे जन्म-जन्मान्तर से

श्रीजगदम्बा की दासी या सखी ही रहे हों! मानो जगदम्बा ही उनके प्राण, वही उनका मन, वही उनका सर्वस्व हों और उन्हीं की सेवा के लिए ही मानो उनका जन्म और उनका जीवन हो! उनके मुखमण्डल पर भावावेश से अपूर्व तेज झलक रहा था। उन्होंने स्त्रीवेष धारण किया था--कौन कह सकता था कि वे पुरुष हैं? श्रीरामकृष्ण का स्वरूप उस समय इतना सुन्दर था कि मानो सौन्दर्य भीतर न समाकर अंगों के बाहर फूटकर निकल रहा हो। भाव के आवेश में शरीर का रंग और भी उज्ज्वल हो गया था। शरीर में से एक प्रकार की दिव्य ज्योति बाहर फैल रही थी। यह रूप जिसकी दृष्टि में पड़ जाता था उसकी दृष्टि वहीं अटक जाती थी और उसे ऐसी इच्छा होती थी कि वही रूप देखता रहे! श्रीमाताजी (श्रीरामकृष्ण की धर्मपत्नी) कहा करती थीं कि "उस समय उनके शरीर में जो स्वर्ण का इष्ट कवच सदा रहता था उसका रंग और उनके अंग का रंग बिलकुल एक हो जाता था।" श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे, "उस समय तो ऐसा रूप था कि लोग देखते ही रह जाते थे! वक्षःस्थल और मुख सदा लाल रहता था और शरीर से एक प्रकार की ज्योति बाहर निकला करती थी। देखने के लिए लोगों की लगातार भीड़ होने लगी; इस कारण एक बड़ी चादर से सब शरीर को ढाँककर रखने लगा और माता से कहने लगा, 'माँ! यह अपना बाहर का रूप ले जाओ और मुझे भीतर का रूप दो।' अपने शरीर पर हाथ फेरते हुए मैं कहता था, 'भीतर जा भीतर जा।' बाद में बहुत दिनों के पश्चात् यह बाह्यरूप मलिन हो गया।"

रूप की चर्चा के सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल की ही एक बात स्मरण हो आती है। उन दिनों श्रीरामकृष्ण प्रतिवर्ष

वर्षाकाल में ३-४ मास अपनी जन्मभूमि कामारपुकुर में जाकर रहते थे। वहाँ रहते हुए वे कभी कभी हृदय के ग्राम शिऊड़ को भी जाते थे। उनकी ससुराल के जयरामवाटी ग्राम पर से शिऊड़ का रास्ता होने के कारण जयरामवाटी के लोग भी उन्हें २-३ दिन आग्रह से रोक रखते थे। श्रीरामकृष्ण का भाँजा हृदय उनकी सेवा के लिए निरन्तर उनके साथ ही रहता था। कामारपुकुर में रहते समय उनके दर्शन के लिए और उनके श्रीमुख से चार शब्द सुनने के लिए प्रातःकाल से सन्ध्यापर्यन्त लोगों का लगातार ताँता लगा रहता था। स्त्रियाँ सबेरे जल्दी जल्दी अपने घर का सब काम निपटाकर स्नान के लिए और हलदारपुकुर से पानी लाने के लिए घड़ा लेकर जब निकलती थीं तो प्रथम श्रीरामकृष्ण के घर जाती थीं। वहाँ उनके दर्शन पाकर घण्टा आध घण्टा बात-चीत करने के बाद फिर पानी लेने जाती थीं। इतने में ही रात को जिसके यहाँ पकवान बना होता था, वहाँ की स्त्रियाँ श्रीराम-कृष्ण के लिए उनमें से अलग निकाला हुआ अग्रभाग ले आती थीं। ये स्त्रियाँ सबेरा होते होते अपने यहाँ आने लग जाती हैं, यह देखकर विनोदप्रिय श्रीरामकृष्ण कभी कभी उनकी ठट्टा करते थे। वे कहा करते थे, "वृन्दावन में जब श्रीकृष्ण थे तब उनसे गोपियों का अनेक प्रकार से और अनेक समय मिलन होता था। यमुना का पानी लाने के लिए जाते जाते गोष्ठ-मिलन, सन्ध्या समय श्रीकृष्णचन्द्र के गाय चराकर लौटते समय गोधूलि-मिलन, तदनन्तर रात को रास-मिलन इत्यादि कई मिलन होते थे। क्या वैसा ही यह एक तुम्हारा स्नान मिलन है देवियो?"

श्रीरामकृष्ण की बातें सुनकर वे हँसती हँसती लोटपोट हो जाती थीं। जब स्त्रियाँ अपने अपने घर रसोई बनाने चली जाती

थीं तब पुरुषों का जमाव हो जाता था और उनका वार्तालाप होने लगता था। तीसरे प्रहर स्त्रियाँ फिर इकट्ठी हो जाती थीं और सन्ध्या समय कोई कोई पुरुष भी आ जाते थे––यही दैनिक कार्यक्रम था।

एक दिन श्रीरामकृष्ण शिऊड़ जाने वाले थे। जाने की सब तैयारी हो चुकी थी। सदा सर्वकाल भावसमाधि में रहने के कारण श्रीरामकृष्ण का शरीर छोटे बालक के समान अत्यन्त कोमल और सुकुमार हो गया था। थोड़ी भी दूर जाने के लिए उन्हें गाड़ी या पालकी की आवश्यकता होती थी। आज के लिए भी पालकी की व्यवस्था की गयी। हृदय उनके साथ जाने वाला था ही। श्रीरामकृष्ण लाल रेशमी वस्त्र पहने हुए थे। हाथ में स्वर्ण का इष्ट कवच धारण किये हुए थे। दोपहर का भोजन करके मुँह में पान दबाये हुए पालकी में बैठते समय चारों ओर स्त्री-पुरुषों की बड़ी भीड़ लगी हुई उन्हें दिखायी दी। भीड़ देखकर उन्हें आश्चर्य हुआ और वे हृदय से बोले, "हृदय, आज यह इतनी भीड़ किसलिए हो गयी है रे?"

हृदय––"और किसलिए? आप आज गाँव जा रहे हैं और कुछ दिनों तक आपका दर्शन नहीं मिलेगा, इस कारण आपको देखने के लिए इतनी भीड़ हो गयी है।"

श्रीरामकृष्ण––"मुझे तो ये सब लोग प्रतिदिन देखते हैं, फिर आज ही ऐसी नवीनता कौनसी है?"

हृदय––"आपने आज लाल रेशमी वस्त्र पहना है और पान खाने से आपका मुँह कुछ रंग गया है; इसीसे आपका रूप बहुत सुन्दर दिखता है––और क्या है? इसी कारण लोग जमा हो गये हैं।"

अपने सुन्दर रूप से इन सब लोगों के आकृष्ट होकर आने की बात सुनते ही श्रीरामकृष्ण के मन को धक्का लगा। वे सोचने लगे, "हाय! हाय! इस क्षणभंगुर बाह्य सौन्दर्य की ओर ही सब का ध्यान है। अन्तरात्मा की ओर कोई नहीं देखता।" पहले से ही रूप के सम्बन्ध में उनका उदासीन भाव था, आज तो वह भाव सहस्रगुना बढ़ गया। वे बोले, "क्या? यःकश्चित् एक मनुष्य को देखने के लिए इतनी भीड़ है? तो क्या मैं जहाँ जाऊँगा वहीं ऐसी भीड़ होगी? जा, आज मैं कहीं नहीं जाता।" यह कहकर श्रीरामकृष्ण अपनी कोठरी में जाकर दुःख से एक कोने में चुप बैठ गये। इसलिए उस दिन वे शिऊड़ नहीं गये। हृदय तथा अन्य लोगों ने उन्हें बहुत समझाया, पर सब व्यर्थ हुआ। धन्य है इस अलौकिक पुरुष की! अपने शरीर के सम्बन्ध में ऐसी तुच्छ देहबुद्धि! इसके विपरीत हम लोगों की ओर देखो! 'रूप' 'रूप' करते करते पागल हो गये हैं! शरीरसौन्दर्य भले ही न हो पर चश्मा, रिस्टवॉच, नेकटाई, कॉलर, हेअरकट आदि चीजों से सुन्दर बनने के लिए हमें कितना कष्ट उठाना पड़ता है! अस्तु———

अब जगदम्बा की आरती शुरू होने का समय हो गया, परन्तु श्रीरामकृष्ण के सखीभाव के उपशम होने के चिह्न बिलकुल नहीं दीख रहे थे। उनको वहाँ वैसे ही छोड़कर शेष लोगों को आरती के लिए ले चलना जगदम्बा दासी को ठीक नहीं जँचता था। वह जानती थी कि आरती की गूँज कान में पड़ते ही ये एकदम उठकर उसी ओर दौड़ पड़ेंगे। इसके सिवाय भावावस्था में तो उन्हें देहभान भी नहीं रहता, यह भी उसे मालूम था। ऐसी ही अवस्था में वे एक बार आग में गिर पड़े थे, पर उसकी उन्हें

चिन्ता नहीं हुई। उन घावों को आराम होने में काफी समय लगा था। अभी भी कुछ ऐसा ही हो जाय तो? ऐसे अनेकों विचार मन में आने के कारण उसे कुछ नहीं सूझता था। इतने में ही एकाएक उसे एक बात सूझ पड़ी और तुरन्त ही उसने अपने शरीर के अमूल्य गहने निकालकर श्रीरामकृष्ण के शरीर में पहनाते हुए उनके कान के पास लगातार कहने लगी, "बाबा, चलिये न! अब आरती शुरू होगी, देवी पर आप चँवर डुलायेंगे न?"

भावावेश में श्रीरामकृष्ण कितने ही बाह्यसंज्ञाशून्य हो गये हों या जिस मूर्ति के ध्यान से अथवा जिस भाव के आश्रय से उनका मन समाधिस्थ हो जाता हो अथवा उस मूर्ति को छोड़ समस्त जगत् और भावों से इनका मन कितनी ही दूर चला गया हो, पर सदा यही देखने में आया है कि उस मूर्ति का नाम या उस भाव के अनुकूल किसी बात का उच्चारण उनके कानों के पास बारम्बार करने से उनकी समाधि उतर जाती थी! पातञ्जल योगसूत्रों में उल्लेख है कि एकाग्र मन का यही गुणधर्म है। जिस किसी को दैवयोग से चित्त को एकाग्र करना थोड़ाबहुत सध गया है उसका भी यही अनुभव होगा।

जगदम्बा दासी की युक्ति सफल हुई। श्रीरामकृष्ण को क्रमशः देहभान हो आया। वे आनन्द से उसके साथ देवी की आरती के लिए चले। उनके वहाँ पहुँचते ही आरती भी शुरू हो गयी। श्रीरामकृष्ण देवी पर चँवर डुलाने लगे। दालान की एक ओर मथुर आदि पुरुषसमाज आरती देखता था। मथुरबाबू का ध्यान स्त्री-मण्डली की ओर जाते ही उन्हें अपनी पत्नी के साथ कोई एक नयी स्त्री देवी पर चँवर डुलाती हुई दिखायी दी। उन्हें मालूम

पड़ा कि उनकी स्त्री की पहचानवाली ही कोई दूसरी स्त्री होगी।

आरती समाप्त हुई। श्रीरामकृष्ण ने अपना स्त्रीवेष उतारकर पुरुषवेष धारण किया और बाहर दूसरे लोगों के साथ बातें करने बैठ गये। कुछ समय बाद जब मथुर किसी काम से भीतर गये तब अपनी पत्नी से बोले, "वहाँ आरती के समय तुम्हारे साथ वह कौन स्त्री खड़ी थी?" जगदम्बा दासी ने हँसकर उत्तर दिया, "आपने नहीं पहचाना? वे तो बाबा थे!" यह कहकर उसने उस दिन का सारा हाल कह सुनाया। मथुर चकित होकर कहने लगे, "सामान्य बातों में उन्होंने समझने नहीं दिया तो उन्हें कौन जान सकता है? यही देखो, मैं चौबीसों घण्टे उनके साथ रहकर भी आज उन्हें नहीं पहचान सका।"

सप्तमी, अष्टमी और नवमी बड़े आनन्द से बीतीं! आज विजयादशमी थी। पुरोहित जल्दी जल्दी पूजा निपटाने लगे, क्योंकि विसर्जन के पूर्व बहुत सी विधियाँ बाकी थीं और बाद में सन्ध्यासमय विसर्जन होना था। सबको यह सोचकर बुरा लग रहा था कि देवी के घर चले जाने पर हमारे घर के आनन्द का बाजार उखड़ जायगा।

यह बात मथुरबाबू के ध्यान में अभी तक नहीं आयी थी। वे अपने ही आनन्द में मस्त थे। इतने में पुरोहित का सन्देश आया कि "अब विसर्जन होने के पहले देवी को आकर प्रणाम कर लें।" पहले तो यह बात उनके सिर में ही न घुसी। बहुत समय के बाद उन्हें आज विजयादशमी होने की याद आयी। याद आते ही उनके हृदय को एक धक्का लगा। "क्या, आज माता को विसर्जन करना है? क्यों भला? माता की और बाबा की कृपा से मुझे तो किसी बात की कमी नहीं है, तब माता का विसर्जन

क्यों किया जाय ?" ऐसा सोचते सोचते वे चुपचाप बैठ गये । इधर समय होने लगा । पुरोहित ने पुनः समाचार भेजा कि "एक बार आकर प्रणाम कर लें ।" उसी आदमी के द्वारा मथुरबाबू ने कहला भेजा कि "माता का विसर्जन नहीं किया जायगा ! नौ दिनों तक जैसी पूजा हुई, वैसी ही पूजा आगे भी चलेगी । मुझे बिना बताये कोई विसर्जन करेगा तो वह जाने । मुझे वह कार्य कदापि पसन्द नहीं होगा ।" यह विचित्र सन्देश सुनकर सभी लोग स्तब्ध हो गये ।

मथुरबाबू जिन लोगों का मान करते थे उन सभी ने उन्हें समझाया, पर सब निष्फल हुआ । मथुरबाबू अपने ही विचारों में मस्त रहे । उन्होंने उन सभी से यही कह दिया कि "मैं माता का विसर्जन नहीं करता ! मैं उनकी नित्य पूजा करूँगा । माता की कृपा से मुझे उनकी नित्यपूजा करने का सामर्थ्य प्राप्त है, तो मैं विसर्जन क्यों करूँ ?" सभी हार मान गये । पर आगे उपाय क्या है ? ऐसा करने से कैसे चल सकता है ? मथुरबाबू का हठी स्वभाव सब को अच्छी तरह मालूम था । उनकी सम्मति के विरुद्ध विसर्जन करना सम्भव नहीं था । अब अन्तिम प्रयत्न के लिए जगदम्बा दासी बाबा के पास गयी और अपने पति को समझाने के लिए उनसे विनती की, क्योंकि उसे संकट से छुड़ाने के लिए बाबा के सिवाय दूसरा कोई नहीं था ।

श्रीरामकृष्ण ने जाकर देखा तो मथुरबाबू का मुख गम्भीर और आरक्त हो गया था । आँखें भी लाल लाल थीं । वे किसी गहन विचार में मग्न दिखायी देते थे और मस्तक नीचा किये हुए अपने बैठक में टहल रहे थे । बाबा को देखते ही मथुर उनके पास आये और बोले, "बाबा ! चाहे कुछ भी हो, मैं अपने जीवित रहते

माता का विसर्जन नहीं करूँगा। मैंने अभी ही बता दिया है कि माता की नित्यपूजा होगी। माता को छोड़कर मैं कैसे रह सकता हूँ ?" श्रीरामकृष्ण उसकी छाती पर हाथ फेरकर बोले, "ओः! इसी का तुम्हें डर है? तुम्हें माता को छोड़कर रहने के लिए कौन कहता है? और यदि तुमने विसर्जन भी कर दिया तो वह कहाँ जायेगी ? कहीं माता भी पुत्र को छोड़कर रहा करती है ? अरे! तीन दिन माता ने तुम्हारे दालान में पूजा ग्रहण की, पर आज से उससे भी अधिक समीप रहकर--प्रत्यक्ष तुम्हारे हृदय में बैठकर--माता तुम्हारी पूजा ग्रहण करती जायेगी--तब तो ठीक है न?"

श्रीरामकृष्ण के अद्भुत स्पर्श और भाषण से मथुरबाबू को धीरे धीरे देहभान हुआ। इस प्रकार स्वस्थ होने के पूर्व उन्हें कोई दर्शन आदि हुआ या नहीं, यह नहीं कह सकते। परन्तु मालूम होता है कि हुआ होगा। ऐसा भी दीखता है कि हृदय में माता का आविर्भाव हो जाने के कारण बाह्य प्रतिमा की नित्य पूजा का आग्रह आप ही आप दूर हो गया। थोड़े ही समय में प्रतिमा का यथाविधि विसर्जन हुआ।

श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगत में निरन्तर रहते हुए उनकी भाव-समाधि के असीम आनन्द को देखकर संसारी मथुरबाबू को भी एक बार यह इच्छा हुई कि देखें, यह है क्या बात। एक बार इसका अनुभव लेना ही चाहिए। उनकी दृढ़ धारणा थी कि "बाबा के मन में बात ला देने से वे चाहे जैसा कर सकते हैं।" सचमुच ही जिन जिन को उनकी संगति का लाभ हुआ उन सभी की यही दृढ़ धारणा रहा करती थी। मथुरबाबू के मन में यह बात आते ही उन्होंने श्रीरामकृष्ण के पास हठ पकड़ा कि "बाबा, तुम मुझे

भावसमाधि लगा दो।" ऐसे प्रसंगों पर श्रीरामकृष्ण का उत्तर निश्चित रहता था। उन्होंने कहा, "अरे बाबा! ऐसी जल्दी करने से कैसे बनेगा? समय आने पर सब कुछ हो जायगा। क्या बीज बोते ही वृक्ष होकर उसका फल खाने को मिल जाता है? क्यों भाई! तेरा सब कुछ ठीक है, प्रपंच और परमार्थ दोनों ही चल रहे हैं। तू समाधि में रहने लगेगा, तो फिर तेरा प्रपंच कैसे चलेगा? यदि तू समाधि में ही रहने लगा, तो तेरा मन प्रपंच में नहीं लग सकेगा। तो फिर तेरी सब सम्पत्ति की क्या दशा होगी? इसके लिए तूने क्या सोचा है?"

पर उस दिन यह सब कौन सुनता है! मथुरबाबू ने तो हठ ही पकड़ लिया था। श्रीरामकृष्ण ने अपने इस दाँव को विफल होते देखकर दूसरा दाँव डाला। वे बोले, "भक्तों की इच्छा क्या ईश्वर का ऐश्वर्य देखने की होती है? उन्हें तो प्रत्यक्ष सेवा करने की इच्छा रहा करती है। देखने और सुनने से तो ईश्वर के ऐश्वर्य-ज्ञान से भय उत्पन्न होता है जिससे प्रेम में कमी हो जाती है। सुनो—श्रीकृष्णजी के मथुरा चले जाने के बाद गोपियाँ विरह से व्याकुल हो उठीं। श्रीकृष्ण ने उद्धव को गोपियों के पास उन्हें समझाने के लिए भेजा। उद्धव थे बड़े ज्ञानी। उन्हें वृन्दावन का वात्सल्यभाव समझ में नहीं आता था। श्रीकृष्णजी ने उनको इसी वात्सल्यभाव को समझने और शिक्षा प्राप्त करने के लिए भेजा था। उद्धव वृन्दावन में जाकर गोपियों को समझाने लगे, 'तुम सब इस प्रकार 'कृष्ण' 'कृष्ण' क्यों कर रही हो? कृष्ण तो प्रत्यक्ष भगवान् हैं और सर्वव्यापी हैं, यह बात तो तुम्हें मालूम है न? तो फिर वे मथुरा में हैं और वृन्दावन में नहीं हैं, ऐसा क्यों समझती हो? अतएव इस तरह हताश न होकर आँखें मूँदकर ध्यान

करो तो तुम्हें दीख पड़ेगा कि तुम्हारे हृदय में ही साक्षात् नवनीरदश्याम मुरलीधर वनमाली सर्वदा विराजमान हैं ।'——आदि आदि । यह सुनकर गोपियाँ कहने लगीं, 'उद्धव, तुम कृष्ण के सखा और ज्ञानी होकर हमें यह क्या सिखा रहे हो ? हमने क्या उसे ध्यान और जप-तप करके देखा है ? अरे ! हमने जिसे साक्षात् देखा, जिसको खिलाया पिलाया, जिसके साथ क्रीड़ा की और जिसका शृंगार किया, उसका क्या अब ध्यान करें ? यह ध्यान और जप-तप अब हमसे नहीं बन सकता । अरे ! जिस मन के द्वारा ध्यान इत्यादि करने को कह रहे हो उस मन की मालिक यदि हम होतीं तो अलग बात थी । वह मन तो श्रीकृष्णचन्द्रजी के पादपद्मों में कभी का समर्पित हो चुका है । हमारा कहने योग्य क्या अब हमारे पास कुछ भी शेष रह गया है ?' यह सब सुनकर उद्धव स्तम्भित हो गये और उन्हें मालूम हो गया कि गोपियों का कृष्णप्रेम क्या है और उसका कितना गम्भीर स्वरूप है । उन गोपियों को गुरु मानकर उद्धव ने उन्हें प्रणाम किया और मथुरा-नगरी की राह ली । इसी पर से ज्ञात होता है कि जो सच्चा भक्त है वह क्या भगवान् का ऐश्वर्य देखना चाहता है ? उनकी सेवा में ही उसे परमानन्द प्राप्त है । देखने सुनने में उसका इतना ध्यान नहीं रहता, क्योंकि उससे उसके भाव की हानि होती है ।"

इस पर भी जब मथुरबाबू से पिण्ड नहीं छूटा तब उन्होंने एक नयी युक्ति निकाली । वे बोले, "मैं तो भाई और अधिक नहीं समझता । माता से कहकर देखता हूँ, फिर उसको जो उचित दिखेगा वैसा वह करेगी ।"

इस संवाद के कुछ दिनों बाद मथुरबाबू को अकस्मात् भाव-समाधि प्राप्त हो गयी । श्रीरामकृष्ण कहते थे, "मुझे बुलाने भेजा ।

मैं जाकर देखता हूँ तो वह ऐसा दिखा मानो मनुष्य ही न हो ! आँखें लाल थीं और उनमें से लगातार अश्रुधारा बह रही थी। ईश्वर की बातें करते करते और रोते रोते वह भीग गया था। उसका वक्ष:स्थल थर-थर काँप रहा था। मुझे देखते ही मेरे पैरों को जोर से पकड़कर छाती से लगा लिया और कहने लगा, 'बाबा ! बड़ा घात हुआ। आज तीन दिन से यह अवस्था है ! प्रयत्न करने पर भी संसार की ओर मन नहीं लगता। सब गोलमाल हो गया है। तुम्हारा भाव तुम्हीं को फले। मुझसे तो यह सहन नहीं होता।' मैंने कहा, 'क्यों भाई ? अब कैसे ? तूने ही तो कहा था कि मुझे भाव चाहिए।' तब उसने कहा, 'मैंने कहा था जरूर और मैं आनन्द में भी हूँ। पर उस आनन्द का क्या करना है ? इधर सब नाश हो रहा है न ? बाबा ! मुझे यह भाव नहीं चाहिए; अपना भाव आप ही वापस ले जाइये।' तब तो मुझे हँसी आयी और मैंने कहा, 'तुझको तो मैंने यह बात पहले ही बतला दी थी।' उसने कहा, 'बाबा ! हाँ, सब सच है; पर उस समय ऐसा किसे मालूम था कि यह किसी भूत के समान सिर पर सवार हो जायेगा और जैसा नचायेगा वैसा चौबीसों घण्टे नाचना पड़ेगा ? अब तो इच्छा होने पर भी कुछ करते नहीं बनता।' तदुपरान्त उसकी छाती पर कुछ देर हाथ फेरने से उसका वह भाव शान्त हुआ।"

मथुरबाबू का श्रीरामकृष्ण के साथ कैसा अनोखा तथा मधुर सम्बन्ध था ! साधनाकाल में उनको किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर उनके यह कहते ही कि "मुझे अमुक वस्तु चाहिए" मथुरबाबू वह वस्तु उनके पास तुरन्त हाजिर कर देते थे। समाधि-काल में अथवा और किसी समय उन्हें जो दर्शन होते थे या मन

में जो भाव उत्पन्न होते थे उन सब की चर्चा वे प्रथम मथुरबाबू से किया करते थे और 'यह ऐसा क्यों हुआ ? इस सम्बन्ध में तुम्हारी क्या राय है ?' इस प्रकार उनसे पूछते थे। उसकी सम्पत्ति का सद्व्यय कैसे होगा, देवता की सम्पत्ति देवसेवा और साधु-सन्तों की ही सेवा में लगकर मथुरबाबू को उसका पुण्य कैसे प्राप्त हो—इन बातों की ओर वे सदा ध्यान रखते थे। पुण्यवती रानी रासमणि और मथुरबाबू के स्वर्गवास होने पर कुछ दिनों तक हम श्रीरामकृष्ण के आश्रय में आये, तब तक भी बीच-बीच में उनका इस विषय की ओर ध्यान पाया जाता था।

मथुरबाबू के समय से ऐसा प्रबन्ध था कि श्रीकाली माता और राधागोविन्दजी के प्रसाद में से एक बड़ी थाली भर प्रसाद और एक थाली भर फल मिठाई आदि प्रतिदिन श्रीरामकृष्ण के कमरे में उनके स्वतः के लिए तथा अन्य भक्तगण जो उनके पास जायँ उन्हें बाँटने के लिए भेजा जाता था। किसी दिन विशेष नैवेद्य चढ़ता तब उसका भी कुछ अंश इनके पास आता था।

फलहारिणी पूजा के दिन देवालय में बड़ा उत्सव होता था। एक समय उस उत्सव के दिन श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए स्वामी योगानन्द आदि बहुत से भक्तगण आये हुए थे। आज श्रीरामकृष्ण बड़े आनन्द में थे। बीच-बीच में उन्हें भावावेश होता था और कभी कभी पाँच वर्ष के बालक के समान बड़े आनन्द से माता का नामस्मरण करते करते हुए वे नाचते थे। जगन्माता की पूजा समाप्त होते होते रात व्यतीत हो गयी और थोड़ासा विश्राम लेते लेते भोर हो गया।

आज प्रातःकाल आठ-नौ बज जाने पर भी उनके यहाँ पूर्व प्रबन्ध के अनुसार देवी के प्रसाद की थालियाँ नहीं आयीं; काली-

मन्दिर के पुजारी (अपने भतीजे रामलाल) को उन्होंने पुकारा और इसका कारण पूछा, पर उसे कुछ नहीं मालूम था। उसने कहा, "सारा प्रसाद दफ्तर में खजान्ची बाबू के पास भेज दिया गया है और वे नित्य के समान प्रत्येक को भेज भी रहे हैं, आप ही के यहाँ अभी तक क्यों नहीं आया कौन जाने ?" रामलाल का कथन सुनकर उन्हें और भी चिन्ता होने लगी। "दफ्तर से अभी तक प्रसाद क्यों नहीं आया" यही बात वे हर एक से पूछने लगे। और भी कुछ समय बीत गया तो भी प्रसाद के आने के कुछ चिह्न न दिखे तब स्वयं श्रीरामकृष्ण उठे और जूता पहनकर खजान्ची बाबू के पास गये और उससे बोले, "बाबूजी (अपने कमरे की ओर इशारा करके), उस घर का नित्य का प्रसाद अभी तक आपने क्यों नहीं भिजवाया ? विस्मरण तो नहीं हो गया ? आज इतने दिनों से प्रसाद भेजने की प्रथा है और यदि अब विस्मरण होकर इस प्रकार बन्द हो जाय तो बड़ा अन्याय होगा।" खजान्ची बाबू कुछ विस्मित होकर बोले, "ऐं ! अभी तक आपके पास प्रसाद नहीं आया ? सचमुच अन्याय की बात हुई। मैं अभी भेज देता हूँ।"

योगानन्द उस समय छोटे थे। उच्च सावर्ण चौधरी के कुल में जन्म लेने के कारण उन्हें बड़ा अभिमान था। पुजारी, खजान्ची, नौकर आदि लोगों को वे तुच्छ मानते थे। वे कुछ ही दिनों से श्रीरामकृष्ण के पास आने लगे थे, परन्तु इन लोगों से बोलने में उन्हें अपना अपमान मालूम होता था। अतः जब प्रसाद की थालियाँ नहीं आयीं और श्रीरामकृष्ण ने इसकी पूछताछ की तब उन्होंने कह दिया कि "महाराज, न आई तो न सही। उसमें कौनसी बड़ी बात है ? आप तो उसमें से कुछ छूते तक नहीं, तब इतनी पूछताछ किसलिए ?" थोड़े ही समय बाद जब श्रीराम-

कृष्ण खजान्ची के पास स्वयं पूछने गये तब योगानन्द मन में कहने लगे, "आज ये ऐसे साधारण फल-मूल-मिष्टान्न आदि के लिए इतनी चिन्ता में न जाने क्यों पड़ गये ? जिनके मन की शान्ति किसी भी अवसर में विचलित नहीं होती उन्होंने आज यह क्या मचाया है ?" पर बहुत विचार करने पर भी जब इसका कारण ध्यान में नहीं आया तब उन्होंने यह सिद्धान्त निकाला कि "श्रीरामकृष्ण हों या और कोई हों, सभी अपनी प्रवृत्ति के अनुसार चलते हैं यही मालूम होता है। इनका जन्म पुजारी ब्राह्मण के घर में हुआ है तब उस पेशे का कुछ न कुछ असर तो इनमें आना ही चाहिए; नहीं तो बड़े-बड़े संकट के समय की शान्त वृत्ति कहाँ और इस यत्किंचित् बात के लिए इतनी दौड़धूप कहाँ ? क्योंकि यदि ऐसा न होता, तो स्वयं तो प्रसाद का एक टुकड़ा भी नहीं खाते; तो भी उसके लिए इतनी खटपट करते फिर रहे हैं। यह वंशानुगत संस्कार के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?"

इस प्रकार योगानन्द मन में विचार कर रहे थे, इतने में ही श्रीरामकृष्ण वहाँ आये और उसकी ओर देखकर बोले, "समझे नहीं ? साधु-सन्त, देवी-देवता की ठीक-ठीक सेवा होती रहे इसी उद्देश्य से रानी रासमणि ने इतनी सम्पत्ति रख छोड़ी है। इस कमरे में जो प्रसाद आता है वह सब भक्तगण ही खाते हैं। ईश्वर-दर्शन के लिए उत्सुक लोग ही इस प्रसाद को पाते हैं। इससे ही रानी की सम्पत्ति उचित कार्य में लगकर उसका दान सार्थक होता है। पर देवालय के अन्य ब्राह्मण जो प्रसाद ले जाते हैं उसका उचित उपयोग नहीं होता। उसे बेचकर वे पैसा बनाते हैं। किसी किसी ने तो वेश्या रख ली है और उसे वह प्रसाद ले जाकर

खिलाते हैं। यही रोजगार चलता है। इसलिए वैसा न होने पाये और रानी का दान अंशतः सार्थक हो, इसी उद्देश्य से मैं यह झगड़ा कर रहा हूँ।" श्रीरामकृष्ण की हड़बड़ी का यह अर्थ सुन योगानन्द चकित हो गये और उन्हें अपने विचारों पर लज्जा हुई।

श्रीरामकृष्ण का मथुरबाबू से सचमुच कैसा अद्भुत सम्बन्ध था। मथुरबाबू का भक्ति-विश्वास बढ़ते-बढ़ते अन्त में उन्हें बाबा प्राण से भी प्रिय मालूम पड़ने लगे। इसका मुख्य कारण केवल उनका बाबा के प्रति अहेतुक प्रेम और बाबा की छोटे बालक के समान अवस्था ही थी। सांसारिक सब विषयों से पूरे अनभिज्ञ छोटे बालक पर किसे प्रेम नहीं होता? वह यदि पास हो तो खेलते खेलते या उपद्रव करते करते उसे कहीं कोई किसी प्रकार चोट न लग जाय, इस बात की सावधानी यथाशक्ति कौन नहीं करता? और श्रीरामकृष्ण के बालभाव में कृत्रिमता या ढोंग लेश मात्र था ही नहीं। इस भाव में रहते हुए सचमुच ऐसा मालूम होता था कि वे एक बालक के समान आत्मरक्षा करने में असमर्थ हैं। इसलिए तेजस्वी और बुद्धिमान मथुर के मन में सब बातों में उनकी रक्षा करने की भावना का रहना स्वाभाविक ही था। अतः जैसे एक ओर श्रीरामकृष्ण की दैवी शक्ति पर उन्हें अत्यन्त दृढ़ विश्वास था वैसे ही दूसरी ओर बाबा को एक अनजान बालक समझकर उनकी रक्षा करने के लिए वे सदैव कमर कसकर तैयार रहते थे। सर्वज्ञ गुरुभाव और अल्पज्ञ बालकभाव का ऐसा विचित्र मिश्रण बाबा में देखकर मथुर की यह दृढ़ भावना हो गयी थी कि सभी बातों में ही नहीं, वरन् प्रत्यक्ष देहरक्षा के कार्य में भी श्रीरामकृष्ण की रक्षा मुझे करनी चाहिए और मानवी शक्ति तथा

बुद्धि से परे सूक्ष्म पारमार्थिक विषय में मेरी रक्षा बाबा करेंगे। सर्वज्ञ बाबा मथुर के उपास्य देवता होते हुए भी, बालक भाव की सरलता और परावलम्बिता की मूर्ति बाबा को मथुरबाबू समझाया करते थे और यह समझाने की शक्ति भी श्रीरामकृष्ण के प्रति अपार प्रेम होने के कारण उनमें उत्पन्न हुई थी।

मथुर के साथ बातें करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्ण को शौच की इच्छा हुई और वे उठकर चले गये। वापस लौट आने पर उनका चेहरा बहुत चिन्तायुक्त दिखा। श्रीरामकृष्ण बोले, "अरे! आज कैसी आपत्ति आ गयी ? कितना बड़ा कीड़ा गिरा! इतना बड़ा कीड़ा किसी को नहीं गिरता, तब फिर मुझे ही क्या हो गया ?" अभी एक क्षण पूर्व मथुरबाबू को भिन्न भिन्न आध्यात्मिक विषय समझानेवाले बाबा साधारण क्षुद्र-सी बात के लिए छोटे बालक के समान चिन्तित होकर मथुर के पास समाधान के लिए आये थे! उनका कहना सुनते ही मथुर बोले, "वाह! यह तो बड़ा अच्छा हुआ बाबा! सभी के शरीर में कामकीट रहता है और वही मनुष्य के मन में अनेक कुविचार उत्पन्न करके उससे कुकर्म कराता है। जगदम्बा की कृपा से आपके शरीर से कामकीट गिर पड़ा। क्या ही अच्छी बात हुई! उसके विषय में इतनी चिन्ता क्यों होनी चाहिए ?" यह सुनकर छोटे बालक के समान उनका समाधान हो गया और वे बोले, "वाह ठीक कहा, अच्छा हुआ कि मैंने तुम्हें यह बात बता दी।"

प्रसंगवश एक दिन बाबा कहने लगे, "यह देख माता ने मेरी ओर इशारा करके समझाकर कहा कि जो तेरे अन्तरंग भक्त हैं वे सब आयेंगे और तुझसे ईश्वरी विषय का उपदेश लेंगे, सुनेंगे और प्रत्यक्ष अनुभव करके प्रेम और भक्ति प्राप्त करेंगे। (अपनी

ओर उँगली दिखाकर) इस शरीर का आश्रय लेकर माता अनेक खेल खेलेगी, अनेकों परोपकार करेगी और इसीलिए इस देहरूपी पिंजड़े को अभी तक उसने नहीं तोड़ा है और यत्नपूर्वक कायम रखा है। तुम क्या कहते हो? यह सब भ्रम है या सच है—बताओ तो सही?"

मथुर बोले, "भ्रम क्यों होगा बाबा! माता ने आपको अभी तक कोई झूठ बात नहीं दिखायी तो यही झूठ कैसे होगी? यह भी सच ही होनी चाहिए। भला अभी तक आपके भक्त आते क्यों नहीं हैं? वे जल्दी जल्दी आ जायँ तो हम सब मिलकर आनन्द करें।"

बस, बाबा को बात जँच गयी। वे बोले, "क्या कहें भाई? न जाने वे सब कब आयेंगे? माता ने दिखाया और बताया, इतना तो सत्य है! अब इसके उपरान्त उसकी इच्छा।"

इसके बाद बहुत दिनों के पश्चात् एक दिन मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "बाबा, आपने तो कहा था कि यहाँ अन्तरंग भक्त आने वाले हैं पर अभी तक कोई आया नहीं?"

श्रीरामकृष्ण—"वे कब आयेंगे सो कौन बताये, पर वे आयेंगे अवश्य। माता ने स्वयं ही मुझसे कहा है। उसकी बतायी हुई अन्य सब बातें बिलकुल सच होती गयीं तो फिर यही बात क्यों न होगी?" ऐसा कहकर माता की यह बात क्या झूठ हो जायगी, इस विचार से वे बड़े चिन्तित हो गये। उनका उतरा हुआ चेहरा देखकर मथुर को दु:ख हुआ और यह सोचकर कि व्यर्थ ही उन्होंने यह प्रसंग छेड़ा, उन्हें पश्चात्ताप होने लगा। अत: वे बालक स्वभाववाले श्रीरामकृष्ण के समाधान के लिए बोले, "बाबा, वे आयें या न आयें, मैं तो तुम्हारे चरण-कमलों का चिरकालीन

भक्त बैठा हूँ, फिर यह बात झूठ कैसे हुई ? मैं अकेले ही क्या तुम्हारे सौ भक्तों के स्थान में नहीं हो सकता । इसी कारण माता ने कहा कि बहुत से भक्त आयेंगे ।" इस वाक्य से श्रीरामकृष्ण का समाधान हो गया । वे बोले, "शायद जैसा तू कहता है वैसा ही हो, कौन जाने ?"

रानी रासमणि के कोई पुत्र नहीं था । उनकी केवल चार कन्याएँ थीं । रासमणि की तीसरी पुत्री मथुरबाबू की प्रथम पत्नी थीं, उसकी मृत्यु के बाद रानी ने अपनी कनिष्ठ कन्या से इनका विवाह कर दिया था । भविष्य में अपनी लड़कियों के बीच झगड़ा न हो, इस विचार से दूरदर्शी रानी ने अपनी मृत्यु के पूर्व ही अपनी सम्पत्ति का बटवारा कर दिया था । बटवारे के बाद एक दिन मथुरबाबू की पत्नी अपनी बहिन के हिस्से के तालाब में स्नान करने गयी । वहाँ से थोड़ी सी तरकारी तोड़कर लौटी । श्रीरामकृष्ण वहाँ उपस्थित थे । अतः सहज ही उनकी दृष्टि उस ओर पड़ गयी और वे देखकर अपने मन ही मन अनेक विचार करने लगे—"सेजगिन्नी * बिना पूछे दूसरे की वस्तु ले चली, यह तो बड़ा अन्याय हुआ । मालूम नहीं, बिना पूछे दूसरे की वस्तु लेना चोरी कहलाता है ? न जाने यह बात उसके ध्यान में आयी या नहीं । पर तो भी दूसरे की वस्तु इस प्रकार लेनी ही क्यों चाहिए?" उनके मन में ये विचार उठ ही रहे थे कि उस तालाब की मालकिन भी वहाँ आ पहुँची । तुरन्त ही श्रीरामकृष्ण ने अपनी देखी हुई सब बात उसे पूरी पूरी बता दी । उसने सब सुन लिया और इतनी छोटीसी बात की ओर श्रीरामकृष्ण का ऐसा गम्भीर भाव देखकर

* मथुरबाबू की पत्नी को श्रीरामकृष्ण सेजगिन्नी और मथूरबाबू को सेजबाबू कहा करते थे ।

वह अपनी हँसी रोक न सकी और बोली, "सचमुच बाबा ! सेज ने बड़ा अन्याय किया।" इतने में सेजगिन्नी भी वहाँ आ गयी और अपनी बहिन के हँसने का कारण सुनकर बोली, "बाबा ! यह बात भी आपने इसको बता दी ? यह देखने न पाये इसलिए कितना छिपकर मैंने वह भाजी तोड़ी थी और आपने सारी बात इसे बताकर मेरी फजीहत कर दी।" इतना कहकर दोनों बहनें हँसने लगीं, तब श्रीरामकृष्ण बोले, "क्या कहें भाई, सम्पत्ति का यदि यथार्थ बटवारा हो चुका है, तो बिना पूछे कोई चीज ले जाना अच्छा नहीं है। मुझे तो ऐसा ही लगा, इसलिए मेरे मुँह से बात निकल पड़ी। अब आगे तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।" यह सुनकर उन दोनों बहिनों को और भी हँसी आयी और वे मन में कहने लगीं कि बाबा का स्वभाव बड़ा सरल है।

एक ओर बाबा का बालक के समान इतना सरल स्वभाव और दूसरी ओर इतने शक्तिमान !

एक समय मथुरबाबू का किसी एक दूसरे जमींदार से झगड़ा हो गया और मथुरबाबू की आज्ञा से मारपीट भी हो गयी। उसमें वह जमींदार मारा गया। मथुर ने इस संकट के समय श्रीरामकृष्ण की शरण ली और उनके पैर जोर से पकड़कर बोले, "बाबा, अब मुझे बचाइये।" बाबा ने पहले उसकी बहुत भर्त्सना की। वे बोले, "मूर्ख कहीं का, रोज कुछ न कुछ झंझट लेकर आता जा और कहता जा बाबा मुझे बचाइये ! रे मूर्ख ! क्या, कोई भी काम हो, सभी के कर सकने का सामर्थ्य मुझमें है ? जा, अब अपने किये का फल तू ही भोग। मेरे पास क्यों आया है ?" परन्तु मथुर ने जब किसी तरह न छोड़ा, तब तो वे फिर बोले, "अच्छा निकल यहाँ से, जा, पुनः ऐसा मत करना। माता के मन में जो

होगा वही होगा।" और सचमुच मथुर पर से वह संकट टल गया!

इस प्रकार दोनों तरह के भावों का मथुर को अनेक बार अनुभव हो जाने के कारण उनका ऐसा दृढ़ विश्वास हो गया था कि इस बहुरुपिया बाबा की कृपा से ही मेरा सारा धन कहिये, प्रताप कहिये--टिका हुआ है। इसी कारण वे उन्हें ईश्वर का अवतार मानकर उनकी भक्ति करते थे। अपने उपास्य के सम्बन्ध में जो खर्च किया जाता है उससे विषयी लोगों की भक्ति की मात्रा सहज ही अनुमान की जा सकती है। मथुर चतुर, हिसाबी, व्यवहार-कुशल और बुद्धिमान थे। बाबा के लिए वे कितने मुक्तहस्त होकर पानी के समान पैसा बहाते थे, यह देखकर भी उनकी भक्ति का अंदाज हम लगा सकते हैं। मेले में, नाटक में जब श्रीरामकृष्ण बैठे रहते थे तब वह उनके सामने दस दस रुपयों की पुड़ियाँ बाँधकर अच्छे गायकों को पुरस्कार देने के लिए रख देते थे। गाना सुनते सुनते यदि कोई गाना श्रीरामकृष्ण को अत्यन्त प्रिय लगता था तो वे कभी कभी सारी की सारी पुड़ियाँ एकदम उसी गायक को दे डालते थे। मथुर पर इसका कुछ भी असर नहीं होता था। बल्कि उल्टे "बाबा जैसे महान् पुरुषों को महान् पुरस्कार ही देना चाहिए" कहकर और भी अधिक पुड़ियाँ उनके सामने रख देते थे। कभी किसी गाने से तबीयत खुश हो जाती थी तो पुन: सभी पैसे उस गवैये को वे दे डालते थे। इतने से ही तृप्त न होकर वे पास में देने लायक कुछ भी न रहने से एकआध बार अपने शरीर पर के बहुमूल्य वस्त्र को ही देकर आप समाधि-मग्न हो जाते थे! इस प्रकार दी गयी अपनी सम्पत्ति को सार्थक समझकर मथुर आनन्दमग्न हो उन्हें पंखा झलने लगते थे।

बाबा को साथ लेकर मथुर ने काशी, वृन्दावन आदि की यात्रा

की। उस समय बाबा के कहने से काशी में उन्होंने 'कल्पतरु' होकर दान किया और जिसको जो वस्तु चाहिए थी, वही उसे दी। उस समय बाबा को भी कुछ देने की इच्छा उन्हें हुई, परन्तु बाबा को तो किसी भी वस्तु का अभाव नहीं दिखायी पड़ा। उनका अत्यन्त आग्रह देखकर बाबा बोले, "मुझे एक कमण्डल दे।" बाबा का यह अलौकिक त्याग देखकर मथुर की आँखों में पानी आ गया।

तीर्थयात्रा करते हुए श्रीरामकृष्ण वैद्यनाथ के पास एक गाँव में से जा रहे थे। वहाँ के लोगों का दुःख-क्लेश देखकर बाबा का हृदय पिघल गया। वे मथुर से बोले, "तू तो माता का कोठीवान है। इन सब लोगों में से प्रत्येक को एक एक वस्त्र और एक एक बार सिर में लगाने लायक तेल और पेट भर भोजन करा दे।" मथुर पहले कुछ अनमने हो गये और बोले, "बाबा! इस तीर्थयात्रा के नाम से तो बहुत खर्च हो गया है और इन लोगों की संख्या भी बहुत है। इन सब को अन्न-वस्त्र देने चलें तो और भी अधिक खर्च होगा। अब कैसा किया जाये?" पर श्रीरामकृष्ण ने उनकी एक न सुनी। गाँव के लोगों की निर्धनता और उनके दुःख को देखकर उनका अन्तःकरण भर आया था और आँखों से अश्रुधारा बह रही थी। वे बोले, "दूर हो मूर्ख! तेरी काशी को मैं नहीं चलता। चला जा, मैं इन्हीं के साथ रहूँगा। इनका कोई नहीं है, इनको छोड़कर मैं कहीं नहीं जाता।" यह कहकर एक छोटे बालक के समान गला फाड़कर वे उन्हीं लोगों में जाकर रोने लगे। यह हाल देखकर मथुर ने तुरन्त ही कलकत्ते से अनाज और कपड़ा मँगवाया और बाबा की इच्छा के अनुसार सब कार्य किया। उन निर्धन लोगों के आनन्द को देखकर बाबा

को भी बड़ा आनन्द हुआ और उनसे बिदा लेकर वे मथुरबाबू के साथ काशी गये। फिर एक बार वे मथुरबाबू के साथ उनकी जमीन आदि देखने गये थे। उस समय भी वहाँ के लोगों के क्लेश को देखकर उन सब को उन्होंने अन्न-वस्त्र दिलाया।

निरन्तर भावावस्था में रहनेवाले श्रीरामकृष्ण का मथुरबाबू से इस प्रकार का अद्भुत और मधुर सम्बन्ध था। साधनाकाल में एक समय उन्होंने जगन्माता से प्रार्थना की कि "माता, मुझे शुष्क साधु मत बना। मुझे रस में रख।" मथुर से उनका यह अद्भुत मधुर सम्बन्ध ही इस प्रार्थना का फल है। इसी कारण से जगन्माता ने श्रीरामकृष्ण को बता दिया था कि तुम्हारी देहरक्षा आदि के लिए तुम्हारे साथ चार लोग अंगरक्षक (Body Guards) भी भेज दिये गये हैं। इन चारों में मथुर ही पहले और श्रेष्ठ थे। और सचमुच ईश्वर-योजना के बिना ऐसा सम्बन्ध चौदह वर्ष तक टिकना सम्भव नहीं है। हाय री पृथ्वी! इस प्रकार के विशुद्ध और मधुर सम्बन्ध तूने आजतक कितने देखे हैं? और हे भोगवासने! धन्य है तुझे! मनुष्य के मन को तूने किस प्रकार फौलादी जंजीर से जकड़ रखा है। इस प्रकार के शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव और अद्भुत प्रेम-वात्सल्य की मूर्तिमयी प्रतिमा श्रीरामकृष्ण के दर्शन से और उनके कल्याणमय सत्संग का लाभ पाकर भी हमारा मन तुझमें ही लगा हुआ है। अतः भोगवासने! तुझे धन्य है!

एक दिन श्रीरामकृष्ण के मुँह से मथुरबाबू की अनेक बातें सुनकर उनके अपूर्व भाग्य को सराहते हुए एक व्यक्ति ने कहा, "महाराज, (मृत्यु के बाद) मथुरबाबू का क्या हुआ? क्या उसे निश्चय ही पुनः जन्म लेना नहीं पड़ा होगा?" श्रीरामकृष्ण ने उत्तर दिया, "कहीं न कहीं राजा होकर उसने जन्म लिया होगा,

और क्या ? उसकी भोगवासना नष्ट नहीं हुई थी ।" ऐसा कहकर श्रीरामकृष्ण ने दूसरी बातें निकालीं ।

ऐसा है मथुरबाबू का चरित्र। विशेषतः साधनाकाल में श्रीरामकृष्ण के चरित्र से उनका कितना घनिष्ठ सम्बन्ध था, यह बात उपरोक्त वर्णन से थोड़ी बहुत ध्यान में आ सकती है। इस प्रकार की सेवा, इस प्रकार की भक्ति, इस प्रकार का विश्वास और अपने आराध्य देवता के प्रति इस प्रकार के अत्यन्त प्रेममय, भक्तिमय और विश्वासमय, दिव्य तथा अलौकिक सम्बन्ध का वृत्तान्त हमने न कहीं देखा है, न कहीं पढ़ा है और न सुना है।

इस अलौकिक सम्बन्ध के बारे में जितना अधिक विचार किया जाय, मन उतना ही अधिक आश्चर्य में डूब जाता है। श्रीजगदम्बा ने श्रीरामकृष्ण की दिव्य लीला में सहायता पहुँचाने के लिए ही मथुरबाबू को भेजा था, ऐसा भाव निःसन्देह उत्पन्न हो जाता है। देखिये तो सही, श्रीरामकृष्ण की साधना के प्रारम्भ में ही उनका मथुरबाबू से प्रथम सम्बन्ध हुआ। साधना को समाप्त कर जब श्रीरामकृष्ण अद्वैत भावभूमि के अत्युच्च स्थान में सर्वदा अवस्थित रहने लगे तथा यथार्थ सद्‌गुरु पदवी पर आरूढ़ होकर अशेष लोककल्याण करने लगे उसी समय मथुरबाबू का देहावसान हुआ। मथुरबाबू का काम समाप्त हो गया, परन्तु उन्होंने अपना काम ऐसा कर रखा है कि आध्यात्मिक जगत् में उसकी जोड़ का दूसरा नहीं दिखायी देता! धन्य हैं वे मथुर और धन्य हैं वे श्रीरामकृष्ण !

---

१७. साधना और दिव्योन्माद

"जिस समय ईश्वरप्रेम की प्रचण्ड तरंगें बिना किसी निमित्त मनुष्य के मन में उठने लगती हैं, उस समय उन्हें हजार प्रयत्न करने पर भी पीछे नहीं हटा सकते ।"

"उस समय माता का किसी न किसी रूप में दर्शन हो जाय तो ठीक; अन्यथा प्राण इतने व्याकुल हो जाते थे कि मालूम पड़ता था कि प्राण अभी ही निकल रहे हैं !--और लोग कहते थे कि यह पागल हो गया है !"

--श्रीरामकृष्ण

जगदम्बा के प्रथम दर्शन के आनन्द में मग्न हो जाने के कारण श्रीरामकृष्ण के लिए कुछ दिनों तक कोई भी काम करना असम्भव हो गया। श्रीदेवी की पूजा आदि नित्य-नैमित्तिक कर्म भी उनसे नहीं हो सकते थे। मथुरबाबू की सम्मति से एक दूसरे ब्राह्मण की सहायता से हृदय वह काम करने लगा और यह सोचकर कि मेरे मामा को कोई वायुरोग हो गया है, उसने उनके औषधोपचार की व्यवस्था की। हृदय का एक वैद्य से परिचय था। उन्हीं की औषधि श्रीरामकृष्ण को देते हुए बहुत दिन बीत गये, पर कोई लाभ न हुआ। तब उन्होंने श्रीरामकृष्ण के वायुरोग से पीड़ित होने का समाचार उनके घर कामारपुकुर को पहुँचा दिया।

श्रीजगदम्बा के दर्शन के लिए अत्यन्त व्याकुल होकर श्रीराम-कृष्ण जिस दिन बेहोश नहीं पड़े रहते थे, उस दिन नित्य के समान

वे पूजा-अर्चा आदि करते थे। पूजा-ध्यान आदि करते समय उनके मन में क्या हुआ करता था और उन्हें क्या अनुभव होता था इसका थोड़ासा दिग्दर्शन वे हमारे पास कभी-कभी कर देते थे। वे कहते थे, "श्री जगदम्बा के नाटमन्दिर (सभामण्डप) में जो भैरव की एक ध्यानस्थ मूर्ति है उसे देखकर ध्यान करते समय मैं मन से कहता था, 'ऐसा ही शान्त और स्तब्ध बैठकर तुझे जगदम्बा का चिन्तन करना चाहिए।' ध्यान करने के लिए बैठते ही मुझे स्पष्ट सुन पड़ता था कि शरीर की सब सन्धियाँ पैर से ऊपर तक खट खट आवाज करती हुई बन्द हो रही हैं। मानों भीतर से कोई ताला ही लगा रहा हो। जब तक मैं ध्यानस्थ रहता था, तब तक शरीर को थोड़ा भी हिलाने अथवा आसन बदलने या बीच में ही ध्यान को छोड़कर किसी दूसरे काम को करने की बिलकुल शक्ति नहीं रहती थी। पहले के समान खट-खट आवाज होकर––इस समय सिर से पैर तक–––––सन्धियों के खुलने तक मानो कोई बलात् मुझे एक ही स्थिति में बैठाल रखता हो! ध्यान के आरम्भ में खद्योत-पुंज के समान ज्योति-बिन्दु के पुंज दिखायी देते थे। कभी कभी कुहरे के समान ज्योति से सब दिशाएँ व्याप्त हुई प्रतीत होती थीं, और कभी कभी चाँदी के समुद्र के समान चमकता हुआ ज्योतिःसमुद्र सब दिशाओं में फैला हुआ दिखायी देता था। आँखें मूँदने पर ऐसा दिखायी देता था और कई बार आँखें बिलकुल खुली रहने पर भी ऐसा ही दिखता था। मैं देख रहा हूँ वह क्या है, यह समझ में नहीं आता था और ऐसा दर्शन होना भला है या बुरा, नहीं समझता था। अतएव व्याकुलतापूर्वक माता से मैं प्रार्थना करता था कि 'माता! मुझे यह क्या होता है सो नहीं जान पड़ता। तेरी प्रार्थना

करने के लिए मुझे मन्त्र-तन्त्र का भी ज्ञान नहीं है। क्या करने से तेरा दर्शन होगा सो तू ही बता। तेरे सिवाय मेरा दूसरा और कौन है?' अत्यन्त व्याकुल चित्त से मैं ऐसी प्रार्थना करता था और रोने लगता था।''

इस समय श्रीरामकृष्ण की पूजा और ध्यान आदि कृत्यों ने कुछ विलक्षण रूप धारण कर लिया था। वह अद्‌भुत तन्मय भाव दूसरे को समझाकर बतलाना कठिन है। उस भाव में श्रीजगदम्बा का आश्रय लेने के कारण उनमें बालकों का सा विश्वास, सरलता, शरणागतभाव और माधुर्य सदा दिखायी देता था। गम्भीरता या देशकालपात्रानुसार विधिनिषेध मानते हुए चलना अथवा भावी बातों का विचार करके दोनों हाथों में लड्डू प्राप्त करने आदि व्यवहारों का उनमें पूर्ण अभाव दिखायी देता था। उन्हें देखते ही ऐसा मालूम होता था कि मानो इच्छामयी जगदम्बा की इच्छा में ही अपनी क्षुद्र इच्छा और अहंकार को डुबाकर "माता! तेरे इस अनन्य शरणागत बालक को जो कुछ कहना हो या करना हों सो तू ही कह और कर।'' इस प्रकार अन्तःकरण से कहते हुए मानो वे जगदम्बा के हाथ के यन्त्र बनकर सभी काम कर रहे हों; परन्तु इस प्रकार अत्यन्त निरहंकार वृत्ति से व्यवहार करने के कारण दूसरे लोगों के विश्वास और कामों से उनके व्यवहार का विरोध होता था। इससे भिन्न भिन्न लोग पहले पहले आपस में और आगे चलकर स्पष्ट रूप से तरह तरह की बातें कहने लगे। परन्तु ऐसी स्थिति हो जाने पर या लोगों के ऐसा करने पर भी सब व्यर्थ हुआ। जगदम्बा का यह अलौकिक बालक सर्वतोपरि उसकी इच्छा के अनुसार व्यवहार करता रहा और इस कारण संसार का कोलाहल उनके कानों में प्रवेश ही नहीं

करता था। वे इस समय संसार में रहते हुए भी न रहने के समान थे। बाह्य जगत् उन्हें स्वप्नवत् भासता था और उसे पूर्ववत् सत्य मानना उनके लिए किसी प्रकार सम्भव नहीं था। 'सत्य' यदि कहीं कुछ उन्हें इस समय दिखता था तो वह केवल श्रीजगदम्बा की चिन्मयी आनन्दघन मूर्ति ही थी।

इसके पहले पूजा, ध्यान आदि के समय उन्हें कभी माता का एक हाथ ही दिखायी देता था और कभी एक पैर ही अथवा मुखकमल ही, पर अब तो पूजा के समय उन्हें जगदम्बा का पूर्ण दर्शन होता था। उन्हें दिखता था कि मानो वे हँसती हैं, बोलती हैं, "यह कर और वह न कर" आदि बताती हैं और उनके साथ चलतीफिरती हैं। भोग लगाते समय उन्हें पहले ऐसा दिखता था कि माता के नेत्रों से एक दिव्य ज्योति बाहर निकलकर नैवेद्य के सब पदार्थों को स्पर्श करती हुई उसका सार भाग खींचकर पुनः नेत्रों में प्रवेश कर रही है। अब उन्हें ऐसा दिखता था कि भोग लगाने के पूर्व ही वही माता अपने शरीर की दिव्य प्रभा से सारे मन्दिर को प्रकाशित करती हुई प्रत्यक्ष भोजन करने बैठी हैं। हृदय कहता था, "एक दिन श्रीरामकृष्ण की पूजा हो रही थी। इतने में मैं भी एकाएक वहाँ गया और देखा कि वे श्रीजगदम्बा के पादपद्मों पर बिल्वार्घ्य अर्पण करने के लिए तन्मय होकर खड़े हैं। इतने ही में एकाएक 'ठहर! ठहर! पहले मन्त्र कहता हूँ, तब खाना' ऐसा जोर से बोलते हुए उन्होंने पूजा वहीं छोड़कर प्रथम भोग ही लगाया।"

पहले पूजा, ध्यान आदि करते समय उन्हें अपने सामने की पाषाणमूर्ति में श्रीजगदम्बा का प्रत्यक्ष आविर्भाव दिखायी देता था। अब देवालयों में जाकर देखते थे तो उन्हें पाषाणमूर्ति ही नहीं

दिखती थी। उसके स्थान में मानो जीवित, जाग्रत, चिन्मयी माता अभयदान देती हुई सदा दिखायी देती थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि नाक पर हाथ लगाकर देखने से मालूम होता था कि मानो सचमुच माता श्वासोच्छ्वास ले रही हैं। बिलकुल आँखें फाड़ फाड़ कर देखने पर भी रात को देवी के शरीर की छाया दीपक के प्रकाश के कारण दीवाल पर पड़ती हुई कहीं भी नहीं दिखायी देती थी। अपने कमरे में बैठे बैठे सुनने में आता था कि माता पैरों में पैजन पहनकर एक बालिका के समान बड़े आनन्द से झुनझुन शब्द करती हुई सीढ़ी पर से ऊपर जा रही हैं। यह सत्य है या नहीं यह देखने के लिए बाहर आने पर यथार्थ में यही बात दिखती थी कि माता अपने केश खुले छोड़कर छज्जे पर खड़ी हैं और बीच बीच में कलकत्ते की ओर या कभी गंगा की ओर देखती हैं।

हृदय कहता था, "श्रीरामकृष्ण जब मन्दिर में रहते थे तो उस समय का कहना ही क्या था? पर अन्य समय भी इन दिनों कालीमन्दिर में प्रवेश करते ही शरीर रोमांचित हो जाता था। अतः श्रीरामकृष्ण के पूजा करते समय क्या क्या होता है, यह सब देखने का अवसर मैं कभी नहीं खोता था, कई बार मैं अचानक वहाँ जा पहुँचता था और जो वहाँ दिखायी पड़ता था उससे उस समय यद्यपि मन भक्ति और आश्चर्य में डूब जाता था, पर बाहर आते ही संशय उत्पन्न हो जाता था। मुझे ऐसा लगता था कि 'मामा सचमुच पागल तो नहीं हो गये हैं? अन्यथा पूजा में इस प्रकार भ्रष्टाचार वे कैसे करते? रानी और मथुरबाबू को यदि इसका पता लगेगा तो वे न मालूम क्या करेंगे?' यह विचार मन में आते ही भय उत्पन्न होता था। पर इधर देखो तो मामा में

इस बात की छाया तक न थी और उन्हें यह बात बतायी जाय, तो वे सुनते ही न थे। इसके सिवाय उनसे कुछ अधिक कहते भी नहीं बनता था। पता नहीं ऐसा क्यों होता था। पर एक प्रकार का भय और संकोच मन में पैदा होकर ऐसा लगता था कि मानो मुँह को ही किसी ने दबा रखा है। तब तो मन में यही आता था कि उनकी यथासाध्य सेवा करते रहना ही हमारा एकमात्र कार्य है; पर तो भी मन में यह शंका बनी ही रहती थी कि किसी दिन कोई अनिष्ट न हो जाय।"

मन्दिर में एकाएक जाने से श्रीरामकृष्ण के जिन व्यवहारों से हृदय के मन में भक्ति और भय दोनों विकार हुआ करते थे, उसके सम्बन्ध में वे हमसे कहते थे, "एक दिन ऐसा देखा कि जौ, बिल्वार्घ्य तैयार करके मामा ने पहले उससे अपने ही मस्तक, वक्ष, सर्व अंग में, इतना ही नहीं, वरन् पाद को भी स्पर्श किया और तत्पश्चात उसे श्रीजगदम्बा के चरणों में चढ़ाया।

"एक दिन यह देखने में आया कि किसी मतवाले के समान उनके नेत्र और छाती आरक्त हो गयी थी। उसी अवस्था में पूजा के आसन पर से उठकर वे झूमते हुए ही सिंहासन पर चढ़ गये और जगदम्बा की ठुड्डी पकड़कर उसे हाथ से सुहलाने लगे; बीच में ही गाना गाने लगे, हँसने लगे और धीरे धीरे कुछ कहने लगे तथा माता का हाथ पकड़कर नाचने लगे।

"एक दिन श्रीजगदम्बा को भोग लगाते समय मामा उठकर खड़े हो गये और थाल में से एक कौर उठाकर वे जल्दी जल्दी सिंहासन पर चढ़ गये और वह कौर माता के मुख में डालते हुए कहने लगे--'खाओ! माता! खाओ! अच्छी तरह खाओ!' थोड़ी देर बाद बोले, 'क्या कहती है? मैं पहले खाऊँ? तो फिर लो

मैं ही खाता हूँ ।' यह कहकर उसमें से कुछ अंश आप स्वयं खाकर पुनः वह कौर माता के मुख में डालते हुए बोले, 'मैंने तो खा लिया, अब तू खा भला ।'

"एक दिन नैवेद्य के समय एक बिल्ली म्याऊँ म्याऊँ करती वहाँ आ गयी, तब मामा ने 'खाओ माता, खाओ भला' यह कहते हुए वह सारा नैवेद्य बिल्ली को ही खिला दिया ।

"एक दिन रात के समय जगदम्बा को पलंग पर सुलाकर मामा एकदम 'मुझे अपने पास सोने को कहती हो ? अच्छा तो फिर सो जाता हूँ माता !' यह कहकर जगदम्बा के उस रुपहरी पलंग पर कुछ समय तक सोये रहे !

"पूजा करते समय वे इतनी तन्मयता के साथ ध्यान करते रहते थे कि बहुत समय उन्हें बाह्य जगत् की स्मृति बिलकुल नहीं रहती थी । ऐसा कई बार होता था ।

"सबेरे उठकर जगदम्बा के हार के लिए मामा स्वयं ही बगीचे में जब फूल तोड़ते थे उस समय भी ऐसा दिखता था कि वे किसी से बोल रहे हैं, हँस रहे हैं और वार्तालाप कर रहे हैं ।

"सारी रात मामा को निद्रा नाम को भी नहीं आती थी । किसी भी समय उठकर देखो तो मामा भावावस्था में किसी से बातचीत कर रहे हैं अथवा गा रहे हैं या पंचवटी के नीचे ध्यानस्थ बैठे हैं ।"

हृदय कहता था कि "श्रीरामकृष्ण के इस कार्य को देखकर मन में तरह तरह की शंकाएँ भी होती थीं । तो भी दूसरों से यह बात बताने की मुझे हिम्मत नहीं होती थी; क्योंकि डर लगता था कि सम्भव है वह दूसरा मनुष्य अन्य लोगों के पास उसकी चर्चा करे और ऐसा होते होते बाबू के कान तक भी यह बात

पहुँच जाय और कोई अनिष्ट परिणाम हो जाय। पर नित्यप्रति यदि ऐसा होने लगा तो वह बात छिपकर भी कब तक रहेगी? अन्त में यह बात दूसरों की दृष्टि में आयी और इसका समाचार खजान्ची बाबू के पास भी पहुँच गया। वे स्वयं एक दिन आकर सब हालचाल देख गये, पर उस समय श्रीरामकृष्ण को किसी देवता चढ़े हुए मनुष्य के समान उग्र रूप में और निर्भय तथा निःसंकोच व्यवहार करते देखकर उन्हें कुछ कहने की हिम्मत नहीं हुई। दफ्तर में लौट जाने के बाद उनमें आपस में इस पर विचार होने लगा और अन्त में यह निश्चय हुआ कि छोटे भट्टाचार्य* या तो पागल हो गये हैं या उन्हें किसी भूत ने घेर लिया है। अन्यथा पूजा के समय इस प्रकार शास्त्र-विरुद्ध आचरण कभी न करते। चाहे जो भी हो, इतना तो स्पष्ट है कि जगदम्बा की पूजाअर्चा आदि कुछ नहीं होती; भट्टाचार्य ने सब भ्रष्टाचार मचा रखा है और यह बात बाबूजी के कान में अवश्य ही डाल देनी चाहिए।

मथुरबाबू को जब यह बात मालूम हुई तो उन्होंने कहा, "मैं स्वयं आकर सब बातें देखूँगा, तब तक भट्टाचार्यजी को वैसी ही पूजा करने दी जाय।" यह बात जाहिर होते ही प्रत्येक व्यक्ति कहने लगा, "अब भट्टाचार्य की नौकरी निश्चय ही छूट जायेगी। अपनी पूजा में देवी कितने दिनों तक भ्रष्टाचार सहन करेगी?" एक दिन बिना किसी को बताये पूजा के समय मथुरबाबू आकर बहुत समय तक श्रीरामकृष्ण के कार्यों को ध्यानपूर्वक देखते रहे। भाव में तन्मय रहने के कारण श्रीरामकृष्ण का ध्यान उधर नहीं गया। पूजा के समय पूर्ण लक्ष्य जगदम्बा की ओर ही रहने के कारण

*श्रीरामकृष्ण को देवालय के नौकर-चाकर छोटे भट्टाचार्य कहते थे।

मन्दिर में कौन आया, कौन गया, इस बात का ध्यान उन्हें कभी नहीं रहता था। मथुर की समझ में यह बात थोड़ी ही देर में आ गयी। तत्पश्चात् जगदम्बा के साथ श्रीरामकृष्ण का बालक के समान व्यवहार देखकर उन्हें यह जँच गया कि इन सब का कारण उनकी प्रेमाभक्ति ही है। उन्हें यह मालूम पड़ा कि इस प्रकार के निष्कपट भक्तिविश्वास से यदि जगदम्बा प्रसन्न न होगी तो फिर होगी किस उपाय से? पूजा करते समय श्रीरामकृष्ण की आँखों से बहती हुई अश्रुधारा, उनका अदम्य उत्साह, उनकी भावतन्मयता, उनका अन्य सब विषयों के प्रति पूर्ण दुर्लक्ष्य आदि देखकर मथुर का हृदय आनन्द और भक्ति से भर आया। उन्हें भास होने लगा कि मन्दिर में मानो सचमुच दिव्य प्रकाश भरा हुआ है। उनके मन में निश्चय भी हो गया कि भट्टाचार्य को अवश्य ही देवी का दर्शन हो चुका है। थोड़ी देर बाद वे बड़े भक्तियुक्त अन्तःकरण से और अश्रुपूर्ण नेत्रों से श्रीजगदम्बा को और उसके उस अपूर्व पुजारी को दूर से ही बारम्बार प्रणाम करने लगे और यह कहते हुए कि "आज इतने दिनों में देवी की यथार्थ प्रतिष्ठा हुई है, इतने दिनों में अब उसकी सच्ची पूजा होने लगी है" मथुरबाबू किसी से कुछ न कहकर अपने बाड़े में वापस आ गये। दूसरे दिन मन्दिर के प्रधान कर्मचारी को उनका हुक्म मिला कि "भट्टाचार्य महाशय जैसी चाहें वैसी पूजा करें। उनसे कोई कुछ भी छेड़छाड़ न करे।"

उपरोक्त वृत्तान्त से शास्त्रज्ञ पाठक समझ सकेंगे कि श्रीरामकृष्ण के मन में इस समय बड़ी भारी क्रान्ति हो रही थी। वैधी भक्ति की सीमा को लाँघकर इस समय वे अहैतुकी प्रेमाभक्ति के उच्च मार्ग से बड़ी शीघ्रता के साथ आगे बढ़ रहे थे। यह क्रान्ति

इतनी स्वाभाविक और सहज रीति से हो रही थी कि दूसरों की बात तो जाने दीजिये, स्वयं उनको ही इसका स्पष्ट ज्ञान नहीं था। उन्हें उसका स्वरूप केवल इतना ही समझ में आया था कि श्रीजगदम्बा के प्रति अपार प्रेम के अखण्ड और उद्दाम प्रवाह में मैं आ पड़ा हूँ और वह प्रवाह जिधर ले जाये उधर ही मुझे जाना चाहिए। इसी कारण बीच बीच में शंका होती थी कि "मुझे ऐसा क्यों होता है, मैं उचित मार्ग ही से तो जा रहा हूँ ?" इसीलिए वे व्याकुलता से माता से कहते थे, "माता! मुझे यह क्या होता है मैं नहीं समझता, मैं सीधे मार्ग से जा रहा हूँ या नहीं, यह भी मैं नहीं जानता; इसलिए मुझे जो करना उचित हो, सो तू ही करा, जो सिखाना हो, सो तू ही सिखा और सदा मेरा हाथ पकड़ कर चला।" काम, कांचन, मान, यश, सब प्रकार के ऐहिक भोग और ऐश्वर्य से मन को हटाकर अन्तःकरण के अत्यन्त भीतरी भाग से वे श्रीजगदम्बा से उपरोक्त प्रार्थना किया करते थे। करुणामयी ने अपने असहाय बालक का आक्रोश सुना और उसका हाथ पकड़कर सब ओर से उसकी रक्षा करती हुई उसकी इच्छा पूर्ण की। उनके साधना-काल में उन्हें जिन-जिन वस्तुओं अथवा जिन प्रकार के मनुष्यों की आवश्यकता थी, वह सब स्वयं ही उनके पास उन्होंने भेज दिया और उन्हें शुद्ध ज्ञान और भक्ति के अत्युच्च शिखर पर स्वाभाविक सहज भाव से ले जाकर बिठा दिया।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥

—गीता, ९।२२

गीता में भगवान् ने जो इस प्रकार की प्रतिज्ञा की है और जो

आश्वासन दिया है उसका अक्षरशः पालन श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में उनके इस समय के चरित्र को ध्यानपूर्वक देखने से स्पष्ट प्रतीत होता है तथा मन स्तब्ध और आश्चर्यचकित हो जाता है। "ईश्वर-प्राप्ति के लिए सर्वस्व त्याग करनेवाले साधक को आवश्यक वस्तुओं का अभाव कभी नहीं रहता," यह बात बड़े बड़े साधकों ने सदा से बतलायी है, तथापि संशयग्रस्त मनुष्यों ने इस विधान की सत्यता यदि आधुनिक काल में प्रत्यक्ष न देखी होती तो इस विधान पर उनका कभी विश्वास न होता। अतः साक्षात् श्री-जगदम्बा ने इस शास्त्रीय विधान की सत्यता संशयी और दुष्ट मन को दिखाने के लिए श्रीरामकृष्ण का हाथ पकड़कर उनसे यह लीलाभिनय कराया !

श्रीरामकृष्ण कहते थे कि ईश्वरप्रेम की प्रचण्ड तरंगें बिना किसी निमित्त जब मनुष्य के मन में उमड़ने लगती हैं, तब हजार प्रयत्न करने पर भी उन्हें पीछे नहीं हटा सकते। इतना ही नहीं, वरन् कई बार उनके प्रबल वेग को धारण करने में असमर्थ होकर यह स्थूल जड़ शरीर जर्जर हो जाता है। इस तरह कई साधक मृत्यु को भी प्राप्त हो जाते हैं। पूर्ण ज्ञान या पूर्ण भक्ति के प्रचण्ड वेग को सहन करने योग्य शरीर का रहना अत्यन्त आवश्यक है। आज तक केवल अवतारी पुरुषों के शरीर ही इस प्रचण्ड वेग को सर्वदा सहन करने में समर्थ हुए हैं। इसी कारण भक्तिशास्त्र में अवतारी पुरुषों को बारम्बार "शुद्धसत्त्वविग्रहवान्" कहा गया है। भक्तिशास्त्र का कथन है कि रजोगुण और तमोगुण जिनमें लेश मात्र भी नहीं हैं, ऐसे शुद्ध सत्त्वगुण के उपादान से बने हुए शरीर को लेकर वे इस संसार में आते हैं। इसी कारण सब प्रकार के आध्यात्मिक भाव वे सहन कर सकते हैं। इस तरह का शरीर

धारण करने पर भी ईश्वरीय भाव के प्रबल वेग से कई बार उनको, विशेषत: भक्तिमार्ग से जानेवाले पुरुषों को, अत्यन्त कष्ट होता हुआ दिखायी देता है। भाव के प्रबल वेग के कारण ईसा मसीह और श्री चैतन्य देव के शरीर की सन्धियाँ शिथिल हो गयी थीं और उनके शरीर के प्रत्येक रोमकूप से पसीने के समान बूँद-बूँद रक्त बाहर निकलता था, इस दृष्टान्त से उपरोक्त बात स्पष्ट समझ में आती है। इस प्रकार के शारीरिक विकार यद्यपि उन्हें अत्यन्त कष्ट देते थे, तथापि उन्हीं की सहायता से उनके शरीर को पूर्वोक्त असाधारण मानसिक वेग धारण करने की शक्ति प्राप्त होती गयी और आगे चलकर जब उनके शरीर को मानसिक वेग धारण करने का अभ्यास हो गया तब ये सब विकार उनके शरीर में पहले के समान सदा दिखायी नहीं देते थे।

भाव-भक्ति के प्रबल वेग से श्रीरामकृष्ण के शरीर में इसी समय से अनेक अद्भुत विकार उत्पन्न हुए। साधना प्रारम्भ करने के थोड़े ही दिनों में उनके शरीर में विलक्षण दाह उत्पन्न हुआ और वह जैसे जैसे बढ़ता चला, वैसे वैसे उन्हें उसके कारण बहुत कष्ट भोगना पड़ा। इस गात्रदाह का कारण स्वयं श्रीरामकृष्ण हमें इस प्रकार बतलाते थे कि सन्ध्या, पूजा आदि करते समय शास्त्रीय विधान के अनुसार अपने हृदय के पाप-पुरुष को दग्ध कर सकते हैं। साधनाओं के प्रारम्भ करते ही गात्रदाह उत्पन्न हुआ, तब मैं मन में कहने लगा, "अब यह और कहाँ का रोग आ गया ?" धीरे धीरे गात्रदाह बढ़ता ही गया और बिलकुल असह्य हो गया। अनेक प्रकार के तेल से सिर पर मालिश करके देखा, पर कोई लाभ न हुआ। पश्चात् एक दिन पंचवटी के नीचे मैं बैठा था, तब ऐसा देखा कि (अपने शरीर की ओर उँगली दिखा-

कर) इसमें से एक लाल-लाल आँखोंवाला भयंकर स्वरूप का काला पुरुष शराबी के समान झूमते हुए बाहर निकलकर मेरे सामने खड़ा हो गया और उसी के पीछे पीछे गेरुआ वस्त्र पहने हुए, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए एक अत्यन्त सौम्याकृति पुरुष बाहर आया और उस काले पुरुष से युद्ध करके उसने उसे मार डाला। इस दर्शन के बाद कुछ दिनों के लिए गात्रदाह कम पड़ गया। इस पाप-पुरुष के दग्ध होने के पूर्व छः महीने तक लगातार गात्रदाह से असह्य कष्ट होता रहा था।

श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से हमने यह सुना है कि पाप-पुरुष के नष्ट होने पर कुछ ही दिनों में उनका गात्रदाह कम हो गया, पर थोड़े ही दिनों में वह पुनः शुरू हुआ। उस समय श्रीरामकृष्ण वैधी भक्ति की सीमा को उल्लंघन करके प्रेमा-भक्ति से जगदम्बा की सेवा में तन्मय हो रहे थे। क्रमशः यह गात्रदाह इतना बढ़ा कि पानी में भिगोया हुआ वस्त्र सिर पर लगातार तीन घण्टे टपकते हुए रखने से भी वह दाह कम नहीं होता था। आगे चलकर भैरवी ब्राह्मणी ने आकर इस दाह को कितने सहज उपाय से दूर कर दिया, इसका वर्णन आगे आयेगा। इसके बाद एक समय और भी उन्हें असह्य गात्रदाह हुआ। उस समय श्रीराकृष्ण मधुरभाव की साधनाएँ कर रहे थे। हृदय कहता था, "किसी की छाती पर जलते हुए अंगार फैला देने से उसे जिस प्रकार पीड़ा और वेदना होती है उसी तरह श्रीरामकृष्ण को उस समय हुआ करती थी। उसके कारण वे लगातार छटपटाते रहते थे।" यह गात्रदाह बहुत दिनों तक बना रहा। कई दिनों के बाद श्री कनाइलाल घोषाल से उनका परिचय हुआ। ये सज्जन उच्च श्रेणी के शक्ति-उपासक थे। उनके कहने से श्रीरामकृष्ण देवी का इष्ट कवच धारण करने

लगे और उसी से उनका गात्रदाह दूर हुआ। अस्तु--

श्रीरामकृष्ण की इस प्रकार की अद्भुत पूजा देखकर अपने घर लौटने पर मथुरबाबू ने सारा वृत्तान्त रानी रासमणि से कह दिया। भक्तिमती रानी को यह बात सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। श्रीरामकृष्ण के मुख से भक्तिरसपूर्ण भजन सुनकर उनके प्रति पहले ही से उनका आदरभाव था। इसके सिवाय जब श्रीगोविन्दजी की प्रतिमा भंग हुई थी उस समय भी उनके भक्तिपूर्ण हृदय का थोड़ा बहुत परिचय उन्हें हुआ ही था। इस बात से उन्हें भी जँच गया कि श्रीरामकृष्ण के समान सरल, पवित्र और भक्तिवाले पुरुष पर श्रीजगदम्बा की कृपा होना स्वाभाविक ही है। अतः उन्होंने भी इस प्रकार के अद्भुत पुजारी का सब कार्यकलाप स्वयं देखने के लिए एक दिन दक्षिणेश्वर जाने का निश्चय किया।

आज रानी रासमणि श्रीजगदम्बा के देवालय में स्वयं आयी थीं। अतः नौकर-चाकरों में बड़ी हड़बड़ी मच गयी थी। सदा के कामचोर लोग भी आज अपना अपना काम बहुत दिल लगाकर कर रहे थे। घाट पर जाकर गंगास्नान करके रानी देवालय में आयी। श्रीजगदम्बा की पूजा उसी समय समाप्त हुई थी। श्रीजगदम्बा को प्रणाम करके रानी मूर्ति के समीप बैठ गयीं और छोटे भट्टाचार्य को भी वहीं खड़े देखकर रानी ने उनसे श्रीजगदम्बा के एक-दो पद गाने के लिए कहा। श्रीरामकृष्ण भी शीघ्र ही रानी के पास बैठकर अत्यन्त तन्मयता के साथ रामप्रसाद, कमलाकान्त आदि साधकों के भक्तिपूर्ण पद गाने लगे। कुछ पद गाने के बाद श्रीरामकृष्ण ने अपना गाना एकाएक बन्द कर दिया और बड़े क्रोध से "यहाँ भी संसार के विचार! यहाँ भी संसार के विचार!" कहते हुए अकस्मात् रानी को दो तमाचे लगा दिये।

अपने बालक को गलती करते देख पिता जिस तरह क्रुद्ध होकर उसकी ताड़ना करता है, उसी तरह का श्रीरामकृष्ण का यह आचरण था।

इस विचित्र कार्य को देखकर आसपास खड़े हुए नौकर-चाकरों में बड़ी हलचल मच गयी। कोई कोई एकदम श्रीरामकृष्ण को पकड़ने के लिए दौड़ पड़े। देवालय में यह गड़बड़ देखकर बाहर के नौकर लोग भी दौड़ते हुए भीतर आने लगे। "स्वयं रानी को इस पागल पीर ने तमाचे लगा दिये, तब तो निश्चय ही इसके सौ वर्ष पूरे हो चुके" आदि बकवाद शुरू हो गयी; परन्तु इस गड़बड़ के मुख्य कारण––श्रीरामकृष्ण और रानी रासमणि, दोनों ही बिलकुल शान्त बैठे रहे। इस सारे कोलाहल की ओर श्रीरामकृष्ण का ध्यान बिलकुल नहीं था। वे तो अपने ही विचार में मग्न थे। मेरे मन में जो विचार उत्पन्न हो रहे थे उनका पता श्रीरामकृष्ण को कैसे लग गया, इसी बात का आश्चर्य रानी अपने मन में कर रही थीं। नौकर-चाकरों की धूमधाम और कोलाहल अधिक बढ़ जाने पर रानी का ध्यान उस ओर गया। वे समझ गयीं कि ये लोग निरपराध श्रीरामकृष्ण को मारने से पीछे नहीं हटेंगे। अतः उन्होंने गम्भीर स्वर में सब को आज्ञा दे दी कि "भट्टाचार्य का कोई अपराध नहीं है। तुम कोई उन्हें किसी प्रकार का कष्ट मत दो।" बाद में मथुरबाबू के कान में भी वह बात पहुँची, तब उन्होंने भी रानी की ही आज्ञा कायम रखी। इस घटना से वहाँ किसी किसी को बड़ा दुःख हुआ, पर उसका उपाय ही क्या था? "बड़ों के झगड़ों में पड़ने की पंचायत हम गरीब लोगों को क्यों हो?" यह विचार कर बेचारे सभी लोग शान्त बैठ गये। अस्तु––

श्रीजगदम्बा के चिन्तन में ही सदैव निमग्न रहने के समय से श्रीरामकृष्ण के मन में भक्ति और आनन्दोल्लास की मात्रा इतनी अधिक हो गयी थी कि श्रीजगदम्बा की पूजा-अर्चा आदि नित्य-नैमित्तिक कार्य किसी प्रकार निपटाना भी उनके लिए असम्भव हो गया था। आध्यात्मिक अवस्था की उन्नति के साथ साथ वैधी कर्म किस तरह आप से आप छूटने लगते हैं इस विषय में श्रीरामकृष्ण एक अत्यन्त चुभता हुआ दृष्टान्त देते थे। वे कहते थे— "जब तक बहू गर्भवती नहीं होती तब तक उसकी सास उसे कुछ भी खाने को और सब प्रकार के काम करने को कहती है, पर उसके गर्भवती होते ही इन बातों की छानबीन शुरू हो जाती है और जैसे जैसे अधिक समय बीतने लगता है, वैसे वैसे सास उसे काम कम देने लगती है और जब प्रसूति का दिन समीप आने लगता है, तब तो गर्भ को कुछ हानि न पहुँच जाय इस डर से उससे कुछ काम करने के लिए भी नहीं कहती। प्रसूति के बाद उस स्त्री के पास काम केवल इतना ही रह जाता है कि वह अपने शिशु की सेवाशुश्रूषा में ही लगी रहे।" श्रीरामकृष्ण का भी स्वयं अपने सम्बन्ध में श्रीजगदम्बा की बाह्य पूजा-अर्चा के विषय में बिलकुल यही हाल हुआ। उन्हें अब पूजा-अर्चा आदि के बारे में समय आदि का ध्यान नहीं रहता था। सदैव जगदम्बा के ही चिन्तन में तन्मय होकर जिस समय उसकी जैसी सेवा करने की लहर उन्हें आ जाती थी, उस समय वैसी ही सेवा करते थे। किसी समय पूजा आदि वे न करके प्रथम नैवेद्य ही अर्पण करते थे; कभी ध्यानमग्न होकर अपने पृथक् अस्तित्व को ही भूल जाते थे और श्रीजगदम्बा की पूजासामग्री से अपनी ही पूजा कर लिया करते थे। भीतर-बाहर सर्वत्र श्रीजगदम्बा का

निरन्तर दर्शन होते रहने के कारण इस प्रकार का आचरण उनसे हो जाया करता था, यह बात हमने उन्हीं के मुँह से सुनी है। वे कहते थे, "इस तन्मयता में लेश मात्र कमी होकर यदि श्रीजगदम्बा का दर्शन क्षण भर भी न हो, तो मन इतना व्याकुल हो जाता था कि उस विरह की असह्य वेदना से मैं जमीन पर इधर-उधर लोटने लगता था और अपना मुँह जमीन पर घिसकर, दुःख करते हुए रोते-रोते आकाश पाताल एक कर डालता था। जमीन पर लोटने से और पृथ्वी पर मुँह को घिस डालने के कारण सारा शरीर खून से लाल हो जाता था, पर उधर मेरा ध्यान ही नहीं रहता था। पानी में पड़ा हूँ, कीचड़ में गिरा हूँ, या आग में गिर गया हूँ, इसकी सुधि ही नहीं रहती थी। ऐसी असह्य वेदना में कुछ समय बीत जाने पर पुनः श्रीजगदम्बा का दर्शन होता था और पुनः मन में आनन्द का समुद्र उमड़ने लगता था!"

श्रीरामकृष्ण के प्रति मथुरबाबू के मन में अपार भक्ति और आदर बुद्धि थी, तथापि जब उन्होंने रानी को भी मार दिया तब तो मथुर के मन में भी शंका होने लगी और उन्हें वायुरोग हो जाने का निश्चय होने लगा। मथुरबाबू के मन में ऐसा होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी; क्योंकि मालूम पड़ता है कि मथुरबाबू कुछ भी हो, विषयबुद्धिवाले ही तो थे। सम्भव था कि उन्हें श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था का परिचय ठीक न होने से ही उनके उन्माद होने का अनुमान हुआ हो। अतः यह सोचकर कि श्रीरामकृष्ण को उन्माद हो गया है, उन्होंने कलकत्ते के सुप्रसिद्ध वैद्य गंगाप्रसाद सेन से श्रीरामकृष्ण की परीक्षा कराकर उनसे उन्हें औषधि दिलाना शुरू कर दिया। इतना ही

करके मथुरबाबू शान्त नहीं हुए। "अपने मन को ठीक ठीक सम्हालकर रखना चाहिए और उसे अधिक भड़कने न देकर यथाशक्ति साधना करते जाना चाहिए" इस प्रकार तर्क-युक्ति की सहायता से भी श्रीरामकृष्ण को निश्चय कराने का प्रयत्न उन्होंने अपनी ओर से किया। इस तर्कयुक्ति का निश्चय श्रीरामकृष्ण को कराते समय मथुरबाबू की किस प्रकार फजीहत होती थी, वह इसके पूर्व बताये हुए लाल और सफेद फूल के विषय पर से पाठक समझ सकते हैं।

देवी की नित्य-नियमित पूजा-अर्चा श्रीरामकृष्ण के द्वारा होना असम्भव जानकर मथुरबाबू ने उस कार्य के लिए दूसरा प्रबन्ध कर दिया। श्रीरामकृष्ण के चचेरे भाई रामतारक लगभग इसी समय काम ढूँढ़ते ढूँढ़ते दक्षिणेश्वर आये हुये थे। उन्हीं को मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण के आराम होने तक उनके कार्य पर नियुक्त कर दिया। यह बात सन् १८५८ की है।

रामतारक को श्रीरामकृष्ण हलधारी कहा करते थे। उनके सम्बन्ध में हमसे श्रीरामकृष्ण कई बातें बताया करते थे। हलधारी बड़े अच्छे पण्डित और निष्ठावान साधक थे। श्रीमद्भागवत, अध्यात्मरामायण आदि ग्रन्थ उनको बड़े प्रिय थे और उनका वे नित्य पाठ करते थे। श्रीजगदम्बा की अपेक्षा श्रीविष्णु भगवान पर ही उनकी अधिक भक्ति थी, तथापि देवी के प्रति उनके मन में अनादर नहीं था, और इसी कारण उन्होंने देवी के पुजारी का कार्य स्वीकार कर लिया। काम पर नियुक्त होने के पूर्व उन्होंने अपने लिए प्रसाद के बदले रोज कच्चा अन्न मिलने का प्रबन्ध मथुरबाबू से कहकर करा लिया था। मथुरबाबू ने प्रथम तो ऐसा प्रबन्ध करने से इन्कार किया। वे बोले, "क्यों ? प्रसाद

लेने में तुम्हें क्या हानि है ? तुम्हारे भाई गदाधर और भान्जे हृदय तो रोज देवी का प्रसाद ग्रहण करते हैं । वे तो कभी सूखा अन्न लेकर हाथ से नहीं पकाते ।" हलधारी ने उत्तर दिया, "मेरे भाई की आध्यात्मिक अवस्था बहुत उच्च है, वे कुछ भी करें तो भी उन्हें दोष नहीं लग सकता । स्वयं मेरी अवस्था उतनी ऊँची नहीं है । अतः यदि मैं वैसा करूँ तो मुझे निष्ठाभंग करने का दोष लगेगा ।" मथुरबाबू इस उत्तर से सन्तुष्ट हो गये और उन्हें सूखा अन्न लेकर रसोई बनाने की अनुमति दे दी । उस समय से हलधारी पंचवटी के नीचे रसोई बनाकर भोजन किया करते थे ।

हलधारी का देवी के प्रति अनादर नहीं था, तथापि देवी को पशुबलि देना उन्हें पसन्द नहीं था । विशेष पर्वों में देवी को पशुबलि देने की प्रथा दक्षिणेश्वर में प्रचलित थी । अतः इन पर्वों के दिन रोज के समान आनन्द और उल्लास से देवी की पूजा वे नहीं कर सकते थे । ऐसा कहते हैं कि लगभग एक मास तक देवी की पूजा करने के बाद एक दिन वे सन्ध्या कर रहे थे कि अचानक उनके सामने श्रीजगदम्बा उग्र रूप धारण करके खड़ी हो गयीं और बोलीं, "चला जा तू यहाँ से । तेरी पूजा ग्रहण नहीं करूँगी; तू मन से मेरी पूजा नहीं करता और इस अपराध के कारण तेरा लड़का शीघ्र ही मृत्यु को प्राप्त होगा ।" इसके बाद थोड़े ही दिनों में अपने पुत्र के मरने का समाचार उन्हें विदित हुआ, तब उन्होंने यह वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण को बता दिया और श्रीजगदम्बा के पुजारी का कार्य छोड़ दिया । इस समय से हृदय देवी की पूजा करने लगा और हलधारी उसके स्थान में श्रीराधागोविन्दजी की पूजा करने लगे ।

१८ प्रथम चार वर्ष की अन्य घटनाएँ

(१८५५–५८)

"मेरे जीवन में लगातार १२ वर्ष तक ईश्वरप्रेम का प्रचण्ड तूफान उमड़ा हुआ था ! माता को भिन्न भिन्न रूपों में कैसे देखूँ—यही धुन सदा मुझ पर सवार थी !"

"यहाँ (मेरी ओर से) सर्व प्रकार की साधनाएँ हो चुकीं ! ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग और हठयोग भी !—आयु बढ़ाने के लिए ।—"

——श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल की बातें बताते समय, प्रथम स्वयं उन्होंने उस काल के बारे में जो बातें समय समयपर बतायी हैं, उनका विचार करना चाहिए । तभी उस समय की वार्ता को ठीक ठीक बताना सरल होगा । स्वयं उनके मुँह से हमने यह सुना है कि कुल बारह वर्ष तक निरन्तर भिन्न भिन्न साधनाओं में वे निमग्न रहे । दक्षिणेश्वर में श्रीजगदम्बा की प्राणप्रतिष्ठा १८५५ में ता. ३१ मई, बृहस्पतिवार के दिन हुई थी । उसी साल श्रीरामकृष्ण ने वहाँ पुजारी का पद ग्रहण किया और सन् १८५५ से सन् १८६६ तक यही बारह वर्ष का समय उनका साधनाकाल निश्चित होता है । यद्यपि स्थूल मान से यही समय निश्चित होता है तथापि इसके बाद भी तीर्थयात्रा में भिन्न भिन्न तीर्थों में और वहाँ से लौटने पर कभी कभी दक्षिणेश्वर में भी उनका साधना में मग्न रहना पाया जाता है ।

स्थूल इन मान से बारह वर्षों के तीन भाग हो सकते हैं। पहला भाग सन् १८५५ से १८५८ तक के चार वर्षों का है। इस अवधि में जो मुख्य मुख्य घटनाएँ हुईं, उनका वर्णन हो चुका है। द्वितीय भाग सन् १८५८ से १८६२ तक के चार वर्षों का है। इसमें भैरवी ब्राह्मणी की संरक्षा में उन्होंने गोकुल-व्रत से आरम्भ करके मुख्य मुख्य चौसठ तन्त्रों में वर्णित साधनाओं का यथाविधि अनुष्ठान किया। तृतीय भाग सन् १८६२ से १८६६ तक के चार वर्षों का है। इस अवधि में रामायत पन्थ के जटाधारी नामक साधु से उन्होंने राममन्त्र की दीक्षा ली और उनके पास की रामलाला की मूर्ति प्राप्त की। वैष्णवतन्त्रोक्त मधुरभाव का लाभ उठाने के लिए उन्होंने छः मास स्त्रीवेष में ही रहकर मधुरभाव की साधना की, श्रीमत् परमहंस तोतापुरी से संन्यास-दीक्षा लेकर उन्होंने वेदान्तोक्त निर्विकल्प समाधि का लाभ उठाया और अन्त में श्री गोविन्दराय से इस्लाम धर्म का उपदेश लेकर उस धर्म में बतायी हुई साधना की। इसके अतिरिक्त इन बारह वर्षों की अवधि में ही उन्होंने वैष्णवतन्त्रोक्त सख्यभाव की साधना की और कर्ताभजा, नवरसिक आदि वैष्णव मतों के अन्तर्गत पन्थों की भी जानकारी प्राप्त की।

प्रथम चार वर्षों की अवधि में उन्हें दूसरों से आध्यात्मिक विषय में यदि कोई सहायता प्राप्त हुई थी, तो वह केवल श्रीयुत केनाराम भट्ट से ली हुई शक्ति-मन्त्र की दीक्षा ही है। ईश्वरप्राप्ति के विषय में उनके अन्तःकरण में व्याकुलता उत्पन्न हो गयी थी और उसी की सहायता से उन्होंने ईश्वरदर्शन का लाभ उठाया। यह व्याकुलता उत्तरोत्तर अधिकाधिक बढ़कर उससे उनके शरीर और मन का रूप इतना बदल गया था कि उसकी उन्हें कल्पना

तक न थी। उससे उनमें नये नये भाव उत्पन्न हुए। इसके सिवाय इसी व्याकुलता से ही उनके मन में अपने उपास्य देव के प्रति अत्यन्त प्रेम उत्पन्न हुआ और वैधी भक्ति के सर्व ब्राह्म नियमों का उल्लंघन करके वे प्रेमाभक्ति के अधिकारी बन गये जिससे उन्हें शीघ्र ही श्रीजगदम्बा के दिव्य दर्शन की प्राप्ति हुई।

इस पर कोई सहज ही कह सकता है कि "तब बाकी क्या बचा था? श्रीरामकृष्ण को यदि इस समय ईश्वर का दर्शन हो गया था तो फिर अब इसके बाद साधना करने के लिए उन्हें कोई कारण ही शेष नही था।" इसका उत्तर यह है कि एक दृष्टि से साधना की कोई आवश्यकता नहीं थी तथापि दूसरी दृष्टि से साधना की आवश्यकता अवश्य थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे— "वृक्ष, लता आदि का साधारण नियम यह है कि उनमें पहले फूल, फिर फल निकलते हैं, परन्तु उनमें से कुछ ऐसे भी होते हैं जिनमें प्रथम फल, तत्पश्चात् पुष्प निकलते हैं!" साधनाओं के विषय में श्रीरामकृष्ण के मन का विकास बिलकुल उसी तरह का हुआ। इसी कारण उन्हें एक दृष्टि से इसके बाद साधना करने की आवश्यकता नहीं थी, यह सच है। परन्तु साधनाकाल के प्रथम भाग में यद्यपि उन्हें भिन्न भिन्न दर्शन प्राप्त हुए थे तथापि जब तक उन्होंने शास्त्रों में वर्णित साधकों के शास्त्रीय-साधन-पद्धति द्वारा उत्पन्न अनुभवों के साथ अपने स्वतः के अनुभवों का मिलान करके देख नहीं लिया, तथा जब तक अपने अनुभव की सचाई और झुठाई का निश्चय नहीं कर लिया और इस प्रकार के अनुभवों की चरम सीमा निर्धारित नहीं हो गयी, तब तक उनका मन सदा शंकायुक्त ही बना रहता था। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"श्रीजगदम्बा के भिन्न भिन्न रूप के दर्शन मुझे नित्य-

प्रति हुआ करते थे, पर ये दर्शन सत्य हैं या मन के केवल भ्रम मात्र हैं यह संशय मुझे सदा हुआ करता था। इसी कारण मैं कहा करता था कि यदि अमुक बातें हो जायेंगी तो मैं इन दर्शनों को सत्य मानूँगा और सदा वही बातें हो जाया करती थीं।" ऐसी अवस्था रहने के कारण ईश्वरदर्शन के उपरान्त भी उन्हें साधना करना आवश्यक हो गया। अतएव श्रीजगदम्बा की कृपा से उन्होंने केवल अन्तःकरण की व्याकुलता से जो दर्शन और अनुभव प्राप्त किया था, उन्हीं को पुनः एक बार शास्त्रोक्त मार्ग से और शास्त्रोक्त प्रणाली से साध्य करके प्राप्त कर लेना उनके लिए आवश्यक हो गया था। शास्त्रों का कथन है कि "श्रीगुरुमुख से सुने हुए अनुभव और शास्त्रों में वर्णित पूर्वकालीन साधकों के अनुभव --दोनों का तथा अपने को प्राप्त होने वाले दिव्य दर्शन और अपने अलौकिक अनुभवों का मिलान करके जब तक साधक उन सब की एकवाक्यता स्वयं प्रत्यक्ष नहीं देख लेता तब तक वह सर्वथा संशयरहित नहीं हो सकता। इन तीनों अनुभवों--शास्त्रोक्त अनुभव, अन्य साधकों के अनुभव और स्वानुभव की एकवाक्यता जहाँ उसने एक बार देख ली तो फिर उसके सब संशय दूर हो जाते हैं और वह पूर्ण शान्ति का अधिकारी बन जाता है।

उपरोक्त कारणों के अतिरिक्त और भी एक गूढ़ कारण था जिसके कारण श्रीरामकृष्ण ने ईश्वरदर्शन के उपरान्त भी पुनः साधनाएँ कीं। केवल अपने ही लिए शान्ति प्राप्त करना उनकी साधनाओं का उद्देश्य नहीं था। श्रीजगन्माता ने उन्हें संसार के कल्याण के लिए पृथ्वीतल पर भेजा था। अतः यथार्थ आचार्यपद पर आरूढ़ होने के लिए उन्हें सब प्रकार के धार्मिक मतों के अनुसार साधना करना आवश्यक था। उन धर्ममतों के अन्तिम

ध्येय का प्रत्यक्ष अनुभव करके देखना भी आवश्यक था। इसलिए उन्हें सब धर्मों और सभी पन्थों की साधना करने का इतना महान् प्रयास करना पड़ा। इतना ही नहीं, वरन् यह भी प्रतीत होता है कि उनके निरक्षर होने पर भी यथार्थ ईश्वरानुरागी मनुष्य के हृदय में शास्त्रवर्णित स्वयं-उदित सभी अवस्थाओं का प्रत्यक्ष प्रदर्शन करने के लिए तथा साथ ही साथ वेद, पुराण, बाइबल, कुरान आदि सब धर्मग्रन्थों की सत्यता को भी वर्तमान युग में पुनः स्थापित करने के लिए श्रीजगदम्बा ने श्रीरामकृष्ण के द्वारा सभी साधनाएँ करायी होंगी। इसी कारण स्वयं शान्तिलाभ कर लेने के पश्चात् भी श्रीरामकृष्ण को साधनाएँ करनी पड़ीं। प्रत्येक धर्म के सिद्ध पुरुष को उचित समय पर श्रीरामकृष्ण के पास लाकर उनके द्वारा उनके धर्मों के तत्त्व और ध्येय की जानकारी उन्हें (श्रीरामकृष्ण को) प्राप्त करा देने और उन सभी धर्मों में श्रीरामकृष्ण को सिद्धि प्राप्त कराने में भी श्रीजगन्माता का यही उद्देश्य रहा होगा। ज्यों ज्यों उनके अद्‌भुत और अलौकिक चरित्र का मनन और चिन्तन किया जाय त्यों त्यों यह बात स्पष्ट रूप से दिखायी देती है।

हम पहले कह चुके हैं कि प्रथम चार वर्षों में उन्हें अपने ही मन की तीव्र व्याकुलता से ईश्वरदर्शन के मार्ग में सहायता मिली। शास्त्रनिर्दिष्ट पन्थ कौनसा है जिससे चलने पर ईश्वर का दर्शन होगा, यह बतानेवाला उन्हें उस समय कोई भी नहीं मिला था। अतः आन्तरिक घोर छटपटाहट ही उनके लिए उस समय मार्ग-दर्शक बनी। केवल उसी छटपटाहट के आधार से उन्हें श्रीजगदम्बा का दर्शन प्राप्त हुआ। इससे स्पष्ट है कि किसी की भी और किसी प्रकार की भी बाहरी सहायता न हो तो भी साधक केवल आन्तरिक

व्याकुलता के बल पर ईश्वरदर्शन का लाभ उठा सकता है। परन्तु केवल आन्तरिक व्याकुलता की सहायता से ही ईश्वरप्राप्ति करना हो तो वह व्याकुलता कितनी प्रबल होनी चाहिए, इसे हम अनेक बार भूल जाते हैं। श्रीरामकृष्ण के उस समय के चरित्र को देखकर उस व्याकुलता की प्रबलता कितनी होनी चाहिए, यह स्पष्ट विदित हो जाता है। उस समय ईश्वरदर्शन के लिए अद्भुत व्याकुलता होने के कारण उनके आहार, निद्रा, लज्जा, भय आदि शारीरिक और मानसिक दृढ़ संस्कार न मालूम कहाँ चले गये थे, उनका नाम तक नहीं था। शरीर के स्वास्थ्य की बात तो जाने दीजिये पर स्वयं अपने प्राणों की रक्षा की ओर भी उनका तनिक भी ध्यान नहीं था। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"उस समय शरीर के संस्कारों की ओर कुछ भी ध्यान न रहने के कारण सिर के केश बहुत बढ़ गये थे और मिट्टी आदि लग जाने से आप ही आप उनकी जटा बन गयी थी। ध्यान के लिए बैठे रहते समय मन की एकाग्रता के कारण शरीर किसी जड़ पदार्थ के समान स्थिर बन जाता था, यहाँ तक कि पक्षी भी निर्भय होकर सिर पर बैठ जाते थे और अपनी चोंच से सिर की धूल में खाद्य पदार्थ ढूँढ़ा करते थे! ईश्वर के विरह में अधीर होकर मैं कभी कभी अपना मस्तक जमीन पर इतना घिस डालता था कि चमड़ा छिलकर रक्तमय, लोहू-लोहान हो जाता था! इस प्रकार ध्यान, भजन, प्रार्थना और आत्मनिवेदन में दिन के उदय और अस्त तक का भी ध्यान नहीं रहता था; परन्तु जब सन्ध्या समय द्वादश शिवमन्दिर, श्रीगोविन्दजी के मन्दिर और श्रीजगदम्बा के मन्दिर में आरती शुरू होती थी और शंख, घण्टा, झाँझ की एक साथ आवाज होती थी, तब मेरी वेदना का पार नहीं रहता था। ऐसा लगता था कि

'हाय ! हाय ! और भी एक दिन व्यर्थ गया और श्रीजगदम्बा का दर्शन आज भी नहीं हुआ !' इस विचार से प्राण इतना व्याकुल हो उठता था कि शान्त रहते नहीं बनता था। उस व्याकुलता के आवेश में मैं जमीन पर गिर पड़ता था और जोर जोर से चिल्लाकर रोता था, 'माता, आज भी तूने दर्शन नहीं दिया।' और यह कहकर इतना रोता-पीटता था कि चारों ओर से लोग दौड़ पड़ते थे और मेरी वह अवस्था देखकर कहते थे कि 'अरे ! बेचारे को पेट के शूल की पीड़ा से कितना कष्ट हो रहा है' !" हमने श्रीरामकृष्ण के चरणों के आश्रय में जब रहना आरम्भ किया उस समय हमें इस सम्बन्ध में उपदेश देते हुए कि ईश्वर-दर्शन के लिए मन में कितनी तीव्र व्याकुलता होनी चाहिए, वे स्वयं अपने साधनाकाल की उपरोक्त बातें बताते हुए कहा करते थे कि "स्त्री पुत्र आदि की मृत्यु होने पर या द्रव्य के लिए लोग आँखों से घड़ों पानी बहाते हैं, पर ईश्वर का दर्शन हमें नहीं हुआ इसके लिए क्या एक चुल्लू भर भी पानी कभी किसी की आँखों से निकला है ? और उल्टा कहते हैं—'क्या करें भाई ? इतनी एकनिष्ठा से भगवत्सेवा की, फिर भी उन्होंने दर्शन नही दिया!' ईश्वर के दर्शन के लिए उसी व्याकुलता से एक बार भी आँखों से आँसू निकालो और देखो वह कैसे दर्शन नहीं देता।" उनके ये शब्द हमारे हृदय में भिद जाते थे और हमें मालूम पड़ता था कि स्वयं अपने साधनाकाल में उन्होंने इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया है, इसी कारण वे निःशंक होकर अधिकारपूर्वक तथा दृढ़ता के साथ इस प्रकार कह सकते हैं।

साधनाकाल के प्रथम विभाग में केवल श्रीजगदम्बा का दर्शन प्राप्त करके ही श्रीरामकृष्ण शान्त नहीं हुए। श्रीजगदम्बा के

दर्शन होने के बाद अपने कुलदेवता के दर्शन पाने की ओर उनके मन की सहज ही प्रवृत्ति हुई। महावीर हनुमान की सी भक्ति हो तभी श्रीरामचन्द्र का दर्शन होगा, ऐसा सोचकर दास्यभक्ति में पूर्णता प्राप्त करने के लिए अपने को महावीर मानकर उन्होंने कुछ दिनों तक साधना की। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"उन दिनों निरन्तर हनुमानजी का ही चिन्तन करते करते मैं इतना तन्मय हो जाता था कि अपने पृथक् अस्तित्व और व्यक्तित्व को भी कम से कम कुछ समय तक पूरी तरह भूल जाता था! उन दिनों आहार-विहारादि सब कार्य हनुमानजी के समान ही होते थे। मैं जान-बूझकर वैसा करता था सो बात नहीं है। आप ही आप वैसा हो जाता था। धोती को पूँछ के आकार की बनाकर उसे कमर में लपेट लेता था और कूदते हुए चलता था; फल मूल के अतिरिक्त और कुछ नहीं खाता था। खाते समय इनके छिलके निकालने की प्रवृत्ति भी नहीं होती थी। दिन का बहुतसा भाग पेड़ पर बैठकर ही बिताता था और 'रघुवीर! रघुवीर!' की पुकार गम्भीर स्वर से किया करता था। उन दिनों आँखें भी वानर की आँखों के समान सदा चंचल रहा करती थीं और अधिक आश्चर्य की बात तो यह है कि पीठ की रीढ़ का अन्तिम भाग लगभग एक इंच भर बढ़ गया था!" इस विचित्र बात को सुनकर हमने पूछा, "क्या आपके शरीर का वह भाग अब तक वैसा ही है?" उन्होंने सरलता से उत्तर दिया, "नहीं तो; महावीर का भाव मन से दूर होते ही वह बढ़ा हुआ भाग भी धीरे धीरे कम होने लगा और अन्त में पूर्ववत् हो गया!"

दास्यभाव की साधना के समय श्रीरामकृष्ण को एक अद्भुत दर्शन प्राप्त हुआ। वे कहते थे, "उन दिनों एक दिन मैं योंही

पंचवटी के नीचे बैठा था । उस समय मैं कोई विशेष ध्यान या चिन्तन करता था सो बात नहीं है, सहज ही बैठा हुआ था । इतने में वहाँ एक अनुपम ज्योतिर्मयी स्त्रीमूर्ति प्रकट हुई और उसके दिव्य तेज से वह स्थान प्रकाशित हो गया । उस समय केवल वह स्त्रीमूर्ति ही दीखती थी, इतना ही नहीं, वरन् वहाँ के वृक्ष, झाड़ियाँ, गंगा की धारा आदि सभी चीजें भी दीख रही थीं । मैंने यह देखा कि वह स्त्री कोई मानवी ही होगी, क्योंकि त्रिनयन आदि दैवी-लक्षण उसमें नहीं थे, परन्तु प्रेम, दुःख, करुणा, सहिष्णुता आदि विकारों को स्पष्ट दिखानेवाला उसके समान तेजस्वी और गम्भीर मुखमण्डल मैंने कहीं नहीं देखा । वह मूर्ति मेरी ओर प्रसन्न दृष्टि से देखती हुई धीरे धीरे आगे बढ़ रही थी । मैं चकित होकर यह सोच रहा था कि यह कौन होगी ? इतने ही में कहीं से एक बड़ा भारी बन्दर " हुप ! हुप ! " करते आया और उसके चरणों के समीप बैठ गया; त्योंही मेरे मन में एकाएक यह आया कि 'अरे यह तो सीता हैं; जन्मदुःखिनी जनकराजनन्दिनी, राममयजीविता सीता ह !' मन में ऐसा निश्चय होते ही आगे बढ़कर उनके चरणों में मैं लोटने वाला ही था कि इतने में, वहीं पर वे इस (अपनी ओर उँगली दिखाकर) शरीर में प्रविष्ट हो गयीं और आनन्द और विस्मय के कारण मैं भी बाह्यज्ञानशून्य बन गया । ध्यान चिन्तन आदि कुछ भी न करते हुए इस प्रकार किसी का भी दर्शन उस समय तक नहीं हुआ था । सीता का ही दर्शन सर्वप्रथम हुआ । (कुछ हँसकर) जन्मदुःखिनी सीता का ही इस प्रकार प्रथम दर्शन हुआ, इसी कारण मैं समझता हूँ, जन्म से लेकर मैं भी उन्हीं के समान दुःख भोग रहा हूँ !"

तपश्चर्या के योग्य पवित्र स्थान की आवश्यकता मालूम पड़ने

पर श्रीरामकृष्ण ने एक नवीन पंचवटी स्थापित करने की इच्छा हृदय से प्रकट की। पंचवटी कैसे हो इसके विषय में स्कन्द पुराण में लिखा है कि--

अश्वत्थं बिल्ववृक्षं च वटधात्रीं अशोककम्।
वटीपंचकमित्युक्तं स्थापयेत् पंच दिक्षु च॥
अशोकं स्थापयेत्प्राचि बिल्वमुत्तरभागतः।
वटं पश्चिमभागे तु धात्रीं दक्षिणतस्तथा॥
अशोकं वन्हिदिक्स्थाप्यं तपस्यार्थं सुरेश्वरि।
मध्ये वेदीं चतुर्हस्तां सुंदरीं सुमनोहराम्॥

हृदय कहता था--लगभग उसी समय पंचवटी के आसपास की ऊँची-नीची जमीन पीटकर समधरातल की गयी थी जिससे वह आँवले का पेड़ जिसके नीचे बैठकर श्रीरामकृष्ण ध्यान-जप आदि करते थे, नष्टप्राय हो गया था। तब आजकल जहाँ साधु-बैरागियों के ठहरने का स्थान है उसकी पश्चिम ओर श्रीरामकृष्ण ने स्वयं अपने हाथों से एक अश्वत्थ वृक्ष लगाया और हृदय से बेल, अशोक, बड़ और आँवले के पेड़ लगवाये और इन सब के चारों ओर तुलसी और अपराजिता के पौधे लगाये गये। थोड़े ही दिनों में ये सब पेड़-पौधे अच्छे बढ़ गये और श्रीरामकृष्ण अपना बहुतसा समय इस पंचवटी में ध्यान-धारणा आदि में बिताने लगे। तुलसी और अपराजिता के पौधे बहुत बढ़ गये, पर उनके आसपास कोई घेरा न होने के कारण जानवर उन्हें कई बार नष्ट कर दिया करते थे। एक दिन श्रीरामकृष्ण पंचवटी में ध्यान-मग्न बैठे हुए गंगाजी की ओर देखकर सोच रहे थे कि अब उसके लिए क्या उपाय किया जाय, कि इतने में ही उन्हें गंगाजी की धारा में काँटों का एक बड़ा ढेर-सा बहकर आता हुआ दिखायी

दिया। उन्होंने तुरन्त बाग के भर्ताभारी नामक माली को पुकारा और उस ढेर को खींचकर किनारे पर लाने के लिए कहा। श्रीरामकृष्ण पर भर्ताभारी की बड़ी निष्ठा थी और उनकी सेवा करने में उसे बड़ा आनन्द आता था। वह झट उस काँटे के ढेर को किनारे खींच लाया। श्रीरामकृष्ण देखते हैं तो उसमें घेरा बनाने लायक काँटे तो थे ही, परन्तु उसमें रस्सी और कुल्हाड़ी आदि घेरा बनाने की सभी आवश्यक सामग्री भी थी। यह देखकर उन दोनों को बड़ा अचरज हुआ और इन पौधों की रक्षा के लिए ही श्रीजगदम्बा ने यह सामान भेजा है, यह विश्वास हो गया। भर्ताभारी तुरन्त काम में लग गया और उसने शीघ्र ही घेरा बना डाला। तब श्रीरामकृष्ण निश्चिन्त हुए। जानवरों से बचाने का प्रबन्ध हो जाने पर शीघ्र ही तुलसी और अपराजिता के पौधे बढ़कर इतने घने हो गये कि पंचवटी में यदि कोई बैठा हो तो बाहरवाले मनुष्य को भीतर का कुछ नहीं दिखायी देता था। श्रीरामकृष्ण ने मथुरबाबू से भिन्न भिन्न तीर्थों की पवित्र धूलि मँगाकर इस पंचवटी में बिछवा दी।

दक्षिणेश्वर में रानी रासमणि के विशाल काली मन्दिर बनवाने का समाचार बंगाल में सर्वत्र फैल जाने से गंगासागर, जगन्नाथ आदि तीर्थों को जाते समय और वहाँ से लौटते हुए प्रायः सभी साधु, संन्यासी, बैरागी आदि वहीं कुछ दिनों तक ठहरने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि इस समाज में सब प्रकार के सर्व श्रेणी के साधक और सिद्ध पुरुष होते थे। उन्हीं में से एक साधु से लगभग इसी समय उन्होंने हठयोग की साधना सीखी। हठयोग की सब क्रियाओं की स्वयं साधना कर चुकने तथा उनके फलाफल का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त कर लेने पर भी वे हठयोग की

साधना न करने का ही उपदेश दिया करते थे। हममें से कोई कोई हठयोग की कुछ बातें पूछा करते थे, तब वे कहते थे, "सब साधनाएँ इस काल के लिए नहीं हैं। कलियुग में जीव अल्पायु और अन्नगतप्राण होता है। हठयोग का अभ्यास करके शरीर दृढ़ बना लेने के बाद फिर राजयोग का अभ्यास करने और ईश्वर की भक्ति करने के लिए इस युग में समय कहाँ है? इसके सिवाय हठयोग का अभ्यास करने के लिए किसी अधिकारी गुरु के समीप बहुत समय तक निवास करके आहार, विहार आदि सभी विषयों में उनके कहने के अनुसार विशेष कड़े नियमों के साथ चलना चाहिए। नियमों के पालन में थोड़ी भी भूल होने से साधक के शरीर में रोग उत्पन्न हो जाता है और साधक की मृत्यु होने की सम्भावना रहती है। इसीलिए इन सब के करने की कोई आवश्यकता नहीं है। एक बात और भी यह है कि प्राणायाम, कुम्भक आदि के द्वारा वायु का निरोध करना पड़ता है। यह सब मन के ही निरोध करने के लिए है। भक्तियुक्त अन्तःकरण से यदि ईश्वर का ध्यान किया जाय तो मन और प्राण दोनों ही आप ही आप निरुद्ध हो जाते हैं। कलियुग में प्राणी अल्पायु और अल्प शक्तिवाले होते हैं, इस कारण भगवान् ने कृपा करके उनके लिए ईश्वरप्राप्ति का मार्ग सरल कर रखा है, स्त्री-पुत्रादि के वियोग से प्राण जैसा व्याकुल हो उठता है और दसों दिशाएँ शून्य मालूम पड़ती हैं, वैसी ही व्याकुलता ईश्वर के लिए यदि किसी के मन में केवल चौबीस घण्टे तक टिक सके तो इस युग में उसे ईश्वर अवश्य ही दर्शन देंगे।"

हम कह चुके हैं कि हलधारी योग्य पण्डित और निष्ठावान वैष्णव थे। राधा-गोविन्दजी के पुजारी के पद पर नियुक्त होने

के कुछ दिनों बाद वे तन्त्रोक्त वामाचार की साधना करने लगे। यह बात प्रकट होने पर लोग इस विषय में काना-फूसी करने लगे, परन्तु हलधारी को वाक्सिद्धि होने के कारण उनके शाप के डर से कोई भी यह बात उनके सामने कहने का साहस नहीं करता था। धीरे धीरे श्रीरामकृष्ण के कान में यह बात पहुँची। श्रीरामकृष्ण स्पष्टवक्ता थे। उनके पास भीतर कुछ और बाहर कुछ, यह कभी नहीं था। उन्होंने हलधारी से एक दिन कह दिया, "तुम तन्त्रोक्त साधना करते हो; अतः लोग तुम पर हँसते हैं।" यह सुनकर हलधारी बिगड़ पड़े और बोले, "तू मुझसे छोटा होकर मेरी ऐसी अवज्ञा करता है। तेरे मुँह से खून गिरेगा।" "मैंने तुम्हारी अवज्ञा करने के लिए नहीं कहा; केवल लोगों का कहना तुम्हें मालूम कराने के हेतु मैंने कहा था"––ऐसी बहुतसी बातें कहकर श्रीरामकृष्ण उन्हें प्रसन्न करने का प्रयत्न करने लगे, परन्तु उस समय हलधारी ने उनकी एक भी नहीं सुनी।

इस घटना के बाद एक दिन रात को ८-९ बजे के लगभग श्रीरामकृष्ण के तालू से सचमुच खून निकलकर मुखमार्ग से लगातार बाहर गिरने लगा। श्रीरामकृष्ण कहते थे––"उस खून का रंग बिलकुल काला था। और खून इतना गाढ़ा था लि कुछ तो मुख से बाहर गिरा और कुछ दाँतों के सिरे पर चिपककर बड़ की रेषा के समान बाहर झूलने लगा। मुँह में रूई या कपड़े की पोटली रखकर रक्त को दबाने का प्रयत्न किया, पर वह सब निष्फल हुआ; तब मुझे डर लगा। यह वार्ता सब ओर फैल जाने से लोग जमा हो गये। हलधारी उस समय मन्दिर में सायं-पूजा आदि समाप्त कर रहे थे। यह बात सुनकर उन्हें भी डर लगा और वे तुरन्त दौड़ आये। उन्हें देखते ही मेरी आँखें डबडबा

गयीं और मैं बोला, 'भैया ! शाप देकर तुमने मेरी कैसी दशा कर दी, देखो भला ?' मेरी यह अवस्था देखकर वे भी रो पड़े !

"उस दिन कालीमन्दिर में एक अच्छे साधु आये थे। यह समाचार जानकर वे भी वहाँ आये और रक्त के रंग तथा रक्त निकलने के स्थान की परीक्षा करके बोले, 'डरो मत। रक्त बाहर निकल गया, यह बहुत अच्छा हुआ। मालूम होता है तुम योग-साधना करते हो। इस साधना के प्रभाव से सुषुम्ना का मुख खुलकर शरीर का रक्त सिर की ओर चढ़ रहा था सो सिर में न पहुँचकर बीच ही में मुँह से बाहर निकल गया। यह सचमुच अच्छा हुआ। यह खून अगर मस्तक में चढ़ जाता, तो तुम्हें जड़समाधि प्राप्त हो जाती और वह समाधि कुछ भी करने से भंग न होती। प्रतीत होता है कि तुम्हारे द्वारा श्रीजगदम्बा का कुछ विशेष कार्य होना है; इसलिए संकट से तुम्हें बचा लिया है।' जब उस साधु ने इस प्रकार समझाया तब मुझे धीरज हुआ।"

इस तरह हलधारी का शाप उल्टा वरदान बनकर श्रीरामकृष्ण के लिए फलीभूत हुआ।

हलधारी के साथ श्रीरामकृष्ण का व्यवहार बड़ा मधुर था। हलधारी श्रीरामकृष्ण के चचेरे भाई थे और उनसे आयु में कुछ बड़े थे। सन १८५८ के लगभग वे दक्षिणेश्वर आये और उस समय से सन् १८६५ तक श्री राधा-गोविन्दजी के पुजारी का कार्य करते रहे। अर्थात् श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल के लगभग साढ़े सात वर्ष तक वे वहाँ थे और उस समय की सारी घटनाएँ उनकी आँखों के सामने हुईं। श्रीरामकृष्ण के मुँह से हमने ऐसा सुना है कि वे श्रीयुत तोतापुरी के साथ अध्यात्मरामायण आदि

वेदान्तशास्त्र के ग्रन्थों पर चर्चा किया करते थे। तो भी ऐसा दीखता है कि उन्हें श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था का अच्छा परिचय प्राप्त नहीं हुआ था। हलधारी बड़े निष्ठावान और आचारसम्पन्न थे, इसी कारण भावावेश में आकर श्रीरामकृष्ण का अपनी धोती, जनेऊ आदि फेंक देना उन्हें अच्छा नहीं लगता था। उन्हें मालूम पड़ता था कि हमारा छोटा भाई स्वेच्छाचारी या पागल हो गया है। हृदय कहता था, "उन्होंने कभी कभी मुझसे कहा भी कि—'हृदू! अरे! यह इस तरह जनेऊ निकाल डालता है, धोती खोल डालता है, यह तो बहुत बुरी बात है। अनेक जन्मों के पुण्य से कहीं ब्राह्मण का शरीर मिलता है, पर इसे देखो तो सभी आचरण विपरीत हैं। इसे तो अपना ब्राह्मणत्व भी छोड़ देने की इच्छा होती है। ऐसी इसकी कौनसी उच्च अवस्था है कि जिससे यह इस प्रकार स्वेच्छाचार करता है? हृदू! देख रे भाई! यह तेरा ही थोड़ा-बहुत सुनेगा। तू ही इसे इस विषय में कुछ समझा दे और यह इस प्रकार की चाल न चले, इसका तुझे ध्यान रखना चाहिए। इतना ही नहीं, यदि बने और उसे बाँधकर रखना भी कुछ उपयोगी सिद्ध हो तो वैसा उपाय भी तुझे करना चाहिए'।"

पूजा के समय के उनके तन्मय भाव, उनकी प्रेमाश्रुधारा, भगवद्गुणश्रवण में उनका उल्लास आदि देखकर हलधारी को बड़ा अचरज होता था और वे मन में सोचते थे कि हमारे छोटे भाई की ऐसी अवस्था ईश्वरी भावावेश के कारण ही होनी चाहिए; क्योंकि अन्य किसी की ऐसी अवस्था नहीं होती। इसी प्रकार उन पर हृदय की भी ऐसी निष्ठा देख वे चकित होकर कहते थे, "हृदू! तू कुछ भी कह! तुझको उसके बारे में कुछ साक्षात्कार

अवश्य हुआ है, अन्यथा तू उसकी इस प्रकार सेवा कभी नहीं करता।"

इस प्रकार हलधारी के मन में श्रीरामकृष्ण की उच्चावस्था के सम्बन्ध में सदा दुविधा रहा करती थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "जब मैं कालीमन्दिर में पूजा करता था उस समय मेरा तन्मय भाव देख हलधारी मुग्ध होकर कई बार कहते थे––"रामकृष्ण! अब मैंने तुझे निश्चित रूप से पहचान लिया।' यह सुनकर मैं कभी-कभी हँसी में कह देता था, 'देखिये! नहीं तो फिर और कुछ गोलमाल हो जायगा!' वे कहते थे, 'अब मैं तुझे नहीं भूल सकता; अब तू मुझे धोखा नहीं दे सकता, तुझमें निश्चय ही ईश्वरी आवेश है; अब मुझे तेरा पूरा परिचय मिल गया।' यह सुनकर मैं कहता था, 'चलो, देखा जायगा।' तत्पश्चात् हलधारी मन्दिर की पूजा समाप्त करके एक चुटकी भर नास सूँघ लेते और जब अध्यात्मरामायण या भागवत या गीता पढ़ने बैठते, तब तो अपनी विद्वत्ता के अभिमान से मानो एक बिलकुल ही भिन्न व्यक्ति बन जाते थे। उस समय मैं उनके पास जाता और कहता, 'दादा, तुमने जो कुछ शास्त्र में पढ़ा है उन सभी अवस्थाओं का अनुभव मैंने स्वयं किया है और इन सब बातों को मैं समझता भी हूँ।' यह सुनते ही वे बोल उठते थे, 'वाह रे मूर्ख! तू इन सब बातों को क्या समझता है?' तब मैं स्वयं अपनी ओर उँगली दिखाकर कहता था––'सच कहता हूँ; इस शरीर में जो एक व्यक्ति है वह इन सब बातों को मुझे समझाया करता है! तुमने अभी ही कहा था कि मुझमें ईश्वरी आवेश है और वही ये सब बातें समझा देता है।' यह सुनकर वे और भी क्रुद्ध होते थे और कहते थे, 'चल, चल, मूर्ख कहीं का! कलियुग में कल्कि के सिवाय ईश्वरी

अवतार होने की बात शास्त्र में और कहाँ पर है ? तुझे उन्माद हो गया है, इसी कारण तेरी यह भ्रमात्मक कल्पना हो गयी है ।' तब मैं हँसकर कहता, 'पर तुम तो अभी ही कहते थे कि अब मैं धोखा नहीं खा सकता ?' पर यह सुने कौन ? ऐसी बातें एक बार नहीं, दो बार नहीं, अनेकों बार होती थीं । फिर एक दिन उन्होंने मुझे पंचवटी के बड़ की एक शाखा पर बैठकर लघुशंका करते हुए देखा । उस दिन से उनकी पक्की धारणा हो गयी कि मुझे ब्रह्मराक्षस लग गया है !"

हलधारी के पुत्र की मृत्यु का उल्लेख ऊपर हो ही चुका है । उस दिन से उनकी यह भावना हो गयी कि श्रीकाली तमोगुणमयी या तामसी हैं––एक दिन बातचीत के सिलसिले में वे श्रीरामकृष्ण से कह भी गये कि "तामसी मूर्ति की उपासना करने से क्या कभी आध्यात्मिक उन्नति हो सकती है ? ऐसी देवी की तू इतनी आराधना क्यों करता है ?" श्रीरामकृष्ण ने उनका कहना सुन लिया और उस समय कोई उत्तर नहीं दिया, परन्तु उन्हें अपने इष्टदेवता की निन्दा सुनकर बहुत बुरा लगा । वे वैसे ही कालीमन्दिर में चले गये और रोते रोते श्रीजगदम्बा से बोले––"माता ! हलधारी बड़े शास्त्रज्ञ पण्डित हैं; वे तुझे तमोगुणमयी कहते हैं; क्या तू सचमुच वैसी है ?" तदनन्तर श्रीजगदम्बा के मुख से इस विषय का यथार्थ तत्त्व समझते ही अत्यन्त उल्लास और उत्साह से वे हलधारी के पास दौड़ गये और एकदम उनके कन्धे पर बैठकर उन्मत्त के समान उनसे बार बार कहने लगे, "क्यों तुम माता को तामसी कहते हो ? क्या माता तामसी हैं ? मेरी माता तो सब कुछ हैं––त्रिगुणमयी और शुद्ध सत्त्वगुणमयी हैं ।" श्रीरामकृष्ण उस समय भावाविष्ट थे । उनके बोलने से और स्पर्श से उस

समय हलधारी की आँखें खुल गयीं। उस समय वे (हलधारी) आसन पर बैठे पूजा कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण की यह बात उन्हें जँच गयी और इनमें (श्रीरामकृष्ण में) श्रीजगदम्बा का आविर्भाव होना उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया। अपने समीप रखी हुई पूजा की सामग्री में से चन्दन, फूल लेकर उन्होंने बड़ी भक्ति के साथ श्रीरामकृष्ण के चरणों में समर्पित किये। थोड़ी देर बाद हृदय भी वहाँ आ गया और हलधारी से बोला--"मामा, आप कहा करते हैं कि रामकृष्ण को भूत लगा है। तब फिर आपने उनकी पूजा क्यों की?" हलधारी बोले, "क्या कहूँ हृदू! उसने कालीमन्दिर से लौटकर मेरी कैसी अवस्था कर दी! अब तो मैं सब भूल गया। मुझे उसमें सचमुच साक्षात् ईश्वरी आवेश दिखायी दिया! हृदू! जब जब मैं कालीमन्दिर में जाता हूँ तब तब वह मेरी इसी प्रकार विलक्षण अवस्था कर देता है। मुझे तो यह सब बड़ा चमत्कार मालूम पड़ता है। मैं इसे किसी प्रकार हल नहीं कर सकता।"

इस प्रकार हलधारी श्रीरामकृष्ण में ईश्वरी प्रकाश का अस्तित्व बारम्बार अनुभव करते हुए भी जब कभी नास की चुटकी लेकर शास्त्रविचार करने लगते तब अपने पाण्डित्य के अभिमान में भूलकर पुनः अपनी पुरानी धारणा पर लौट आते थे। इससे यह स्पष्ट दीखता है कि कामकांचनासक्ति नष्ट हुए बिना केवल बाह्य शौचाचार और शास्त्रज्ञान के द्वारा बहुत कुछ कार्य नहीं सधता और मनुष्य सत्य तत्त्व की धारणा नहीं कर सकता। एक दिन कालीमन्दिर में भिखारियों का भोजन हुआ। श्रीरामकृष्ण ने इन सब भिखारियों को नारायण मानकर उन लोगों का उच्छिष्ट भी उस समय भक्षण किया। यह देखकर हलधारी क्रुद्ध होकर श्रीरामकृष्ण से बोले, "मूर्ख! तू तो भ्रष्ट हो गया! तेरी लड़-

कियाँ होने पर उनका विवाह कैसे होगा सो मैं देखूँगा।" वेदान्त-ज्ञान का अभिमान रखनेवाले हलधारी की यह बात सुन श्रीरामकृष्ण दुःखित होकर कहने लगे, "अरे दादा! वाह रे अरण्यपण्डित! तुम्हीं तो कहते हो कि 'शास्त्र जगत् को मिथ्या कहते हैं और सर्व भूतों में ब्रह्म-दृष्टि रखनी चाहिए।' क्या तुम समझते हो कि मैं भी तुम्हारे समान 'जगत् को मिथ्या' कहूँगा और ऊपर से लड़के-बच्चे भी मुझे होते रहेंगे? धिक्कार है तुम्हारे इस शास्त्रज्ञान को!"

कभी कभी हलधारी के पाण्डित्य से फँसकर बालकस्वभाववाले श्रीरामकृष्ण किंकर्तव्यमूढ़ हो जाते थे और श्रीजगदम्बा की सम्मति लेने के लिए उसके पास दौड़ जाया करते थे। एक दिन हलधारी ने उनसे कहा, "शास्त्र कहते हैं कि ईश्वर भावाभाव से परे है, तब तू भावावस्था में जो ईश्वर के रूप आदि देखता है, वे सब मिथ्या हैं।" यह सुनकर श्रीरामकृष्ण के मन में भ्रम हो गया। इससे उनको कुछ भी न सूझने लगा। वे कहते थे––"तब मुझे मालूम होने लगा कि भावावेश में मुझे जो दर्शन हुए और जो बातें मैंने सुनीं वे सभी झूठ हैं? क्या माता ने मुझे ठग लिया? इस विचार से मेरा मन अत्यन्त व्याकुल हो उठा और मैं रोते रोते कहने लगा––'माता! क्या किसी निरक्षर मूर्ख को इस प्रकार ठगती हो?' रोने का वेग उस समय किसी भी प्रकार से नहीं रुकता था। कुछ समय बाद मेरे वहाँ बैठकर रोने से उस जगह से धुआँ निकलने लगा और उस धुएँ से आसपास की सब जगह भर गयी। थोड़ी देर में उस धूम्र-समूह में एक सुन्दर गौर वर्ण की मुखाकृति दिखायी देने लगी। वह मूर्ति कुछ समय तक मेरी ओर एकटक देखती रही, फिर गम्भीर स्वर से त्रिवार बोली, 'अरे! तू भावमुखी रह।' इतना कह कुछ समय बाद वह मूर्ति

उसी धुएँ में मिलकर अदृश्य हो गयी। वह धुआँ भी क्षणभर में लुप्त हो गया। तब मुझे उस समय इन शब्दों को सुनकर बड़ी शान्ति प्राप्त हुई।''

श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल के जीवन पर जितना ही विचार किया जाय उतना ही स्पष्ट दिखता है कि यद्यपि कालीमन्दिर में बहुतों की यह धारणा थी कि उन्हें उन्माद हो गया है, पर निश्चय ही यह उन्माद मस्तिष्क के विकार या किसी रोग के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था। और यह उन्माद था ही नहीं, वरन् दिव्योन्माद था। यह तो उनके ईश्वरदर्शन के लिए अन्तःकरण में उत्पन्न होनेवाली प्रचण्ड व्याकुलता थी। इसी व्याकुलता के प्रबल वेग से वे उस समय अपने आपको सम्हाल नहीं सकते थे तथा किसी उन्मत्त के समान स्वैर बर्ताव करते थे। ईश्वर-दर्शन के लिए उनके हृदय में निरन्तर प्रचण्ड ज्वाला उठा करती थी। इसी कारण वे साधारण लोगों से सांसारिक वार्तालाप नहीं करते थे। बस इसीलिए सब लोग उन्हें उन्मादग्रस्त कहा करते थे। हम सांसारिक लोगों की भी कभी कभी किसी मामूली बात के लिए ऐसी ही अवस्था हो जाती है। यदि ऐसी बातों के लिए हमारी व्याकुलता कभी बढ़ जाय और चिन्ता के कारण सहनशक्ति मर्यादा के बाहर चली जाय, तो हमारा भी आचरण बदल जाता है और मन में एक और कार्य में दूसरा होने का सदा का स्वभाव भी बदल जाता है। इस पर यदि कोई यह कहे कि "सहनशक्ति की सीमा भी तो सब में एकसी नहीं होती। कोई थोड़ेसे ही सुख-दुःख में बिलकुल अशान्त हो उठता है तो कोई बड़े सुख-दुःख में भी सदा पर्वत के समान अचल रहता है। अतः श्रीरामकृष्ण की सहनशक्ति कितनी थी यह कैसे समझ पड़े?"

इसका उत्तर यही है कि उनके जीवन की कई बातों का विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनमें सहनशक्ति असाधारण थी। देखो, वे साधनाकाल में पूरे बारह वर्ष तक आधा पेट खाने पर या उपवास करने पर और अनिद्रावस्था आदि विलक्षण स्थिति में भी एक समान स्थिर रह सकते थे—कितनी ही बार अतुल सम्पत्ति उनके चरणों के समीप आ जाने पर भी उन्होंने उसे 'ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में महान् बाधक' समझकर पैर से ठुकरा दिया—इन सब बातों से उनके शरीर और मन में अत्यन्त बल और असाधारण शक्ति का होना स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है।

इसके अतिरिक्त उस काल के उनके जीवन का विचार करने से मालूम होता है कि घोर विषयासक्त लोग ही उन्हें उन्माद-ग्रस्त समझते थे। एक मथुरबाबू की बात छोड़ दीजिये तो उनकी अवस्था की तर्कयुक्ति द्वारा परीक्षा करनेवाला कोई दूसरा मनुष्य उस समय दक्षिणेश्वर में था ही नहीं। श्रीयुत केनाराम भट्ट श्रीरामकृष्ण को मन्त्रदीक्षा देकर कहीं अन्यत्र चले गये थे और फिर लौटे ही नहीं। उनके बारे में हृदय से या और किसी दूसरे से कोई समाचार नहीं मिला। कालीमन्दिर के लोभी और अशिक्षित नौकरचाकरों के लिए श्रीरामकृष्ण की उच्च अवस्था का समझना असम्भव था। तब तो उस समय श्रीरामकृष्ण की उच्च अवस्था के सम्बन्ध में वहाँ आनेवाले साधुसन्तों के मत को ही मानना होगा। हृदय तथा अन्य लोग और स्वयं श्रीरामकृष्ण के कहने के अनुसार तो यही दिखता है कि उन्माद कहना तो दूर रहा श्रीराम-कृष्ण की अवस्था बहुत उच्च श्रेणी की थी और उन सभी लोगों का मत भी यही था।

इसके बाद की घटनाओं पर विचार करने से दिखता है कि

ईश्वरदर्शन की प्रबल व्याकुलता से जब वे बेहोश हो जाया करते थे उस समय शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उन्हें जो भी उपाय बताया जाता था वे उसे तुरन्त करने लगते थे। फिर वे इस सम्बन्ध में अपना हठ नहीं रखते थे। यदि चार लोगों ने कह दिया कि इन्हें रोग हो गया है, वैद्य की सलाह लेनी चाहिए, तो वे इस बात को भी मान लेते थे। यदि किसी ने कह दिया कि इन्हें कामारपुकुर अपनी माता के पास ले जाना चाहिए, वे उसे भी मान गये। किसी ने कहा विवाह करने से उनका उन्माद दूर होगा, तो इसे भी उन्होंने अस्वीकार नहीं किया; तब ऐसी स्थिति में हम कैसे कह सकते हैं कि उन्हें उन्माद हुआ था ?

इसके सिवाय ऐसा भी दिखता है कि विषयी लोगों से और सांसारिक व्यवहार की बातें करनेवालों से सदा दूर रहने का प्रयत्न करते रहने पर भी जहाँ कहीं बहुत से लोग एकत्रित होकर ईश्वरपूजा, कीर्तन, भजन आदि करते हों वहाँ वे अवश्य जाते थे। वराहनगर के दशमहाविद्या के स्थान पर, कालीघाट के श्रीजगदम्बा के स्थान पर तथा पानीहाटी के महोत्सव आदि में वे बारम्बार जाते थे। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि उन्हें उन्माद नहीं था। इन स्थानों में भी भिन्न-भिन्न साधकों के साथ उनकी भेंट-मुलाकात और वार्तालाप हुआ करता था और इसके सम्बन्ध में जो कुछ थोड़ाबहुत हमें मालूम है उससे भी साधक शास्त्रज्ञ लोग उन्हें उच्च श्रेणी के ही पुरुष समझते थे। श्रीरामकृष्ण जब पानीहाटी महोत्सव में सन् १८५९ में गये हुए थे तब वहाँ विख्यात वैष्णवचरण ने उन्हें देखते ही उनके असामान्य कोटि के महापुरुष होने के लक्षणों को पहचान लिया और श्री वैष्णवचरण ने वह दिन उन्हीं के सहवास में बिताया। उनके खाने-

पीने का सब प्रबन्ध भी स्वयं उन्होंने किया। इसके बाद तीन-चार वर्ष में उनकी और श्रीरामकृष्ण की पुनः भेंट हुई और उन दोनों में बड़ा स्नेह हो गया। इसका वृत्तान्त आगे है।

इन्हीं प्रथम चार वर्षों की अवधि में कामकांचनासक्ति को पूर्ण रीति से नष्ट करने के लिए श्रीरामकृष्ण ने बहुत सी अद्‌भुत साधनाएँ कीं और उन्होंने इन सब शत्रुओं पर पूर्ण विजय भी प्राप्त की। ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में कांचनासक्ति को बहुत बड़ा विघ्न जानकर उन्होंने उस आसक्ति को दूर करने के लिए निम्नलिखित साधना की:—

एक हाथ में मिट्टी और दूसरे हाथ में कुछ सिक्के लेकर वे गंगाजी के किनारे बैठ जाते थे और कहते थे—"अरे मन! इसको पैसा कहते हैं; इससे अनेक प्रकार के सांसारिक सुख प्राप्त हो सकते हैं। गाड़ी-घोड़े, दास-दासी, कपड़े-लत्ते, तरह तरह के खाने-पीने के पदार्थ और सब प्रकार के ऐश-आराम के सामान इस पैसे से मिल सकते हैं; पर संसार के आधे से अधिक झगड़े भी इसी पैसे के कारण होते हैं। इस पैसे को प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाना पड़ता है, इसकी रक्षा करने के लिए श्रम करना पड़ता है। इसके नाश होने से दुःख होता है तथा इसके होने से अभिमान उत्पन्न होता है। इससे कुछ परोपकार तो हो सकता है, पर इसके द्वारा ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। अरे मन! जिस वस्तु में इतने दोष हैं और जिससे ईश्वरलाभ होना तो दूर रहा, वरन् ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में विघ्न उत्पन्न होता है, ऐसी वस्तु रखने से क्या लाभ? उसका मूल्य और इस मिट्टी का मूल्य एक समान है; अतः इस पैसे को ही मिट्टी क्यों न कहा जाय?" ऐसा कहते हुए वे अपने हाथ की उन चीजों की अदल-बदल

किया करते थे और "पैसा मिट्टी, मिट्टी पैसा" इस प्रकार लगातार कहते हुए, ईश्वरलाभ की दृष्टि से दोनों का मूल्य एक समान मानकर, अपने मन में पूर्ण निश्चय करके, मिट्टी और पैसे को मिलाकर सब गंगाजी में फेंक देते थे।

इस अद्भुत साधना के बाद कांचनासक्ति पर उन्हें काया, वचन और मन से ऐसी पूर्ण विजय प्राप्त हुई जैसी आज तक किसी दूसरे को नहीं हुई होगी। पैसे की तो बात भी उन्हें सहन नहीं होती थी। मथुरबाबू, लक्ष्मीनारायण मारवाड़ी आदि ने उनके चरणों में अपार सम्पत्ति लाकर समर्पित कर दी, पर उसकी ओर उन्होंने देखा तक नहीं। इतना ही नहीं वरन् एक बार मथुरबाबू ने बहुत बड़ी रकम लेने के लिए उनसे आग्रह किया तब "मुझे विषयासक्त करना चाहता है?" कहते हुए उसे मारने दौड़े! श्रीरामकृष्ण ने केवल मन से ही कांचनासक्ति का विचार दूर कर दिया था सो नहीं, शरीर से भी उन्होंने उसका पूर्ण त्याग कर दिया था। जैसे पैसे का विचार उनके मन को सहन नहीं होता था उसी प्रकार पैसे का स्पर्श भी वे सह नहीं सकते थे। स्पर्श हो जाने पर उनके हाथ पैर वायुरोग से पीड़ित होने के समान टेढ़े-मेढ़े हो जाते थे और उनका श्वासोच्छ्वास बन्द हो जाता था। एक दिन स्वामी विवेकानन्द आदि संन्यासी भक्तों को त्याग की महिमा समझाते हुए वे बोले, "त्याग काया, वचन और मन से होना चाहिए।" स्वामी विवेकानन्द बड़े खोजी स्वभाव के होने के कारण उन्होंने अपने गुरुदेव की परीक्षा करने की ठानी। थोड़ी देर बाद अपने बिस्तर पर से उठकर श्रीरामकृष्ण बाहर गये। स्वामीजी ने झट उनके बिस्तर के नीचे एक रुपया डाल दिया और इसका परिणाम बड़ी उत्सुकता से देखने के लिए

बैठ गये । ज्योंही श्रीरामकृष्ण लौटकर अपने बिस्तर पर बैठे त्योंही उनके शरीर में कुछ चुभता हुआ सा जान पड़ा और वे चिल्लाकर बिस्तर से अलग खड़े हो गये । उनके सर्वांग में पीड़ा होने लगी थी । विवेकानन्दजी के सिवाय असली बात किसी को न मालूम होने के कारण सब लोग उनके बिस्तर में सुई, अल्पीन, काँटा, बिच्छू आदि देखने लगे । बिस्तर के कपड़े झाड़ने पर एक रुपया 'खन' से आवाज करता हुआ नीचे गिर पड़ा । उसे देखते ही श्रीरामकृष्ण सब बात समझ गये । इस खोज-ढूँढ़ में विवेकानन्दजी भाग न लेते हुए चोर के समान एक ओर अलग खड़े थे । इतने में ही श्रीरामकृष्ण की दृष्टि उनकी ओर गयी और उन्हें अपने शिष्य का यह कौतुक मालूम हो गया। वे सदा सब से यही कहते थे--"कोई बात मैं कहता हूँ इसीलिए उस पर विश्वास न किया करो; जब तुम्हारे अनुभव में वह बात आये और जँचे तभी उस पर विश्वास करो ।" वे यह भी कहा करते थे, "साधु की परीक्षा दिन में करो, रात में करो और तभी उस पर विश्वास करो ।"

अन्तिम दिनों में उनका यह कांचनत्याग उनके शरीर में ऐसा भिद गया था कि पैसे की तो बात ही दूर रही किसी धातु के बर्तन को भी वे स्पर्श नहीं कर सकते थे । भूलकर भी यदि उन्हें धातु के बर्तन का स्पर्श हो जाय तो बिच्छू के डंक मारने के समान उन्हें शारीरिक पीड़ा होती थी । इसी कारण वे मिट्टी के बर्तन ही उपयोग में लाते थे । यदि धातु का बर्तन हाथ में लेना ही पड़ता था, तो कपड़े से लपेटकर हाथ में लेते थे । कांचनासक्ति का मन से त्याग कर देने पर वह त्यागवृत्ति उनके अस्थि-माँस में विलक्षण रीति से प्रविष्ट हो गयी थी ।

कामासक्ति पर विजय प्राप्त करने के लिए वे बहुत दिनों तक स्वयं ही स्त्रीवेष में रहे। उन दिनों उनकी बोल-चाल आदि सभी व्यवहार स्त्रियों के समान हुआ करते थे। स्त्रीजाति की ओर मातृभाव को छोड़ अन्य भाव से देखना उनके लिए असम्भव हो गया था। इस सम्बन्ध के अन्य वृत्तान्त हम आगे चलकर मधुर-भाव-साधना के अध्याय में लिखेंगे।

अभिमान दूर करने के लिए उन्होंने भी अलौकिक साधनाएँ कीं। हाथ में झाड़ू लेकर वे मन्दिर के अहाते को स्वयं झाड़ते थे। उनके बाल उन दिनों बहुत सुन्दर और लम्बे लम्बे थे। उन बालों से वे रास्ते, चौक आदि को झाड़कर साफ करते थे। झाड़ते समय कहते थे, "माता, मेरा सब अभिमान नष्ट कर दे। भंगी से भी मैं श्रेष्ठ हूँ यह अभिमान तक मेरे मन में न आने दे!" अपने को सब से नीच जानकर भिखारियों की पंगत उठने पर वे उस स्थान को स्वयं साफ करते थे तथा भिखारियों को नारा-यण-रूप जान उनके उच्छिष्ट को प्रसाद मानकर ग्रहण करते थे। कुछ दिनों तक तो वे बिलकुल सबेरे सबसे पहले उठ जाते थे। और आसपास के पाखानों को झाड़कर साफ कर देते थे, और झाड़ते समय कहते थे, "माता! मेरा सब अभिमान बिलकुल नष्ट कर दे।"

ऐसी अलौकिक साधनाओं से उनका अहंकार समूल नष्ट हो गया था। उनकी यह दृढ़ धारणा थी कि मैं कोई स्वतन्त्र व्यक्ति नहीं हूँ; केवल माता जगदम्बा के हाथों की पुतली हूँ। इन सब साधनाओं से उस समय उनके हृदय में ईश्वरप्राप्ति के लिए कितनी तीव्र व्याकुलता थी और किसी कार्य के करने का निश्चय होते ही उसे मनसा-वाचा-कर्मणा सिद्ध करने के लिए वे कितना

प्रयत्न करते थे, यह स्पष्ट दिखेगा। साथ ही यह भी ध्यान में आ जायगा कि किसी दूसरे से बिना विशेष सहायता पाये केवल अपने हृदय की व्याकुलता के बल पर ही उन्होंने श्रीजगदम्बा का दर्शन प्राप्त किया था। जब इस प्रकार वे साधनाओं का प्रत्यक्ष फल प्राप्त कर चुके, तब बाद में वे अपने अनुभव की गुरुवाक्य और शास्त्रवाक्य से एकता सिद्ध करने के उद्योग में लगे।

श्रीरामकृष्ण कहते थे—"त्याग और संयम के पूर्ण अभ्यास द्वारा मन और इन्द्रियों को वश कर लेने पर जब साधक का अन्तः-करण शुद्ध और पवित्र हो जाता है तब उसका मन ही गुरु बन जाता है। फिर उसके उस शुद्ध मन में उत्पन्न हुई भावतरंगें उसे कभी भी मार्ग भूलने नहीं देतीं और उसे शीघ्र ही उसके ध्येय की ओर ले जाती हैं।" प्रथम चार वर्ष की अवधि में स्वयं श्रीराम-कृष्ण के मन का यही हाल था। वह तो उनके गुरु के स्थान में होकर उन्हें क्या करना और क्या नहीं करना चाहिए, इतना ही बताकर शान्त नहीं हो जाता था, वरन् कभी तो वह एक भिन्न देह धारण करके शरीर से बाहर निकलकर किसी अन्य व्यक्ति के समान उनके सामने खड़ा हो जाता था और उन्हें साधना करते रहने के लिए उत्साहित करता था, या कभी उन्हें डर दिखाकर साधना में लगाता था। वह अमुक साधना के करने का कारण भी कभी समझा देता था अथवा कभी अमुक साधना से भविष्य में होने वाले फल को भी बता देता था। यों ही एक दिन ध्यान करते समय उन्हें अपने शरीर से बाहर निकला हुआ, लाल लाल त्रिशूल धारण किया हुआ, एक संन्यासी दीख पड़ा। उनके सामने खड़ा होकर वह बोला, "मन से अन्य सब विषयों का विचार दूर करके तू केवल अपने इष्टदेव का ही स्मरण और चिन्तन कर।

यदि ऐसा न करेगा तो यह त्रिशूल तेरी छाती में भोंक दूँगा ।" और एक समय तो उन्हें ऐसा दिखा कि अपने शरीर का भोग-वासनामय पापपुरुष बाहर निकला और उसके पीछे पीछे उस तरुण संन्यासी ने भी बाहर आकर उसे मार डाला । एक समय उन्होंने यह देखा कि अपने शरीर में रहने वाले उस तरुण संन्यासी को भिन्न भिन्न देवी-देवताओं के दर्शन करने की और भजन-कीर्तन सुनने की बड़ी लालसा हुई, तब वह दिव्य रूप धारण करके आया और देवों का दर्शन कर तथा भजन सुनकर कुछ समय तक आनन्द करके पुनः अपनी देह में प्रविष्ट हो गया । इस तरह के नाना प्रकार के दर्शनों की बातें हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण के मुँह से सुनी हैं ।

साधनाकाल के लगभग आरम्भ से ही इस तरुण संन्यासी का श्रीरामकृष्ण को बारम्बार दर्शन होने लगा और कोई महत्व का कार्य करने के पूर्व श्रीरामकृष्ण उससे परामर्श कर लेते थे । साधनाकाल के इन अपूर्व दर्शनादिकों की चर्चा करते हुए एक दिन श्रीरामकृष्ण हम लोगों से बोले, "स्वरूप में मेरे ही समान एक तरुण संन्यासी कभी कभी इस (अपनी ओर उँगली दिखाकर) देह से बाहर निकलकर मुझे सभी विषयों का उपदेश देता था । वह जब इस प्रकार बाहर आता था, तब कभी कभी मुझे कुछ थोड़ाबहुत होश रहता था और कभी कभी बाह्यज्ञानशून्य होकर मैं निश्चेष्ट हो जाता था, परन्तु निश्चेष्ट रहते हुए भी मुझे उसकी हलचल स्पष्ट दिखायी देती थी और उसका भाषण भी स्पष्ट सुनायी देता था । उसके इस देह में पुनः प्रविष्ट हो जाने पर मुझे पूर्ण बाह्यज्ञान प्राप्त हो जाता था । उसके मुँह से मैंने जो सुन लिया था, उसी का उपदेश न्यांगटा * और ब्राह्मणी ने आकर पुनः

* श्री तोतापुरीजी को श्रीरामकृष्ण 'न्यांगटा' कहते थे ।

एक बार दिया। जो मैंने एक बार सुन लिया था, उसी को उन्होंने फिर दुबारा मुझे सुनाया। इससे ऐसा मालूम पड़ता है कि वेद-शास्त्रोक्त मर्यादा की रक्षा के लिए ही उनको गुरुस्थान में मान-कर मुझे उनसे पुनः उपदेश लेना पड़ा। अन्यथा यदि सब बातें पहले से ही मालूम होतीं तो पुनः उनको बताने के लिए न्यांगटा आदि के गुरुरूप में आने का कोई विशेष कारण नहीं प्रतीत होता।"

साधनाकाल के इस विभाग के अन्त में श्रीरामकृष्ण जब कामार-पुकुर गये, तब उन्हें और भी एक विचित्र दर्शन प्राप्त हुआ। एक दिन १८५८ में वे पालकी में बैठकर कामारपुकुर से हृदय के गाँव शिऊड़ को जा रहे थे। उस समय का दृश्य अत्यन्त मनोहर था। विस्तृत मैदान के बीच बीच में हरेभरे धान के खेत थे; ऐसा मालूम होता था कि इन सब दृश्यों के ऊपर स्वच्छ नीलाकाश की चद्दर तान दी गयी हो; स्वच्छ हवा मन्द गति से बह रही थी; उस विस्तीर्ण मैदान में रास्ते पर बीच बीच में निर्मल पानी के झरने बह रहे थे; रास्ते के दोनों ओर बड़, पीपल आदि सघन और शीतल छाया वाले वृक्ष प्यासे थके यात्रियों को विश्राम लेने के लिए प्रेमपूर्वक बुला रहे थे। ऐसे परम मनोहर दृश्यों को देखते हुए श्रीरामकृष्ण बड़े आनन्द से जा रहे थे कि उन्हें अपने शरीर से दो छोटे छोटे बालक बाहर निकलते दिखायी पड़े। उन बालकों का रूप अत्यन्त सुन्दर था। बाहर आते ही वे नाना प्रकार के खेल खेलने लगे--कभी छुई-छुऔवल खेलें, तो कभी आसपास के सुन्दर फूल तोड़ें, कभी दौड़ते दौड़ते खूब दूर तक जाकर फिर पालकी की ओर लौटें, बीच में ही हँस पड़े और परस्पर बातें करें--इस तरह बहुत समय तक आनन्द करके वे दोनों बालक श्रीरामकृष्ण

की देह में फिर अन्तर्हित हो गये । इस विचित्र दर्शन के लगभग डेढ़ वर्ष बाद जब विदुषी ब्राह्मणी दक्षिणेश्वर में आयी तब श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से यह वार्ता सुनकर उसे कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ और वह बोलीं, "बाबा ! फिर इसमें अचरज किस बात का है ? तूने देखा सो ठीक ही है । इस समय नित्यानन्द के शरीर में श्रीचैतन्य का आविर्भाव हुआ है--श्रीनित्यानन्द और श्रीचैतन्य इस समय एकत्र अवतार लेकर आये हैं और तुझमें ही रहते हैं !" हृदय कहता था--ऐसा कहकर ब्राह्मणी ने चैतन्य-भागवत का निम्नलिखित श्लोक कहा:--

> अद्वैतेर गला धरि कहेन[1] बार बार ।
> पुनः ये करिब लीला मोर[2] चमत्कार ।
> कीर्तने आनन्दरूप हइबे[3] आमार[4] ।।
> अद्यावधि गौरलीला करेन गौरराय ।
> कोन कोन भाग्यवाने देखिबारे[5] पाय ।।

हमारे श्रीरामकृष्ण के चरणों के आश्रय में रहते समय एक दिन चर्चा निकल पड़ने पर श्रीरामकृष्ण उपरोक्त वृत्तान्त का उल्लेख करते हुए बोले-- "इस प्रकार का दर्शन हुआ यह सत्य है और मेरे मुँह से सुनकर ब्राह्मणी भी इस तरह बोली वह भी सच है, परन्तु इसका यथार्थ मतलब क्या है यह मैं कैसे कहूँ ?"

ईश्वरदर्शन के लिए श्रीरामकृष्ण की ऐसी व्याकुलता को अधिकाधिक बढ़ते देखकर इन्हीं चार वर्षों की अवधि में किसी समय मथुरबाबू को ऐसा मालूम पड़ने लगा कि अखण्ड ब्रह्मचर्य-धारण के कारण ही शायद इनके मस्तिष्क में कोई विकार उत्पन्न हो गया है और ईश्वरदर्शन की व्याकुलता उसी विकार का यह

---

१ कहूँगा, २ मेरा, ३ होओगे, ४ मेरे, ५ देखने को मिलेगा

बाहरी स्वरूप है। उन पर मथुरबाबू असीम भक्ति और प्रेम रखते थे और उनके सुख के लिए वे अपनी समझ के अनुसार सभी कुछ करने के लिए सदा तत्पर रहते थे। इस समय उन्हें ख्याल आया कि शायद इनका ब्रह्मचर्य भंग होने से इनका स्वास्थ्य पूर्ववत् हो जायगा! इसी कारण उन्होंने लक्ष्मीबाई आदि वेश्याओं को पहले दक्षिणेश्वर में लाकर, और बाद में श्रीरामकृष्ण को ही कलकत्ते उनके घर ले जाकर उनके द्वारा श्रीरामकृष्ण के मन को मोहित कराने का प्रयत्न किया। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि "उन वेश्याओं में साक्षात् श्रीजगदम्बा के दर्शन होकर 'माता!' 'माता!' कहते हुए मैं एकदम समाधिमग्न हो गया।" ऐसा कहते हैं कि उनकी अवस्था देखकर तथा समाधि उतरने पर उनके बालक के समान सरल और खुले दिल व्यवहार को देखकर उन वेश्याओं के मन में वात्सल्यभाव उत्पन्न हो गया। तदनन्तर ऐसे पुण्यात्मा पुरुष को मोह में डालने का प्रयत्न करने में हमसे अत्यन्त घोर अपराध हुआ, इस पश्चात्ताप की भावना से उन्होंने श्रीरामकृष्ण को बारम्बार प्रणाम किया और उनसे अपने अपराधों की क्षमा माँगी।

---

१९. विवाह और पुनरागमन
(१८५९-६०)

"मैं जब सोलह नाच नाचूँगा तब कहीं तुम एकाध सीखोगे तो सीखोगे !"

--श्रीरामकृष्ण

जब श्रीरामकृष्ण के पुजारी का कार्य छोड़ने का समाचार कामारपुकुर में उनकी माता और भाई को मिला, तब उनके मन में बड़ी चिन्ता हुई कि अब क्या करना चाहिए। रामकुमार की मृत्यु के बाद दो ही वर्ष बीते थे कि गदाधर को भी वायुरोग हो जाने का हाल सुनकर उनकी वृद्ध माता और बड़े भाई की क्या दशा हुई होगी, इसका अनुमान नहीं किया जा सकता। लोग कहा करते हैं कि "विपत्ति कभी अकेली नहीं आती।" इस उक्ति का अनुभव उन्हें इस समय पूर्ण रीति से प्राप्त हुआ। गदाधर पर चन्द्रामणि की अत्यन्त प्रीति होने के कारण यह समाचार सुनकर उनसे नहीं रहा गया। उन्होंने श्रीरामकृष्ण को दक्षिणेश्वर से अपने गाँव बुला लिया। परन्तु वहाँ आने पर भी श्रीरामकृष्ण का उदासीन और व्याकुल भाव कायम ही रहा। "माता" "माता" का घोष रात दिन एक समान जारी था। भगवद्दर्शन की व्याकुलता से एक छोटे बालक के समान रोना भी जारी ही था। यह सब देखकर इस दशा से सुधारने के लिए माता ने औषधि, मन्त्रतन्त्र, टोना-टटका, शान्ति आदि अनेक प्रकार के उपचार शुरू किये। यह बात सन् १८५८ के आश्विन या कार्तिक मास की होगी।

घर आने पर, श्रीरामकृष्ण का व्यवहार वैसे तो बहुधा पहले के ही समान था। पर बीच बीच में ईश्वरदर्शन की उत्कण्ठा से वे व्याकुल हो उठते थे। उसी तरह कभी कभी गात्रदाह के कारण उन्हें बहुत कष्ट भी होता था। इस प्रकार एक ओर उनके सरल व्यवहार, देवभक्ति, मातृभक्ति, सुहृत्प्रेम आदि सर्व गुणों को पूर्व-वत् देखकर और दूसरी ओर विशेष प्रसंगों में सब विषयों के सम्बन्ध में उनके उदासीन भाव, लज्जा, भय और घृणा का अभाव, ईश्वरदर्शन के लिए उनकी तीव्र व्याकुलता और अपने ध्येय की प्राप्ति के मार्ग से विघ्नों को दूर करने के अपार परिश्रम को देख-कर लोगों के मन में उनके प्रति एक विलक्षण आदरभाव उत्पन्न होता था। लोगों को ऐसा मालूम पड़ता था कि इनके शरीर में किसी देवता का भाव आता है।

श्रीरामकृष्ण की माता बेचारी चन्द्रादेवी अत्यन्त सरल स्वभाव वाली थीं। उनके मन में भी कभी कभी विचार आता था और दूसरों के मुँह से भी बात सुनकर उन्होंने किसी मान्त्रिक को बुलाने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "एक दिन हमारे यहाँ एक मान्त्रिक आये। उन्होंने कुछ जड़ी-बूटी को अभिमन्त्रित करके जलाया और उसकी राख मुझे सूँघने के लिए देकर कहा, 'तू यदि कोई भूत है, तो इस पेड़ को छोड़कर चला जा।' पर वहाँ क्या था! कुछ भी नहीं हुआ! इसके बाद और भी एक दो मान्त्रिक एक रात को आये और पूजा, बलिदान आदि होने के बाद उनमें से एक के अंग में देव आये तब उसने कहा, 'उसको (मुझे) न भूत लगा है, न कोई रोग ही हुआ है।' कुछ समय बाद सब के सामने उसने मुझसे कहा, 'क्यों जी गदाधर! तुमको जब साधु होना है तो फिर तुम इतनी सुपारी क्यों खाते हो? सुपारी से

तो कामविकार बढ़ता है।' सचमुच ही इसके पूर्व मुझे सुपारी खाना बड़ा अच्छा लगता था, परन्तु उस दिन से मैंने सुपारी खाना छोड़ दिया।"

उस समय श्रीरामकृष्ण का तेईसवाँ वर्ष शुरू था। कामारपुकुर आने के बाद कुछ महीनों में उनकी व्याकुलता बहुत कम पड़ गयी। इसका कारण यह था कि यहाँ आने के बाद उन्हें बारम्बार श्रीजगदम्बा के अद्भुत दर्शन हुआ करते थे। उनके सम्बन्धियों से सुनी हुई उस समय की कुछ बातें नीचे दी जाती हैं।

कामारपुकुर के पश्चिम ओर ईशान में दो स्मशान हैं। उनमें से किसी एक में, दिन या रात को, समय मिलने पर श्रीरामकृष्ण अकेले ही जाकर बैठे रहते थे। उनमें कोई विलक्षण शक्ति होने का निश्चय उनके रिश्तेदारों को उसी समय हुआ। उन लोगों से ऐसा सुना है कि श्रीरामकृष्ण स्मशान के सियार, भूत, प्रेत आदि को देने के लिए नये पात्र में फलमूल, मिष्टान्न आदि रखकर स्मशान में अपने साथ ले जाया करते थे। श्रीरामकृष्ण उनसे कहा करते थे कि भूतों को उस पात्र का खाद्य देने पर वह पात्र भुर्र से आकाश में उड़कर अदृश्य हो जाता था और कभी कभी ये भूत-प्रेत भी मुझे प्रत्यक्ष दीख पड़ते थे। कभी कभी रात को १२–१ बज जाते थे, पर श्रीरामकृष्ण का पता नहीं रहता था। तब बेचारे रामेश्वर स्मशान की ओर जाकर दूर से श्रीरामकृष्ण को पुकारते थे। श्रीरामकृष्ण पुकार सुनकर उत्तर देते थे और वहीं से कहते थे, "आया! दादा! आया! तुम वहीं ठहर जाओ; आगे मत बढ़ो; नहीं तो ये भूत तुम्हें कुछ कष्ट देंगे।" इनमें से एक श्मशान में श्रीरामकृष्ण ने बेल की एक कलम लगायी थी। उसी स्मशान में एक पुराने पीपल के वृक्ष के नीचे बैठकर वे बहुतसा समय

जप-ध्यान में बिताते थे। उनके रिश्तेदारों के बतलाये हुए इन सब वृत्तान्तों से ऐसा दिखता है कि उन्हें इस समय कुछ अपूर्व दर्शन और साक्षात्कार हो जाने से श्रीजगदम्बा के दर्शन के लिए उनके अन्तःकरण की तीव्र व्याकुलता बहुत ही कम हो गयी थी। इससे यह अनुमान होता है कि इन दिनों उन्हें श्रीजगदम्बा का दर्शन बारम्बार होता होगा, और प्रत्येक महत्त्व के विषय में उसके (श्रीजगदम्बा के) आदेशानुसार ही कार्य करना उन्होंने इसी समय से आरम्भ किया होगा। श्रीजगदम्बा के बारम्बार दर्शन होते रहने से सम्भवतः इसी समय उन्हें यह भी निश्चय हो गया कि श्रीजगदम्बा का अबाध और पूर्ण दर्शन भी मुझे शीघ्र ही प्राप्त होगा। पर यह कौन कह सकता है ? अस्तु--

श्रीरामकृष्ण के व्यवहार और बोलचाल को देखकर उनके घर के लोगों को ऐसा मालूम पड़ने लगा कि उन्हें जो अकस्मात् वायुरोग हो गया था वह अब बहुत कम पड़ गया है; क्योंकि वे अब पहले के समान व्याकुल होकर रोते हुए नहीं दिखते थे। उनका खान-पान नियमित और समय पर होता था, तथा उनके अन्य व्यवहार भी दूसरे मनुष्यों के समान ही होते थे। उन्हें यही बड़े आश्चर्य की बात मालूम पड़ती थी कि वे स्मशान में जाकर बहुत समय तक बैठते हैं; कभी कभी अपने शरीर पर का कपड़ा खोलकर फेंक देते हैं और निर्लज्जता से ध्यान, पूजा आदि करने लगते हैं; अपनी इच्छानुसार पूजा, ध्यान-जप आदि करने में किसी के कष्ट देने से वे बड़े सन्तप्त हो उठते हैं और किसी का कुछ न सुनकर सदा सर्वकाल देव, ध्यान, पूजा, जप इन्हीं में मग्न रहते हैं। परन्तु उन्हें ऐसा लगता था कि इसमें कोई विशेष शोचनीय बात नहीं है--उनका यह स्वभाव तो बालपन से ही

है । उन लोगों को यदि कोई सच्ची चिन्ता थी तो वह थी उनकी सांसारिक विषयों के प्रति पूर्ण उदासीनता की । उन्हें मालूम होता था कि जब तक इनका ध्यान संसार में नहीं लगता और इनकी उदासीनता कम नहीं होती, तब तक इनके वायुरोग के पुन: उलटने की सम्भावना है । इसी कारण उनका ध्यान संसार की ओर किसी प्रकार खींचने की चिन्ता में इनकी स्नेहमयी माता और ज्येष्ठ भाई रहा करते थे । अन्त में सब दृष्टि से विचार कर लेने के बाद दोनों ने यही निश्चय किया कि "अब गदाधर का विवाह कर देना चाहिए; क्योंकि इसके अतिरिक्त दूसरा उपाय नहीं है । सुशील और रूपवती पत्नी पा जाने पर उसके प्रति प्रेम उत्पन्न होकर, इसका मन इस प्रकार इतस्तत: नहीं भटकेगा ! यद्यपि इसकी आयु २३–२४ वर्ष की हो गयी है, तो भी यह प्रत्येक बात में छोटे बालक के समान अपने भाई और माता के मुँह की ओर ताकता रहता है और अपनी सांसारिक स्थिति को सुधारने के उपाय ढूँढ़ने के विचार भी इसके मन में नहीं आते । इसका विवाह किये बिना और इसके सिर पर स्त्री-पुत्रादिकों का पालन-पोषण का भार पड़े बिना, इसके ये विचार जायँ भी कैसे ?"

अत: उन दोनों ने यह विचार निश्चित करके कन्या ढूँढ़ना शुरू किया । गदाधर को यह विदित हो जाने पर सम्भवत: वह उसमें कोई बाधा डालेगा, इसलिए ये सब बातें उन्होंने बिना किसी को बतलाये ही कीं; तो भी तीक्ष्णबुद्धि श्रीरामकृष्ण के ध्यान में यह बात आये बिना नहीं रही । तत्पश्चात् यद्यपि विवाह की पक्की बात उनके कानों में पड़ी, तो भी उन्होंने उस सम्बन्ध में अपनी अनिच्छा बिलकुल नहीं प्रकट की, वरन् घर में कोई

कार्य होने पर छोटे छोटे बालक जैसे आनन्द-चैन मनाते हैं उसी प्रकार का आचरण श्रीरामकृष्ण भी करने लगे। श्रीजगदम्बा के कान में यह बात डालकर और इस विषय में अपने कर्तव्य को जानकर वे ऐसा आचरण करते हों; अथवा बालकों को जैसी अपनी जिम्मेदारी की कल्पना न रहने से भावी बातों के सम्बन्ध में वे जैसे निश्चिन्त रहा करते हैं, वही दशा श्रीरामकृष्ण की रही हो; या कि विवाह के सम्बन्ध में पूर्णतः निश्चिन्त रहने में उनका कोई भिन्न उद्देश्य रहा हो; जो कुछ भी हो, श्रीरामकृष्ण के जीवन में उनका यह विवाह एक अत्यन्त महत्त्व की घटना होने के कारण इसका सांगोपांग विवरण यहाँ दिया जाता है।

श्रीरामकृष्ण के चरित्र का विचार करते हुए मन में सहज ही प्रश्न उठता है कि श्रीरामकृष्ण ने विवाह ही क्यों किया? स्त्री-सहवास की निरी कल्पना भी जिनके मन में कभी नहीं आयी, उन्होंने विवाह किसलिए किया? यह सचमुच एक गूढ़ विषय है। शायद कोई कहे कि "युवावस्था प्राप्त होने पर वे सदा 'भगवान' 'भगवान' रटने लगे और पागल के समान आचरण करने लगे इसलिए उनके घर के लोगों ने, उनकी कुछ न सुनते हुए, उनकी इच्छा के विरुद्ध जानबूझकर उनका विवाह कर दिया।" पर यह बात सम्भव नहीं दिखायी देती। बचपन से ही उनकी इच्छा के विरुद्ध उनसे एक छोटी सी भी बात कोई कभी नहीं करा सका, बल्कि उनके मन में कोई बात आ जाने पर उसे किये बिना वे कभी नहीं रहते थे। छुटपन की ही एक बात को लीजिये। धनी लुहारिन से उन्होंने कह दिया था कि "तुझे भिक्षा-माता बनाऊँगा" और किसी के कहने की परवाह न करते हुए उन्होंने अपना कहना सिद्ध कर दिखाया, और वह भी किस स्थान

में ? कलकत्ता जैसे धर्मबन्धन-शिथिल शहर में नहीं वरन् कामारपुकुर जैसे पुराणमताभिमानी और धर्मकर्मपरायण ग्राम में ! ऐसे स्थान में यदि कोई मनुष्य यह कहे कि "मैं जैसा चाहूँ वैसा कर लूँगा" तो समाज उसे चलने नहीं देगा। भला, घर के लोग भी कम स्वधर्मनिष्ठ हों सो भी नहीं। कुल की रूढ़ि को लीजिये तो उसके अनुसार भिक्षामाता होने वाली स्त्री ब्राह्मणी ही आवश्यक थी। इन सब बातों के प्रतिकूल रहते हुए भी सब की इच्छा के विरुद्ध उन्होंने उस अल्प अवस्था में भी अपना कहना सत्य कर दिखाया। "दाल रोटी कमाने की विद्या मैं नहीं सीखता" यह निश्चय कर लेने पर उन्होंने किसी की भी नहीं सुनी। वैसे ही उनके मन में जब तक नहीं जँचा तब तक पुजारीपद स्वीकार करने के लिए मथुरानाथ के सभी प्रयत्न व्यर्थ हुए ! और भी इसी तरह की अन्य बातों से स्पष्ट दिखता है कि उन्होंने अपनी इच्छा के अनुसार दूसरों की इच्छा को परिवर्तित कर लिया। तब विवाह जैसे जीवन के महत्वपूर्ण विषय में उन्होंने दूसरों की इच्छा के अनुसार आचरण किया, यह कहना कहाँ तक ठीक होगा ?

इसी प्रकार कदाचित् कोई यह कहे कि "ईश्वरप्रेम के कारण बचपन से ही उनके मन में सर्वस्वत्याग का भाव मानने की क्या आवश्यकता है ? इस बात को न मानकर केवल इतना ही कहना बस होगा कि अन्य लोगों के समान विवाह आदि करके संसार-सुखोपभोग की भावना पहले श्रीरामकृष्ण के मन में थी; परन्तु युवावस्था प्राप्त होने पर थोड़े ही दिनों में उनके विचारों में एक विचित्र क्रान्ति उत्पन्न हुई और ईश्वरप्रेम की इतनी प्रबल तरंग उनके अन्तःकरण में उमड़ पड़ी कि उनके सभी पूर्व विचारों में परिवर्तन हो गया। इसके उत्तर में यदि यह कहा जाय कि इस

परिवर्तन के पूर्व ही श्रीरामकृष्ण का विवाह हो चुका था तो सब विवाद मिट जाता है।" पर यथार्थ में ऐसी बात भी नहीं थी। ईश्वरप्रेम के कारण सर्वस्वत्याग का भाव उनके मन में बचपन से ही था या नहीं यह उनके बाल्यजीवन की ओर दृष्टि डालने से स्पष्ट दिख जायेगा। फिर उनका विवाह तेईसवें या चौबीसवें वर्ष में हुआ था। उसके पहले तीन चार वर्ष से उनके अन्तःकरण में ईश्वरप्रेम के लिए घोर खलबली मची हुई थी। इसके सिवाय जिन्होंने अपने लिए किसी को कभी थोड़ा सा भी कष्ट नहीं होने दिया, क्या यह जानते हुए कि अपने कारण एक गरीब बालिका को जन्म भर दुःख भोगना पड़ेगा, उन्होंने अपना विवाह कर लिया होगा? यह बात तो बिलकुल असम्भव दिखायी देती है। साथ ही साथ श्रीरामकृष्ण के जीवन में कोई भी घटना निरर्थक नहीं हुई और यह बात उनके चरित्र पर अधिकाधिक विचार करने से स्पष्ट दिखायी देती है। अन्तिम बात यह भी है कि उन्होंने निश्चित रूप से अपनी ही इच्छा से विवाह किया; क्योंकि कन्या देखने की बातचीत शुरू होते ही उन्होंने हृदय और घर के अन्य लोगों से कह दिया था कि "जयरामवाटी में रहनेवाले रामचन्द्र मुखोपाध्याय की कन्या से मेरा विवाह होगा और यह कभी का निश्चित है।" इसे पढ़कर पाठकों को आश्चर्य होगा और कदाचित् उन्हें इस पर विश्वास भी न हो। वे कहेंगे—"ऐसी बातें बीसवीं सदी में नहीं चल सकतीं; ऐसी भविष्यवाणी पर कौन विश्वास करेगा?" इस पर हम यही कहते हैं कि "उपरोक्त बात पर आप विश्वास करें या न करें, परन्तु श्रीरामकृष्ण ने तो वैसा कहा था इसमें कोई संशय नहीं है और इस बात की सत्यता को प्रमाणित करनेवाले मनुष्य सौभाग्य से

आज* भी जीवित हैं। उनसे ही स्वयं पूछ लीजिये और आपको निश्चय हो जायेगा।"

कन्या देखते देखते बहुत दिन बीत गये, पर उनके घर के लोगों को एक भी कन्या पसन्द नहीं आयी। तब श्रीरामकृष्ण ने स्वयं उन लोगों से कहा कि "अमुक गाँव में अमुक लड़की मेरे लिए अलग रख दी गयी है, उसे जाकर देख लो।" इससे यह स्पष्ट विदित है कि श्रीरामकृष्ण को मालूम था कि उनका विवाह होने वाला है और वह अमुक लड़की से ही होगा। यह भी प्रकट है कि उन्होंने विवाह के सम्बन्ध में कोई आपत्ति नहीं की। सम्भवतः ये बातें उन्हें भावसमाधि में ही मालूम हो गयी होंगी। तब फिर श्रीरामकृष्ण के विवाह का अर्थ क्या है?

कोई शास्त्रज्ञ पाठक शायद यह कहें कि "शास्त्रों का कहना है कि ईश्वरदर्शन या पूर्ण ज्ञान हो जाने पर जीव के संचित और भावी कर्मों का नाश हो जाता है, परन्तु ज्ञान प्राप्त होने पर भी प्रारब्ध कर्म का भोग तो उसे इस शरीर में भोगना ही पड़ता है:—

प्रारब्धं बलवत्तरं खलु विदां भोगेन तस्य क्षयः।
सम्यग्ज्ञानहुताशनेन विलयः प्राक्संचितागामिनाम्॥

कल्पना कीजिये कि किसी पारधी की पीठ पर तर्कश है जिसमें बहुत से बाण हैं। एक पक्षी को मारने के लिए उसने एक बाण अभी ही छोड़ा है और दूसरा बाण हाथ में लिया है। एकाएक उसके मन में वैराग्य का उदय होता है और वह हिंसा न करने का निश्चय करता है। तुरन्त ही वह अपने हाथ का बाण नीचे डाल देता है तथा पीठ पर से तर्कश भी निकालकर फेंक देता है, पर उसने जो बाण अभी छोड़ा है उसका क्या करेगा? उसे तो

*सन् १९१४–१५ में।

वह फेर नहीं सकता। उसी तरह पीठ पर का तर्कश अर्थात् जीव के जन्म-जन्मान्तर का संचित कर्म, और हाथ का बाण अर्थात् भावी कर्म (वह कर्म जो अब होने वाला है)—इन दोनों कर्मों का ज्ञान से नाश हो जायगा, परन्तु उसके हाथ से अभी ही छोड़े हुए बाण के समान अपने प्रारब्ध कर्मों का फल तो उसे भोगना ही पड़ेगा। श्रीरामकृष्ण जैसे महापुरुष केवल अपने प्रारब्ध कर्मों को ही शरीर में भोगते हैं। इस भोग से वे छूट नहीं सकते।"

इस पर हमारा उत्तर इतना ही है कि "शास्त्रों से दिखता है कि यथार्थ ज्ञानी पुरुषों को अपने प्रारब्ध कर्मों का भी फल नहीं भोगना पड़ता क्योंकि असल में सुख-दु:ख का भोग करने वाला कौन है? वह मन ही तो है। जब उस मन को उन्होंने सदा के लिए ईश्वर को समर्पित कर दिया है तब फिर सुख-दु:खों के लिए स्थान ही कहाँ रहा?" इस पर कोई यह कहेगा कि प्रारब्ध कर्म का भोग तो उनके शरीर के द्वारा ही होता है। पर यह भी कैसे होगा? क्योंकि उनका ध्यान तो शरीर की ओर रहता ही नहीं। उनके अहंकार का ही जब समूल नाश हो जाता है और देह का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है तब उनके शरीर से प्रारब्ध कर्म का भोग होने का कोई अर्थ ही नहीं रहता। एक बात और भी है। श्रीरामकृष्णदेव के स्वयं के अनुभवों पर यदि विश्वास करना है, तो यह नहीं कह सकते कि वे केवल 'ज्ञानी पुरुष' थे। उनकी श्रेणि इससे भी ऊँची माननी पड़ेगी; क्योंकि उनके मुँह से हमने बारम्बार सुना है कि "जो राम हुआ था और कृष्ण हुआ था वही अब रामकृष्ण हुआ है" अर्थात् पूर्वकाल में जिन्होंने श्रीरामचन्द्र और श्रीकृष्ण का अवतार लिया था वही इस समय श्रीरामकृष्ण के शरीर में रहते हुए अपूर्व लीला कर रहे हैं! यदि उनके इस

उद्गार पर विश्वास है, तो उन्हें नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव ईश्वरावतार ही कहना होगा और ऐसा मानने के बाद यह कहना ठीक नहीं कि उन्हें भी प्रारब्ध कर्मों का फल भोगना पड़ा था। अतः श्रीरामकृष्ण के विवाह की मीमांसा अन्य रीति से करनी पड़ेगी।

हम लोगों के पास विवाह की बात निकालकर श्रीरामकृष्ण कभी कभी बड़ा मधुर विनोद किया करते थे। एक दिन दोपहर के समय दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण भोजन करने के लिए बैठे थे। पास ही श्री बलराम बसु और अन्य भक्तगण बैठे थे। उनसे वे अनेक प्रकार की बातें कर रहे थे। श्रीरामकृष्ण के भतीजे रामलाल के विवाह के लिए उसी दिन माता जी (श्रीरामकृष्ण की पत्नी) कामारपुकुर गयी थीं।

श्रीरामकृष्ण (बलराम से)--भला, बताओ तो सही, मेरा विवाह क्यों हुआ ? मेरा विवाह हो तो गया, पर उसका क्या उपयोग है ? यहाँ तो कमर की धोती का ध्यान भी नहीं रहता। जब यह अवस्था है तब स्त्री क्यों चाहिए ?" यह सुनकर बलराम थोड़ा हँसे और फिर चुप बैठे रहे।

श्रीरामकृष्ण--"हाँ। अब आया ध्यान में। (पत्तल में से थोड़ी सी चटनी उठाकर बलराम को दिखाते हुए) यह देख--इसके लिए विवाह हुआ। यदि विवाह न होता तो फिर ऐसी चीजें कौन बनाकर देता ? (बलराम और अन्य लोग हँसते हैं!) हाँ! सच कहता हूँ। दूसरा कौन खाने पीने के लिए इस प्रकार की व्यवस्था करता ? वह तो आज चली गयी! (कौन चली गयी, यह लोगों के ध्यान में नहीं आया यह देखकर) अरे! वह रामलाल की काकी! रामलाल का तो विवाह है न अब; इसलिए वह

कामारपुकुर को चली गयी ! मैं तो खड़ा होकर देख रहा था, पर मन में कुछ भी न आया । बिलकुल सच कहता हूँ । मन में इतना ही आया कि कोई एक चला जा रहा है; पर बाद में ऐसा लगने लगा कि कौन अब खाने के लिए देगा ? ऐसा क्यों मालूम पड़ा बताऊँ ? प्रत्येक वस्तु पेट में सहन नहीं होती, और खाने की सुधि भी सदा रहती हो सो भी नहीं है । क्या सहता है; क्या नहीं सहता, यह सब उसे मालूम है । वही स्वयं कुछ न कुछ बनाकर देती रहती है, इसीलिए मुझे ऐसा लगा कि अब खाने के लिए कौन बनाकर देगा ?"

और भी एक बार दक्षिणेश्वर में विवाह की बात निकलने पर श्रीरामकृष्ण बोले, "विवाह क्यों करते हैं जानते हो ? ब्राह्मण-शरीर के लिए कुल दस प्रकार के संस्कार हैं । विवाह भी उन्हीं में से एक संस्कार है । ये दसों संस्कार होने पर ही वह 'आचार्य' बन सकता है ।" वे यह भी कहते थे, "जो परमहंस होते हैं, पूर्ण ज्ञानी होते हैं, वे बिलकुल झाड़ूवाले से लेकर सार्वभौम बादशाह तक की सभी अवस्थाओं को देखे हुए होते हैं और सभी का उपभोग करके आये हुए रहते हैं । यदि ऐसा न हो तो ठीक ठीक वैराग्य कैसे हो सकेगा ? जिसका अनुभव नहीं किया है और जिसका उपभोग नहीं किया है, उसे देखने और उसके उपभोग करने की इच्छा मन को हो सकती है और मन उसके लिए चंचल भी हो उठता है––समझे ? जब चौसर की गोटी पक जाती है तभी वह अपने आदिस्थान को लौट सकती है, अन्यथा नहीं । उसी प्रकार इसे भी जानो ।"

यद्यपि उन्होंने साधारण गुरु और आचार्य के लिए विवाह के सम्बन्ध में उपरोक्त कारण बताये तथापि स्वयं उनके विवाह का

कोई अन्य विशेष कारण हमें मालूम होता है। विवाह भोग के लिए नहीं है, इस बात का स्मरण शास्त्र हमें पद पद पर दिया करते हैं। शास्त्रों का वाक्य है कि ईश्वर के सृष्टिरक्षणरूप नियम के पालन करने और गुणी पुत्र उत्पन्न करके समाज का कल्याण करने के उद्देश्य से ही विवाह करना उचित है; परन्तु यह असम्भव बात शास्त्रों में नहीं बतायी गयी है कि इसमें स्वार्थ की भावना किंचिदपि न रहे। दुर्बल मनुष्यों के चरित्र का पूर्ण अवलोकन करके शास्त्रकार ऋषिवरों ने जान लिया था कि दुर्बल मानव को इस संसार में स्वार्थ के सिवाय और कोई बात समझ में नहीं आती। नफा और नुकसान का विचार किये बिना वह बिलकुल साधारण कार्य में भी हाथ नहीं लगाता। यह बात जानते-समझते हुए भी शास्त्रकारों ने उपरोक्त आज्ञा दी इसका कारण यही है कि "इस स्वार्थबुद्धि को किसी उच्च उद्देश्य के साथ सदा जकड़े रखना ही ठीक है; नहीं तो, बारम्बार जन्म-मृत्यु के बन्धन में फँसकर मनुष्य को अनन्त दुःख भोगना पड़ेगा" यह बात भी उन्हें विदित थी। स्वयं अपने नित्यमुक्त स्वरूप को भूल जाने के कारण ही इन्द्रियों द्वारा बाह्य जगत् के रूप, रस आदि विषयों का उपभोग करने के लिए मनुष्य सदा लालायित रहता है और मन में कहता है, "ये सब विषयसुख कितने मधुर और मनोरम हैं!" परन्तु संसार के सभी सुख-दुःखों के साथ जकड़े हुए हैं; यदि सुखों का उपभोग करना चाहो तो दुःखों का भी उपभोग करना ही पड़ता है, यह बात कितने मनुष्यों के ध्यान में आती है? स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे, "दुःखों का मुकुट सिर पर धारण करके सुख मनुष्य के पास आकर खड़ा होता है।" मनुष्य को तो केवल शुद्ध सुख चाहिए पर वह मिले कैसे?

उसके सिर पर तो दु:ख का मुकुट है और यदि आपने सुख का उपभोग किया कि परिणाम में दु:ख का भी उपभोग करना पड़ेगा। पर यह विचार ही मनुष्य के मन में नहीं आता है। इसी कारण इस बात का मनुष्य को स्मरण दिलाते हुए शास्त्र कहता है, "भाइयो, तुम क्यों समझते हो कि केवल सुख के लाभ में ही हमारा स्वार्थ है ? सुख और दु:ख इन में से कोई एक भी लेने जाओगे तो उसके साथ तुम्हें दूसरे को भी लेना पड़ेगा। अत: तुम अपने स्वार्थ की तार कुछ ऊँचे सुर पर चढ़ा दो और सोचो कि सुख भी मेरा गुरु है और दु:ख भी मेरा गुरु ही है। जिसके द्वारा इन दोनों चंगुल से मेरा छुटकारा हो वही मेरा सच्चा स्वार्थ है और वही मेरे जीवन का ध्येय है।" इससे स्पष्ट है कि विवाहित अवस्था में सब प्रकार के भोगों का विचारपूर्वक सेवन करते हुए सुखदु:खपूर्ण भिन्न भिन्न अवस्थाओं का अनुभव प्राप्त करके क्षणभंगुर संसार के अनेक रमणीय सुखों के प्रति मनुष्य के मन में तिरस्कार उत्पन्न हो, और उसका मन परमेश्वर के चरणों में लगे, और ईश्वर को ही अपना सर्वस्व जानकर उसी के दर्शन के लिए व्याकुलता उत्पन्न हो,––यही उपदेश शास्त्रकार देते हैं। यह बात नि:सन्देह है कि किसी भी विषयसुख का विचारपूर्वक उपभोग करने से अन्त में मन उसका त्याग ही करेगा। इसी कारण श्रीरामकृष्ण कहते थे, "बाबा ! सत् और असत् का विचार करो; निरन्तर विचार करना चाहिए और मन से कहना चाहिए 'अरे मन ! तू सदा––मैं अमुक वस्त्र पहनूंगा, अमुक वस्तु खाऊँगा, अमुक चैन करूँगा––इसी प्रकार के मनोराज्य में निमग्न रहता है। परन्तु जिन पंच महाभूतों से दाल चावल आदि चीजें बनती हैं, उन्हीं पंच महाभूतों से लड्डू

जलेबी आदि पदार्थ भी बनते हैं। जिन पंचभूतों से अस्थि, मांस, रक्त, मज्जा आदि बनकर किसी स्त्री का सुन्दर शरीर बनता है, उन्हीं से पुरुष, पशु, पक्षी आदि के शरीर भी बने होते हैं। यदि ऐसा ही है तो फिर--'मुझे यह चाहिए और वह चाहिए' की तुम्हारी व्यर्थ की व्याकुलता क्यों निरन्तर जारी रहती है? स्मरण रहे कि इसके द्वारा सच्चिदानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती।' इतने से यदि मन में निश्चय न हो तो एक दो बार उन वस्तुओं का विचारपूर्वक उपभोग करके उनका त्याग कर देना चाहिए। मान लो जलेबी खाने की बड़ी उत्कट इच्छा तुम्हारे मन में उत्पन्न हुई और अनेक प्रयत्न करने पर भी जलेबी की इच्छा मन से दूर नहीं होती, और हजारों तरह से तर्क करने पर भी मन नहीं मानता। तब तो कुछ थोड़ी सी जलेबी ले आना चाहिए और उसके छोटे छोटे टुकड़े करके खाते-खाते मन से कहना चाहिए, 'अरे मन! इसी को जलेबी कहते हैं भला! दाल चावल के ही समान यह जलेबी भी पंचभूतों से ही बनी है; इसे खाने से भी इसका रक्त, मांस, मल, मूत्र ही बनता है। भला यह जब तक जीभ पर है तभी तक तो इसकी मिठास है; और जहाँ एक बार यह गले के नीचे उतर गयी, बस उसका स्वाद भी ध्यान में नहीं रहता, और यदि कुछ अधिक खा ली तो इससे रोग उत्पन्न हो जाता है; फिर ऐसी वस्तु के लिए अरे मन! तू क्यों लार टपकाता है? छिः! छिः!! खायी उतनी खा ली; अब बस कर! अब इसकी और इच्छा मत कर, (संन्यासी भक्त मण्डली की ओर देखकर) साधारण छोटे मोटे विषयों का इस प्रकार विचारपूर्वक उपभोग करके त्याग करने से बन सकता है, परन्तु ध्यान रखना कि बड़े बड़े विषयों के सम्बन्ध में ऐसा करना ठीक नहीं है। उन

बड़े विषयों का उपभोग करने से बन्धन में पड़ने का बड़ा डर रहता है। अतः बड़ी बड़ी वासनाओं के सम्बन्ध में उनके दोषों को ही ढूँढ़ना चाहिए और उन दोषों का ही सतत विचार करके उनका त्याग करना चाहिए।'

शास्त्रों में विवाह का इतना उच्च उद्देश्य बताये जाने पर भी कितने लोग इस उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं? आज-कल विवाहित जीवन में कितने लोग यथासाध्य ब्रह्मचर्य पालन करते हुए अपना स्वयं का तथा समाज का कल्याण करते हैं? कितनी स्त्रियाँ आजकल अपने पति के पीछे खड़ी होकर उनके लोक-हित के उच्च-व्रत-पालन के लिए——ईश्वरप्राप्ति की बात तो अलग रही—— उनको उत्साहित करती हैं? अथवा कितने पुरुष आज-कल त्याग को जीवन का ध्येय मानकर अपनी स्त्री को त्याग का उपदेश देते हैं? हाय रे भारतवर्ष! भोग को ही सर्वस्व मानने-वाले पाश्चात्यों के जड़वाद ने धीरे धीरे तेरे अस्थिमांस में घुस-कर तेरी कैसी पशुवत् करुणाजनक स्थिति बना दी है, इसका एक बार विचार तो कर। क्या व्यर्थ ही श्रीरामकृष्णदेव अपने संन्यासी भक्तों को आजकल के विवाहित जीवन में दोष दिखा-कर कहा करते थे——"भोग को ही सर्वस्व या जीवन का ध्येय समझना ही वास्तव में दोष है, तब क्या सम्भव है कि विवाह के समय वधू और वर के सिरों पर अक्षत और फूल बरसा देने से ही सब दोष दूर हो जायँ और सर्व मंगल हो जाय?" सच पूछिये तो विवाहित जीवन में आज के समान प्रबल इन्द्रियपरता भारतवर्ष में पहले कभी नहीं रही होगी। आज हमें तो स्मरण भी नहीं होता कि इन्द्रियतृप्ति के सिवाय विवाह का कोई और भी 'महान्, पवित्र, अत्यन्त उच्च' हेतु है। इसी कारण दिनोंदिन

हम पशुओं से भी अधम होते चले जा रहे हैं। पर सचमुच महान्, पवित्र, अत्यन्त उच्च हेतु का हमें स्मरण कराने के लिए और हमारी पशुवृत्ति को दूर करने के लिए ही भगवान श्रीरामकृष्णदेव का विवाह हुआ था। उनके जीवन के अन्य सभी कार्यों के समान उनका यह विवाहकार्य भी लोककल्याण के लिए ही था।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "इस शरीर के द्वारा जो जो कार्य होते हैं वे सब तुम्हारे लिए किये जाते हैं। मैं जब सोलह प्रकार के कार्य करूँगा तब कहीं तुम लोग उनमें से एकआध करोगे तो करोगे, और मैं ही यदि खड़ा होकर मूत्र विसर्जन करने लगूँ, तो तुम लोग चक्कर लगाते हुए विसर्जन करोगे!" इसीलिए विवाहित जीवन का अति उच्च आदर्श लोगों के सामने स्थापित करने के लिए श्रीरामकृष्ण का विवाह हुआ था। यदि मैंने स्वयं अपना विवाह न किया होता तो विवाहित लोग कहते, "स्वयं विवाह नहीं किया, इसलिए ब्रह्मचर्य की बातें कर रहे हैं! पत्नी और आप कभी एक साथ नहीं रहे, इसलिए ब्रह्मचर्य की ऐसी लम्बी लम्बी गप्पें हाँक रहे हैं!"—इत्यादि कहने के लिए किसी को अवसर न मिले इसी उद्देश्य से उन्होंने केवल विवाह ही नहीं किया वरन् श्रीजगदम्बा माता का पूर्ण दर्शन प्राप्त कर लेने के बाद जब दिव्योन्माद की अवस्था उनके हृदय में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गयी, तब उन्होंने अपनी पूर्ण यौवनावस्थाप्राप्त पत्नी को दक्षिणेश्वर में लाकर रखा। उसमें भी जगदम्बा का आविर्भाव प्रत्यक्ष देखकर उसे श्रीजगन्माता जानते हुए उन्होंने उसकी पूजा की; आठ महीनों तक उसके साथ एकत्र वास किया; इतना ही नहीं, उसके साथ एक शय्या पर शयन तक किया। उसे अच्छा लगने और

आनन्द मालूम होने के हेतु से वे उसके बाद कई साल कभी कभी कामारपुकुर में और कभी जयरामवाटी में (उसके पिता के घर) स्वयं जाकर एक दो महीने बिताते भी थे। दक्षिणेश्वर में जब श्रीरामकृष्ण अपनी स्त्री के साथ एकत्र रहते थे उस समय का स्मरण करते हुए माताजी अपने स्त्री-भक्तों से कहा करती थीं––"उन दिनों वे ऐसी किसी दिव्य भावावस्था में निरन्तर मग्न रहा करते थे कि उसे शब्दों द्वारा नहीं समझा सकते। भावावस्था की पूर्णता में वे कितनी ही बातें बताते थे, कितने ही उपदेश दिया करते थे। कभी वे हँसते थे तो कभी रोते थे, और कभी समाधि में मग्न हो जाते थे। इस तरह सारी रात बिताते थे। उस भावावस्था का आवेश इतना अद्‌भुत होता था कि उसे देखकर मेरे सब अंग काँपने लगते थे, और मुझे ऐसा मालूम होता था कि रात किसी तरह व्यतीत हो जाय और दिन निकल आये। भावसमाधि किसे कहते हैं, यह उस समय मैं कुछ भी नहीं जानती थी। एक दिन उनकी समाधि बहुत समय तक भंग नहीं हुई। यह देखकर मैं भय से रोने लगी और मैंने हृदय को पुकारा। हृदय जल्दी ही आया और उनके कानों में बहुत देर तक श्रीजगदम्बा के नाम का उच्चारण करता रहा, तब कहीं धीरे-धीरे उनकी समाधि उतरी। जब उन्हें यह मालूम हुआ कि मुझको इस प्रकार से कष्ट होता है तो भविष्य में ऐसे कष्ट से बचने के हेतु उन्होंने स्वयं मुझे यह सिखा दिया कि इस प्रकार का भाव दिखने पर इस नाम का उच्चारण कानों में कर देना, तथा जब यह दूसरा भाव दिखे, तब अमुक बीजमन्त्र का कानों में उच्चारण करना। उसके बाद मुझे फिर उतना डर नहीं लगता था, क्योंकि इन उपायों से वे शीघ्र होश में आ जाते थे। उसके बाद इसी प्रकार कई दिन बीत गये तो भी कब किस

प्रकार की भावसमाधि लग जायेगी, इसी चिन्ता में मैं सारी रात जागकर बिताती थी और मुझे नींद बिलकुल ही नहीं आती थी। यह हाल उनके कानों में पड़ने पर उन्होंने मुझे दूसरी जगह—नौबतखाने में सोने के लिए कह दिया।" परमपूज्य माताजी कहा करती थीं—"समई में बत्ती किस तरह रखना, कौनसी वस्तु कहाँ और कैसे रखना, अपने घर में कौन मनुष्य कैसा है, किसके साथ कैसा बर्ताव करना, दूसरे के घर जाने पर वहाँ के लोगों से किस प्रकार व्यवहार करना आदि तरह तरह की सामान्य सांसारिक बातों से लेकर भजन, कीर्तन, ध्यान, समाधि और ब्रह्मज्ञान जैसे उच्च विषयों तक की सब प्रकार की बातें मुझे समझा-समझाकर बताते थे।" विवाहित पुरुषो! तुममें से कितने लोग अपनी धर्मपत्नी को इस प्रकार से उपदेश देते होंगे? मान लो किसी कारण से तुच्छ शरीर-सम्बन्ध बन्द होने का अवसर आ जाये तब तुममें से कितने लोगों का अपनी पत्नी पर आजीवन निःस्वार्थ प्रेम स्थिर रह सकेगा? इसलिए हम कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण ने विवाह करके पत्नी से एक दिन भी शरीर-सम्बन्ध न रखते हुए भी जो अद्भुत और अदृष्टपूर्व प्रेमपूर्ण आचरण का दर्शन सामने रखा, वह केवल तुम्हारे ही लिए है। इन्द्रियपरता के सिवाय विवाह का एक दूसरा भी उच्च उद्देश्य है जिसे तुम्हीं लोगों को सिखाने के लिए उन्होंने विवाह किया था। उन्होंने इसी उद्देश्य को लेकर विवाह किया कि तुम लोग उस उच्च ध्येय की ओर दृष्टि स्थिर रखकर अपने विवाहित जीवन में यथासाध्य ब्रह्मचर्य पालन कर स्वयं धन्य होओ, तथा बुद्धिमान्, तेजस्वी और गुणवान् सन्तान को जन्म देकर भारतवर्ष के आधुनिक हतवीर्य, निस्तेज और बलहीन समाज को वीर्यवान्, तेजस्वी और बलवान् बनाओ। जिस

कार्य को कर दिखाने की आवश्यकता श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण, श्रीबुद्ध, श्रीशंकर, श्रीचैतन्य आदि पूर्वावतारों को नहीं हुई थी, वही कार्य अब आवश्यक होने पर उसे कर दिखाना इस आधुनिक युग के अवतार श्रीरामकृष्णदेव के लिए आवश्यक हो गया।

जीवन भर कठोर तपस्या और साधनाओं के बल पर विवाहित जीवन का अद्भुत और अदृष्टपूर्व साँचा या नमूना संसार में यह प्रथम ही सामने आया है। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे—"साँचा तैयार हो गया है, तुम अपने अपने जीवन को इसी आदर्श साँचे में ढालो और उसे नये आकार का बना डालो।"

इस पर कोई शायद कहे कि यह बात सभी के लिए सम्भव नहीं है। पर ऐसा तो नहीं है कि इसे श्रीरामकृष्ण समझते नहीं थे। उन्हें यह विदित था कि मैं स्वयं जब सोलह आने प्रत्यक्ष आचरण करके दिखाऊँगा तब कहीं लोग एकाध आना आचरण करने का प्रयत्न करेंगे; इसीलिए यद्यपि स्त्री के साथ रहकर अखण्ड ब्रह्मचर्य पालन करना सभी के लिए साध्य नहीं है, तथापि यह आदर्श सब के सामने रहने से लोग कम से कम उस दिशा में प्रयत्न तो करेंगे। यही सोचकर उन्होंने इस असिधाराव्रत का प्रत्यक्ष आचरण करके दिखला दिया है।

और भी एक बात का विचार करना यहाँ आवश्यक है। रूप-रसादि विषयों के दास, बहिर्मुख व्यक्ति अभी भी शायद कहेंगे, "क्यों जी, जब श्रीरामकृष्ण ने विवाह कर लिया तब एक दो पुत्र हो जाने के बाद ही उन्हें पत्नी से शरीर-सम्बन्ध तोड़ना था। यदि वे ऐसा करते तो उन्होंने यह भी दिखा दिया होता कि ईश्वर की सृष्टि की रक्षा करना ही मनुष्यमात्र का कर्तव्य है। साथ ही वे यह भी दिखा देते कि शास्त्र की मर्यादा का भी पालन हुआ;

क्योंकि यह शास्त्रवाक्य है कि विवाह करके कम से कम एक पुत्र उत्पन्न करने से मनुष्य पितृऋण से मुक्त होता है।"

आइये, इस प्रश्न पर अब हम विचार करें। पहले आप ही यह बताइये कि सृष्टि नाम की जो वस्तु है उसे हम जितनी देखते हैं, या सुनते हैं, या विचार करते हैं वह क्या उतनी ही है? विचित्रता ही सृष्टि का नियम है। मान लीजिये कि इसी क्षण से हम सब लोग एक ही प्रकार का कार्य करने लगे और एक ही प्रकार का विचार मन में लाने लगे तब तो सृष्टि का नाश इसी समय हो जायेगा। यदि यह बात सत्य है तो अब हम आपसे यह पूछते हैं कि क्या सृष्टि की रक्षा के सब नियमों को आप समझ चुके हैं? और क्या सृष्टिरक्षा की जिम्मेदारी आपने अपने सिर पर ले रखी है? इसी कारण तो आप आज इस प्रकार ब्रह्मचर्यरहित और निस्तेज हो गये हैं? इसका विचार आप अपने मन में करें। अथवा क्षण भर के लिए आप ऐसा सोचें कि यह सृष्टि-रक्षा का एक नियम है और आप उसका पालन कर रहे हैं, पर आपका ऐसा आग्रह क्यों हो कि दूसरा भी उसी नियम का पालन करे। ब्रह्मचर्यरक्षण के लिए और ऊँचे दर्जे की मानसिक शक्ति का विकास होने के लिए सामान्य विषयों में शक्ति का क्षय न करना भी तो सृष्टि का ही नियम है। यदि सभी आपके समान हीन दर्जे के शक्तिविकास में ही पड़े रहें, तो उच्च श्रेणी का आध्यात्मिक विकास प्राप्त करने और दिखाने के लिए कौन शेष रहेगा? और फिर तो उसका लोप हुए बिना रहेगा ही नहीं।

दूसरी बात और यह है कि हमारा स्वभाव ही ऐसा है कि हम अपने लिए केवल अपने अनुकूल बातें ही शास्त्रों से चुनकर निकाल लेते हैं और बाकी बातों की ओर दुर्लक्ष्य करते हैं। पुत्रो-

त्पादन भी उसी तरह की एक अनुकूल चुनकर निकाली हुई बात है, क्योंकि अधिकार देखकर शास्त्रों में यह भी कहा है कि——

"यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत् ।" अर्थात् जिस क्षण संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न हो जाय उसी क्षण संसार का त्याग कर देना चाहिए। तब यदि श्रीरामकृष्ण आपके मत के अनुसार चले होते तो वे इस शास्त्रवाक्य की मर्यादा का किस प्रकार पालन कर सकते थे। पितृऋण के सम्बन्ध में भी यही बात है। शास्त्र कहते हैं कि यथार्थ संन्यासी अपने सात पूर्वजों और सात वंशजों का अपने पुण्यबल से उद्धार करता है। तब फिर व्यर्थ चिन्ता करने के लिए हमें कोई कारण नहीं दिखायी देता कि श्रीरामकृष्ण अपने पितृऋण से मुक्त नहीं हो सके।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि श्रीरामकृष्णदेव के जीवत में विवाह की घटना हमारे सामने केवल उदाहरण रखने के लिए ही हुई थी। परमपूज्य माताजी श्रीरामकृष्ण को ईश्वर जानकर उनकी आजीवन पूजा करती रहीं। इससे यह स्पष्ट है कि उन्होंने हमारे सामने विवाहित जीवन का कितना ऊँचा और पवित्र आदर्श स्थापित किया है। संसार का नियम है कि मनुष्य अपनी दुर्बलता भले ही संसार के और सब लोगों से छिपा ले, पर अपनी स्त्री से वह उसे कदापि नहीं छिपा सकता। इस विषय में श्रीरामकृष्ण कभीकभी कहते थे——"जितने लोग दिखते हैं——बड़े-बड़े रायसाहेब, खानसाहेब, जज, मुनसिफ, मैजिस्ट्रेट——सभी अपने घर के बाहर बड़े शूर वीर होते हैं, पर अपनी स्त्री के सामने सभी बेचारों को गुलाम बनना पड़ता है। भीतर से कोई हुक्म हुआ, फिर वह चाहे बिलकुल अन्याय ही क्यों न हो, इन्हें वह शिरसावन्द्य

हो जाता है !" अतः यदि किसी पत्नी ने अपने पति की ईश्वर के समान अन्तःकरण से भक्ति की, तो निःसन्देह यही जानो कि वह मनुष्य बाहर से जैसा आचरण करता है वैसा ही वह भीतर से भी है और उसमें कोई मिथ्याचार नहीं है। अस्तु--

श्रीरामकृष्ण की माता और बड़े भाई ने आसपास के गाँवों में बहुत सी कन्याएँ देखीं, पर किसी न किसी कारण से विवाह कहीं भी पक्का नहीं हो सका। चन्द्रादेवी को बड़ी चिन्ता होने लगी कि विवाह किसी प्रकार ठीक हो जाय। उनका चित्त घर के कामकाज में नहीं लगता था। इसी तरह कुछ दिन बीतने पर एक दिन भावावेश में श्रीरामकृष्ण--जैसा पीछे लिख चुके हैं--बोल उठे, "व्यर्थ इधर उधर कन्या ढूँढ़ने के लिए भटकने से कोई लाभ नहीं। जयरामवाटी ग्राम में रामचन्द्र मुखोपाध्याय के यहाँ जाओ। वहाँ विवाह के लिए कन्या तैयार मिलेगी।" श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों पर किसी को एकदम विश्वास नहीं हुआ। तथापि कहावत है "डूबते को तिनके का सहारा।" तदनुसार चन्द्रादेवी सोचने लगीं कि इतने स्थान देखे हैं वैसे यहाँ भी सही। अतः पता लगाने के लिए किसी को जयरामवाटी भेजा गया। उसने आकर बताया, "बाकी बातें कुछ भी हों, पर लड़की बहुत छोटी है। उसको अभी ही छठवाँ वर्ष लगा है।" पर अन्यत्र कहीं निश्चित होने के चिह्न न देख चन्द्रामणि देवी ने वही लड़की पसन्द की और विवाह का मुहूर्त निश्चित हुआ। उस दिन रामेश्वर अपने भाई को लेकर जयरामवाटी को गया और वहाँ विधिपूर्ण विवाह कराके अपने भाई के साथ लौटकर घर आया। यह ईस्वी सन् १८५९-६० के वैशाख कृष्ण पक्ष की बात है। श्रीरामकृष्ण को उस समय चौबीसवाँ वर्ष लगा था।

अपने पुत्र को विवाहित देखकर चन्द्रामणि का चित्त शान्त हुआ और उन्हें यह आशा होने लगी कि अब मेरे पुत्र का मन संसार और गृहस्थी की ओर थोड़ाबहुत लगेगा, परन्तु मण्डप की शोभा के लिए वधू को पहनाने के लिए गाँव के जमींदार से उधार लाये हुए गहने अब वापस करने होंगे, यह विचार मन में आते ही अपने निर्धन संसार का चित्र उनकी आँखों के सामने आ गया। विवाह के दिन से ही वधू को वे अपने घर लिवा लायीं और उसी दिन से उन्होंने उसके साथ अत्यन्त प्रेमयुक्त व्यवहार आरम्भ कर दिया। अब वधू के शरीर पर से अलंकार उतारकर लेना उन्हें बड़ा कठोर जँचने लगा। यद्यपि उन्होंने यह बात किसी से नहीं बतायी, तथापि गदाधर के ध्यान में वह आ ही गयी। उन्होंने दो चार बातें बताकर जननी को सान्त्वना दी और एक रात को अपनी पत्नी के सो जाने पर उसके शरीर पर से गहने, बिना उसे मालूम हुए धीरे से युक्तिपूर्वक निकाल लिये और अपनी माता के सामने लाकर रख दिये। माता ने सबेरे ही उन्हें जहाँ के तहाँ पहुँचा दिया। पर यह बात यहीं पर समाप्त नहीं हुई; प्रातःकाल, उठने पर उस बालिका ने अपने शरीर पर के गहने न देखकर अपनी सास से पूछा, "माँ, कल मैं जो गहने पहने थी वे कहाँ हैं?" यह सुनकर चन्द्रादेवी का हृदय भर आया, और वे बालिका को अपनी गोदी में बिठाकर उसे पुचकारती हुई बोलीं—"बेटी, मेरा गदाधर तेरे लिए इनसे भी सुन्दर गहने बनवा देगा।" उस दिन लड़की का काका भी उससे भेंट करने आया था। उसे इन गहनों के उतरवाने का वृत्तान्त मालूम होते ही बड़ा क्रोध आया और वह लड़की को अपने साथ लेकर जयरामवाटी के लिए रवाना हो गया। इससे चन्द्रादेवी को बड़ा दुःख हुआ। पर

श्रीरामकृष्ण ने उन्हें "अब चाहे कुछ भी हो, पर एक बार जो विवाह हो गया वह किसी के तोड़ने से टूट तो नहीं सकता? फिर इतनी कौनसी चिन्ता है?" इत्यादि बातें कहकर अपनी माता के दुःख को दूर किया।

विवाह के बाद लगभग ६–७ मास तक श्रीरामकृष्ण कामारपुकुर में ही रहे। घर की अवस्था को देखकर तथा वहाँ रहते हुए बहुत दिन हो गये, यह सोचकर उन्होंने कलकत्ता वापस जाने का इरादा किया। माता को यह विचार पसन्द नहीं आया; क्योंकि उसे चिन्ता थी कि अभी इसका वायुरोग अच्छा हो ही रहा है, और ऐसे समय में फिर वहाँ जाने से यदि रोग पुनः उलट पड़ा तो क्या हाल होगा; परन्तु श्रीरामकृष्ण उन्हें किसी तरह समझा-बुझाकर उनसे विदा लेकर दक्षिणेश्वर वापस आ गये और अपने काम में लग गये (१८६०–६१)। लौटने के बाद थोड़े ही दिन बीते होंगे कि वे अपनी पूजा के काम में पुनः ऐसे तन्मय हो गये कि माता, भाई, स्त्री, संसार, अपनी स्थिति और कामारपुकुर की सब बातें बिलकुल भूल गये। जगदम्बा का सदा सर्वकाल दर्शन कैसे हो, यही एक विचार उनके मन में घूमने लगा। रात-दिन नामस्मरण, मनन, जप, ध्यान में ही निमग्न रहने के कारण उनका वक्षःस्थल पुनः सर्वकाल आरक्त रहने लगा। सभी सांसारिक बातें पुनः विषवत् प्रतीत होने लगीं। सारे शरीर में पुनः विलक्षण दाह होने लगा और आँखों से नींद पुनः न मालूम कहाँ भाग गयी। अन्तर इतना ही था कि उन्हें इस प्रकार की अवस्था का पूर्ण अनुभव रहने के कारण पहले के समान उनका चित्त इस समय डाँवाडोल नहीं हुआ।

हृदय के मुँह से यह सुनने में आया है कि श्रीरामकृष्ण की

उन्मादावस्था फिर वापस आते देख मथुरबाबू ने उनके गात्रदाह और अनिद्रा के लिए गंगाप्रसाद सेन की चिकित्सा शुरू करायी। औषधि से तुरन्त कोई लाभ नहीं हुआ तथापि उससे निराश न होकर हृदय श्रीरामकृष्ण को साथ लेकर गंगाप्रसाद के घर बारम्बार जाने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे, एक दिन गंगाप्रसाद ने विशेष ध्यानपूर्वक परीक्षा की और नयी औषधि शुरू की। उस दिन वहाँ पूर्व बंगाल से एक वैद्य आये हुए थे। श्रीरामकृष्ण की परीक्षा उन्होंने भी की और कहा––"इसके लक्षणों पर से तो इसे देवोन्माद हुआ-सा दिखता है। इसकी व्याधि योगाभ्यास के कारण उत्पन्न हुई है और इसे औषधि से कोई लाभ नहीं होगा।" श्रीरामकृष्ण कहते थे, "रोग के समान दिखने वाले मेरे सभी शारीरिक विकारों के सच्चे कारण को प्रथम उन्हीं वैद्य ने पहचाना। परन्तु उनके कहने पर किसी को विश्वास न हुआ।"

दिन पर दिन बीतने लगे। मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण पर प्रेम करनेवाले अन्य लोगों ने अपनी ओर से प्रयत्नों की पराकाष्ठा कर दी, परन्तु रोग कम न होकर धीरे धीरे बढ़ता ही चला।

थोड़े ही दिनों में यह वार्ता कामारपुकुर पहुँची। बेचारी चन्द्रादेवी! अपने प्यारे पुत्र गदाधर के रोग का पुनः बढ़ने का समाचार पाकर पागल के समान हो गयीं। गृहस्थी में उनका चित्त ही नहीं लगता था; और ऐसी उद्विग्न अवस्था में निराशा के वेग में उन्होंने अपने प्रिय पुत्र के कल्याणार्थ महादेव के पास धरना देने का निश्चय किया तथा वह वहाँ के "बूढ़े शंकर" के मन्दिर में जाकर प्रायोपवेशन करने बैठ गयीं; परन्तु वहाँ उन्हें यह आदेश हुआ कि "तू मुकुन्दपुर के महादेव के सामने धरना दे, तब तेरी इच्छा पूर्ण होगी।" फिर वहाँ से उठकर वे मुकुन्दपुर के शिवालय में जाकर

प्रायोपवेशन करने लगीं। दो तीन दिन बीत जाने पर एक रात को शंकर ने स्वप्न में आकर उन्हें बताया कि "भय का कोई कारण नहीं, तेरा लड़का न तो पागल हुआ है और न उसे कोई रोग ही है; केवल ईश्वरदर्शन की व्याकुलता से उसकी ऐसी अवस्था हो गयी है।" धर्मपरायण और श्रद्धालु चन्द्रामणि देवी की चिन्ता इस स्वप्न से बहुत कुछ दूर हो गयी। अस्तु--

इन दिनों ईश्वरदर्शन की कितनी प्रचण्ड व्याकुलता उनके अन्तःकरण में थी, इस सम्बन्ध में श्रीरामकृष्ण हमसे कहते थे "साधारण जीवों के शरीर में और मन में--उस प्रकार की तो कौन कहे--यदि उसकी चतुर्थांश खलबली भी उत्पन्न हो जाय तो शरीर उसी समय नष्ट हो जायगा। दिन हो चाहे रात, सर्व काल श्रीजगन्माता का किसी न किसी रूप में दर्शन हो तब तो ठीक है, अन्यथा प्राणों में ऐसी उथल-पुथल मच जाती थी कि मालूम होता था कि अब प्राण निकलते ही हैं। इसके बाद पूरे छः वर्ष तक एक दिन भी नींद नाम को नहीं आयी। आँखों की पलकों से जीव नष्टप्राय हो गया था और मन में इच्छा करने पर भी पलकें ढँकती नहीं थीं। समय की सुध नहीं रहती थी और शरीर का ज्ञान समूल नष्ट हो गया था। माता के चरणों पर से कभी कभी शरीर की ओर ध्यान जाता था, तब बड़ा डर लगता था--मन में मालूम होता था कि मैं कहीं पागल तो नहीं हो गया हूँ? दर्पण के सामने खड़े होकर आँखों में उँगली डालता था और देखता था कि पलकें गिरती हैं या नहीं; पर होता क्या था? कुछ नहीं; पुतली को उँगली से छूने पर भी पलकें ज्यों की त्यों बनी रहती थीं। यह देखकर बड़ा डर लगता था और रोते रोते कहा करता था, 'माता! माता! एकाग्रचित्त से मैंने तेरी इतनी भक्ति की और

तुझ पर इतना विश्वास रखा, उसका मुझे क्या तूने यही फल दिया है?' पर बाद में तुरन्त ही ऐसा भी कहता था, 'माता! तेरी जैसी इच्छा हो वही होने दे। शरीर जाय तो जाय, पर केवल तू मुझे छोड़कर कहीं न जाना। माता, मुझे दर्शन दे। मुझ पर कृपा कर। तेरे सिवाय मेरा और कौन है!' इस प्रकार रोते रोते मन में पुनः विलक्षण उत्साह उत्पन्न हो जाता था। शरीर बिलकुल तुच्छ पदार्थ प्रतीत होने लगता था; और कुछ समय में जगन्माता का दर्शन होकर उसकी बातें सुनकर मन शान्त हो जाता था।"

लगभग इसी समय मथुरानाथ को श्रीरामकृष्ण के शरीर में श्रीमहादेव और काली माता का दर्शन हुआ। उसका विस्तृत वर्णन "श्रीरामकृष्ण और मथुरानाथ" शीर्षक अध्याय में हो चुका है। इस दर्शन के समय से मथुरानाथ श्रीरामकृष्ण को भिन्न भाव से देखने लगे और उनके मन में उनके प्रति भक्ति और श्रद्धा अत्यधिक बढ़ गयी। साधक-अवस्था में मथुरानाथ जैसे धनवान् और श्रद्धासम्पन्न तेजस्वी भक्त की श्रीरामकृष्ण को आवश्यकता थी ही। इन दोनों का इतना अद्‌भुत प्रेम-सम्बन्ध जगन्माता ने इसी कारण जोड़ दिया हो कौन जाने? श्रीरामकृष्ण के जीवन-चरित्र में ऐसी बहुत सी अचिन्त्य घटनाएँ हुई हैं कि उन घटनाओं के यों ही सहज ही हो जाने की बात मानने के लिए मन तैयार नहीं होता। मथुरानाथ और श्रीरामकृष्ण का अलौकिक प्रेम-सम्बन्ध भी इसी प्रकार की एक अचिन्त्य घटना है। दूसरी घटना ——उसी तरह की——एक भैरवी नामक ब्राह्मणी का दक्षिणेश्वर में आगमन है। उसी बात का विस्तृत वर्णन अगले प्रकरण में किया गया है।

---

२०. भैरवी ब्राह्मणी का आगमन
(१८६१-६२)

"उसके खुले हुए केश और वात्सल्यभाव के कारण विह्वल अवस्था को देखकर, लोगों को ऐसा मालूम होता था कि मानो यह गोपाल-विरह से व्याकुल नन्दरानी यशोदा ही है।"

—श्रीरामकृष्ण

विवाह करके लौटने के बाद थोड़े ही दिनों में श्रीरामकृष्ण के जीवन से विशेष सम्बन्ध रखनेवाली दो घटनाएँ हुईं। सन् १८६१ के आरम्भ में रानी रासमणि संग्रहणी रोग से बीमार पड़ीं। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि एक दिन सहज घूमते घूमते रानी अकस्मात् जमीन पर गिर पड़ीं और उनके शरीर में बहुत चोट लगी। उसी दिन उनको बहुत तेज ज्वर भी आया; सारे शरीर में पीड़ा होने लगी और तीन-चार दिनों में उन्हें संग्रहणी रोग हो गया।

हम कह चुके हैं कि दक्षिणेश्वर का कालीमन्दिर तैयार होने पर उसमें ता. ३१ मई सन् १८५५ के दिन श्रीजगदम्बा की प्राण-प्रतिष्ठा हुई। मन्दिर का सब कार्य ठीक ठीक चलने और किसी बात की कमी न होने देने के हेतु उन्होंने उसी साल २९ अगस्त को २,२६,००० रु. में दिनाजपुर जिले में कुछ जमीन मोल ली। कानून के अनुसार उस जमीन का नियमित रूप से दानपत्र लिख देने का विचार उनके मन में होते हुए भी कई कारणों से वह कार्य बहुत दिनों तक स्थगित रहा। संग्रहणी रोग से रुग्ण होकर

शय्या में पड़ जाने पर, इस बात को निपटा देने के लिए उनके मन में पुनः तीव्र इच्छा उत्पन्न हुई। उनकी चार लड़कियों में से दूसरी श्रीमती कुमारी और तीसरी श्रीमती करुणामयी कालीमन्दिर पूरा बनने के पूर्व ही मर गयी थीं। अतः उनकी अन्तिम बीमारी के समय उनकी सबसे बड़ी लड़की श्रीमती पद्मिनी और सबसे छोटी श्रीमती जगदम्बा, ये ही दो लड़कियाँ थीं।

दानपत्र तैयार होकर आने के बाद इस सम्पत्ति के सम्बन्ध में आगे चलकर कोई झगड़े न खड़े हों इस उद्देश्य से रानी ने "यह दानपत्र हमें स्वीकार है" इस आशय का सम्मति-पत्र लिखाकर उस पर अपनी दोनों लड़कियों से हस्ताक्षर कर देने के लिए कहा। जगदम्बा दासी ने तो हस्ताक्षर कर दिया, परन्तु बड़ी लड़की पद्मिनी ने इन्कार कर दिया। इस कारण मृत्यु-शय्या पर भी रानी के चित्त को शान्ति नहीं मिली। अन्त में रानी ने श्रीजगदम्बा की इच्छा पर निर्भर होकर, अपने चित्त का समाधान करते हुए ता. १८ फरवरी १८६१ के दिन दानपत्र पर स्वयं अपने हस्ताक्षर कर दिये। उसके दूसरे ही दिन, अर्थात् ता. १९ फरवरी को उनका रोग बढ़ गया और उसी दिन उनका स्वर्गवास हो गया।

श्रीरामकृष्ण कहते थे, "अन्तिम दिनों में रानी रासमणि गंगा के किनारे अपने निवासगृह में रहने के लिए आ गयी थीं। उनके देहावसान के एक-दो दिन पूर्व एक रात को उनका ध्यान समीप ही जलते हुए किसी दीपक की ओर गया। वे एकदम बोल उठीं, 'ये सब दीपक यहाँ से हटा लो। यह सब रोशनी मुझे नहीं चाहिए। अब तो यह देखो जगन्माता ही यहाँ आ गयी हैं। उनके शरीर की प्रभा को देखो, वह प्रभा कैसी चारों ओर फैली

हुई है ।' थोड़ा ठहरकर वे पुनः बोलीं, 'माता ! तू आ गयी ? पद्मा ने हस्ताक्षर नहीं किया । तो अब क्या होगा माता ?' इससे ऐसा दिखता है कि उनके मन पर रोग की अपेक्षा इस चिन्ता का ही परिणाम अधिक हुआ था ।''

कालीमन्दिर में श्रीजगदम्बा की प्राणप्रतिष्ठा होने के समय से वहाँ की सारी व्यवस्था मथुरानाथ ही करते थे । अतः रानी की मृत्यु के बाद भी वहाँ की व्यवस्था पूर्ववत् वे ही करते रहे । उनका पहले से ही श्रीरामकृष्ण पर बहुत प्रेम था । अब रानी की मृत्यु हो जाने से मन्दिर की सब व्यवस्था उनके अकेले के ही हाथ में आ गयी, इसलिए श्रीरामकृष्ण को साधनाकाल में सब प्रकार की आवश्यक सहायता देने के लिए उन्हें पूरा अवसर मिल गया । ऐसी अपार सम्पत्ति के मालिक होते हुए भी उनकी प्रवृत्ति कुमार्ग की ओर नहीं गयी और वे श्रीरामकृष्ण को हर तरह से सहायता करने में अपने को धन्य मानते थे, इससे उनको कितना बड़ा सौभाग्य प्राप्त था, यह कल्पना की जा सकती है ।

श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिक अवस्था की कल्पना इस समय तक बहुत कम लोगों को थी । बहुतेरे लोग तो उन्हें 'पागल' या 'दिमाग फिरा हुआ' ही समझते थे । जिस मनुष्य को स्वयं अपना हित-अनहित मालूम नहीं पड़ता, जिसे किसी सांसारिक विषय में उत्साह नहीं है, रानी रासमणि और मथुरानाथ जैसे की प्रसन्नता से जो स्वयं अपना लाभ नहीं उठाता——ऐसे मनुष्य को वे और क्या कहें ? सब लोगों को इतना अवश्य दिखायी देता था कि इस पागल मनुष्य में कुछ अजीब मोहनी शक्ति भरी है, जिसके कारण हर एक व्यक्ति उसे चाहता है । यद्यपि बहुतों की यह धारणा थी, तथापि मथुरानाथ कहा करते

थे, 'इन पर श्रीजगदम्बा की कृपा हो चुकी है, इसी कारण इनका व्यवहार किसी उन्मत्त के समान है।'

रानी रासमणि के निधन के बाद शीघ्र ही श्रीरामकृष्ण के जीवन में अत्यन्त महत्त्व की एक और घटना हुई। उस समय दक्षिणेश्वर में कालीमन्दिर के अहाते में पश्चिम की ओर गंगा के किनारे एक सुन्दर फुलवाड़ी थी। उस फुलवाड़ी में अनेक प्रकार के फूल के पौधे थे, जिनकी सुगन्ध से दसों दिशाएँ सुरभित रहती थीं। इस फुलवाड़ी में श्रीरामकृष्ण नित्य नियम से जाते थे और श्रीजगदम्बा के हार के लिए फूल इकट्ठे करते थे। इस फुलवाड़ी से ही गंगाजी में उतरने के लिए सीढ़ियाँ बनायी गयी थीं। पास ही औरतों के लिए एक अलग घाट बँधा हुआ था। उस घाट पर बकुल का एक बड़ा वृक्ष था; इस कारण उस घाट को 'बकुलतला घाट' कहते थे।

एक दिन प्रातःकाल फूल तोड़ते समय श्रीरामकृष्ण को बकुलतला घाट की ओर एक नौका आती हुई दिखायी दी। वह नौका घाट के पास आकर रुक गयी। उसमें से पुस्तकों आदि की एक गठरी हाथ में लिये हुए एक स्त्री उतरी और दक्षिणी घाट पर के घरों की ओर जाने लगी। उस स्त्री के केश लम्बे और खुले हुए थे। उसका वेष भैरवी का सा, और उसके वस्त्र गेरुए रंग के थे। उसकी आयु लगभग चालीस वर्ष की थी, पर उसका रूप इतना अलौकिक था कि वह इतनी प्रौढ़ अवस्था की किसी को मालूम नहीं पड़ती थी। उसका दर्शन होते ही श्रीरामकृष्ण को मानो वह कोई अपनी आत्मीय या स्वजन सी मालूम होने लगी। वे तुरन्त ही अपने कमरे में लौट आये और हृदय से बोले, "हृदू, उस घाट पर अभी एक भैरवी आयी है। जा, उसे इधर ले

आ ।" हृदय बोला, "पर मामा ! वह स्त्री बिना जान-पहचान की है। उसे बुलाने से वह व्यर्थ ही इधर कैसे आयेगी ?" श्रीरामकृष्ण बोले, "उससे कहो कि मैंने बुलाया है, तब वह आ जायेगी ।" उस अनजान संन्यासिनी से भेंट करने का अपने मामा का आग्रह देखकर हृदय को बड़ा अचरज हुआ, पर वह करे क्या ? मामा की आज्ञा माननी ही थी । इसलिए वह उस घाट पर तुरन्त ही गया और उस भैरवी से कहा, "मेरे मामा बड़े ईश्वरभक्त हैं, उन्होंने तुम्हारा दर्शन लेने के लिए तुम्हें बुलाया है ।" यह सुनते ही वह संन्यासिनी हृदय से एक भी प्रश्न किये बिना उठ खड़ी हुई और उसके साथ आने के लिए चल पड़ी ! यह देखकर हृदय के आश्चर्य की सीमा नहीं रही।

वह संन्यासिनी हृदय के साथ श्रीरामकृष्ण के कमरे में आयी। उन्हें देखते ही उसके आनन्द का ठिकाना नहीं रहा । उसकी आँखों में आनन्दाश्रु भर आये और वह बोली, "बाबा ! तो तुम यहीं थे ? तुम्हारा गंगा के किनारे कहीं पता न पाकर मैं इतने दिनों तक तुम्हें ढूंढ़ती रही; अन्त में तुम यहाँ मिल ही गये !"

बालक स्वभाववाले श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "पर माता ! तुमको मेरा समाचार कैसे मालूम हुआ !" संन्यासिनी बोली– "मुझे जगदम्बा की कृपा से पहले ही मालूम हो चुका था कि तुम तीनों की भेंट होने वाली है; शेष दो की भेंट इसके पहले पूर्व बंगाल में हो चुकी है और अब यहाँ तुम से भी भेंट हो गयी ।"

तदनन्तर जैसे कोई छोटा बालक अपनी माता के पास बैठकर बड़े स्नेह से उसके साथ बातें करता है, उसी तरह उस संन्यासिनी के पास बैठकर श्रीरामकृष्ण अनेक प्रकार की बातें

करने लगे । उन्हें कौन कौन से अलौकिक दर्शन प्राप्त हुए; ईश्वरचिन्तन से उनका बाह्यज्ञान किस तरह नष्ट हो जाता है; उनके शरीर में कैसे निरन्तर दाह होता है; उनकी नींद कैसे उचट गयी है, आदि सभी बातें वे दिल खोलकर उससे कहने लगे और पूछने लगे कि "मेरी ऐसी अवस्था क्यों हुई ? माता ! मैं क्या सचमुच पागल हो गया हूँ ? और क्या जगदम्बा की अन्तःकरणपूर्वक भक्ति करने से मुझे सचमुच कोई रोग हो गया है ?" श्रीरामकृष्ण के मुख से ये सारी बातें सुनकर उसका अन्तःकरण आनन्द से खिल रहा था । श्रीरामकृष्ण की बात समाप्त होने पर वह बड़े स्नेह के साथ उनसे बोली, "बाबा ! तुम्हें कौन पागल कहता है ? यह पागलपन नहीं है । यह तो महाभाव है, इसी के कारण तुम्हारी ऐसी अवस्था हुई है । क्या इस अवस्था को समझना भी किसी के लिए सम्भव है ? इसी कारण वे बेचारे तुमको पागल कहते हैं ! ऐसी अवस्था हुई थी एक तो श्रीमती राधिका की और दूसरे श्रीचैतन्य महाप्रभु की ! ये सब बातें भक्तिशास्त्र में हैं । मेरे पास वे सब पोथियाँ हैं । उनमें से मैं तुम्हें दिखा दूँगी कि जो कोई पूर्ण अन्तःकरणपूर्वक ईश्वर की भक्ति करते हैं उनकी ही ऐसी अवस्था होती है ।"

हृदय पास ही खड़े थे । वे उन दोनों का सारा संवाद सुनकर और उनका बिलकुल परिचित मनुष्यों के समान पारस्परिक व्यवहार देखकर दंग रह गये ।

इस प्रकार बड़े आनन्द में कुछ समय बीतने के बाद बहुत विलम्ब हुआ जानकर श्रीरामकृष्ण ने देवी का प्रसाद, फल, मिठाई आदि मँगाकर उस संन्यासिनी को दिया और उसने उसमें से कुछ अंश ग्रहण किया । श्रीरामकृष्ण ने उसके साथ घूमकर

उसे सब मन्दिर दिखलाया। देवदर्शन और फलाहार हो जाने के बाद उसने अपने मुख में रखी हुई रघुवीर शिला के नैवेद्य के लिए कोठी से सीधा लेकर स्नानादि से निवृत्त होकर पंचवटी के नीचे रसोई बनाना प्रारम्भ किया।

भोजन बन जाने पर उसने अपने मुख से श्रीरघुवीर शिला को निकाला और उसके सामने नैवेद्य की थाली परोसकर आप ध्यानस्थ होकर बैठ गयी। उस ध्यान में उसे एक अपूर्व दर्शन प्राप्त हुआ जिससे उसे समाधि लग गयी। उसकी आँखों से प्रेमाश्रुधारा बहने लगी और उसका बाह्यज्ञान बिलकुल नष्ट हो गया। उसी समय इधर श्रीरामकृष्ण को अपने कमरे में ही बैठे-बैठे पंचवटी की ओर जाने की अति उत्कट इच्छा हुई। जब वे उठकर पंचवटी की ओर आ रहे थे, तो रास्ते में ही उन्हें भावावस्था प्राप्त हो गयी। वे उसी अवस्था में वहाँ पहुँचे और अपने कार्य का बिलकुल भान न होते हुए वे उस रघुवीर शिला के सामने के नैवेद्य को खाने लगे। जब कुछ समय के बाद ब्राह्मणी की समाधि उतरी तब श्रीरामकृष्ण को भावावेश में यह कार्य करते देख वह विस्मय और आनन्द से रोमांचित हो उठी। कुछ समय के पश्चात् श्रीरामकृष्ण को भी होश होने पर तथा अपने द्वारा यह कार्य हुआ देखकर उन्हें भी आश्चर्य होने लगा। वे बोले, "यह विचित्र कार्य मेरे हाथ से कैसे हो गया, यह मेरी भी कुछ समझ में नहीं आता।" यह सुनकर ब्राह्मणी उन्हें माता के समान धीरज देती हुई बोली—"बाबा! तुमने ठीक किया। यह काम तुमने नहीं किया, पर तुममें जो कोई है उसने किया। मैं अभी ध्यानस्थ बैठी हुई जो कुछ देख रही थी उससे यह कार्य किसने किया और क्यों किया, यह मैं पूर्ण रीति से जान गयी

हूँ। मुझे अब पूर्ववत् पूजा करने की आवश्यकता नहीं रही; इतने दिनों तक मैंने जो पूजा की वह सब आज सार्थक हो गयी।" यह कहते हुए उस ब्राह्मणी ने बिना किसी संकोच के श्रीरामकृष्ण की थाली में से बचे हुए अन्न को देव का प्रसाद जानकर खा लिया। श्रीरामकृष्ण के शरीर में श्रीरघुवीर का प्रत्यक्ष आविर्भाव देखकर उस ब्राह्मणी का अन्तःकरण भक्ति और प्रेम से पूर्ण हो गया। उसका गला भर आया और आँखों से आनन्दाश्रु बहने लगे। उसी अवस्था में इतने दिनों तक जिस श्रीरघुवीर शिला की वह पूजा करती रही उस शिला को आज उसने श्रीगंगाजी में जलसमाधि दे दी!!

उन दोनों में पहले दिन ही जो प्रेम और वात्सल्य-भाव उत्पन्न हुआ था वह दिनोंदिन बढ़ता गया और वह ब्राह्मणी भी दक्षिणेश्वर में ही रहने लगी। ईश्वर-सम्बन्धी वार्ता और अन्य आध्यात्मिक विषयों की चर्चा में दोनों के दिन इस तरह बीतने लगे कि उन्हें ध्यान तक नहीं रहता था। श्रीरामकृष्ण उसे अपने आध्यात्मिक दर्शन और अवस्था के सम्बन्ध की सभी गूढ़ बातें खुले दिल से बता दिया करते थे और उनके विषय में अनेक प्रकार के प्रश्न पूछते थे। ब्राह्मणी भी भिन्न भिन्न तान्त्रिक ग्रन्थों के आधार से उत्तर देकर उनका समाधान किया करती थी। कभी कभी वह चैतन्य-भागवत् अथवा चैतन्य-चरितामृत ग्रन्थों से वाक्य पढ़कर अवतारी पुरुषों के देह और मन में ईश्वर-प्रेम के प्रबल वेगजन्य लक्षण और विकार की विवेचना करके उनके संशय दूर करती थी। इस प्रकार पंचवटी में दिव्य आनन्द का स्रोत उमड़ पड़ा था।

इस दिव्य आनन्द में छः-सात दिन बीत जाने पर तीक्ष्णदृष्टि-

सम्पन्न श्रीरामकृष्ण के मन में यह बात आयी कि यद्यपि ब्राह्मणी में तिल मात्र भी दोष की सम्भावना नहीं है, तथापि इसको इस स्थान में रखना उचित नहीं है। काम और कांचन में आसक्त लोग इस पवित्र संन्यासिनी के विषय में कुछ न कुछ शंका करने लगेंगे और यह सोचकर उन्होंने ब्राह्मणी से यह बात प्रकट भी कर दी। ब्राह्मणी को भी उनका कहना ठीक दिखा। वह पास के ही किसी गाँव में रहकर श्रीरामकृष्ण की भेंट के लिए प्रतिदिन आने का निश्चय करके, उसी दिन अपना डेराडंडा दक्षिणेश्वर से उठाकर समीप ही दक्षिणेश्वर ग्राम के देवमण्डल घाट पर ले गयी। उस ग्राम के सीधे-साधे, भोले-भाले और धर्मनिष्ठ लोगों को ब्राह्मणी अपने अलौकिक गुणों के कारण शीघ्र ही प्रिय हो गयी। वहाँ उसके रहने तथा भिक्षा की ठीक ठीक व्यवस्था भी हो गयी। वह नित्य नियम से श्रीरामकृष्ण के पास जाने लगी। वह अपनी पहचान की स्त्रियों से भिक्षा में अनेक प्रकार के भोज्य पदार्थ माँगकर अपने साथ ले जाती थी और अत्यन्त वात्सल्यभाव से श्रीरामकृष्ण को खिलाया करती थी। कहते हैं कि उस घाट पर रहते समय उसका अन्तःकरण वात्सल्यभाव से भर आता था। उस अवस्था में वह हाथ में मक्खन का गोला लेकर "गोपाल, गोपाल" करती हुई जोर जोर से चिल्लाती थी। उसी समय इधर श्रीरामकृष्ण को भी ब्राह्मणी से भेंट करने की अत्यन्त उत्कट इच्छा होती थी। कहते हैं कि उस समय जैसे कोई छोटा बालक अपनी माता के पास दौड़ा चला जाता है, उसी तरह श्रीरामकृष्ण उसकी ओर दौड़ते चले जाते थे, और उसके हाथ से वह मक्खन खा लेते थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उसके खुले हुए केश और वात्सल्यभाव से उत्पन्न हुई विह्वल

अवस्था को देखकर लोगों को यह मालूम होता था कि यह स्त्री गोपालविरह से व्याकुल नन्दरानी यशोदा तो नहीं है !"

श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से उनके आध्यात्मिक अनुभव और अवस्था को सुनकर ब्राह्मणी को निश्चय हो गया कि यह सब अवस्था असाधारण ईश्वरप्रेम के कारण ही उत्पन्न हुई है। ईश्वर की बातें करते समय श्रीरामकृष्ण को जो आनन्द आता था, उन्हें जो अपनी देह की सुधि भी नहीं रहती थी, यह सब प्रत्यक्ष देखकर उसे निस्सन्देह मालूम हो गया कि ये कोई सामान्य साधक नहीं हैं। उसे जीवों के उद्धार के लिए चैतन्यदेव का पुनः अवतार होने का बारम्बार स्मरण होने लगा, जैसा श्रीचैतन्य-चरितामृत और श्रीचैतन्य-भागवत ग्रन्थों में लिखा हुआ है। चैतन्यदेव के आचार-व्यवहार के विषय में उसने उन ग्रन्थों में जो कुछ पढ़ा था, वह सब श्रीरामकृष्ण में सांगोपांग मिलते हुए देखकर उसे आश्चर्य और समाधान भी हुआ। चैतन्यदेव का शारीरिक दाह और उनकी अलौकिक क्षुधा जिन सरल उपायों से दूर होने की बात उन ग्रन्थों में वर्णित है, उन्हीं उपायों को उसने श्रीरामकृष्ण पर अजमाया और अचरज की बात यह है कि उनसे उन्हें तत्काल लाभ भी हुआ। इन सब बातों से उसकी पूर्ण धारणा हो गयी कि इस समय श्रीचैतन्य और नित्यानन्द दोनों ही ने एक ही शरीर में अवतार लिया है। हम पीछे कह आये हैं कि शिऊड़ गाँव को जाते समय श्रीरामकृष्ण को जो विचित्र दर्शन हुआ था उसे उन्हीं के मुँह से सुनकर ब्राह्मणी बोली, "इस समय नित्यानन्द और चैतन्य का अवतार एक ही देह में हुआ है।"

यह ब्राह्मणी संसार की किसी भी बात के लिए किसी पर अव-लम्बित नहीं थी। अतः उसे किसी की प्रसन्नता या अप्रसन्नता की

परवाह करने का कोई कारण न था; इसलिए उसे श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में अपनी स्पष्ट धारणा किसी के भी पास बतला देने में बिलकुल संकोच नहीं होता था। उसने श्रीरामकृष्ण के बारे में अपनी राय पहले उन्हीं को और बाद में हृदय को बतला दी। जो कोई भी पूछता था, उससे वह अपना मत स्पष्ट प्रकट कर देती थी। एक दिन श्रीरामकृष्ण और मथुरबाबू दोनों पंचवटी में बैठे थे। हृदय भी समीप ही था। बातें करते करते श्रीरामकृष्ण ने अपने सम्बन्ध में ब्राह्मणी का जो कहना था वह मथुरबाबू को भी बतला दिया। वे बोले, "वह कहती है कि अवतारी पुरुषों के जो लक्षण होते हैं वे सब तुममें हैं। उसने कितने ही शास्त्रों का अध्ययन किया है और वे सब पोथियाँ भी उसके पास हैं।" श्रीरामकृष्ण का यह सीधा-सादा और खुले दिल से बोलना सुनकर मथुरबाबू को आनन्द हुआ और वे हँसते हँसते बोले, "लेकिन बाबा, उसने कुछ भी कहा हो, पर अवतार तो दस से अधिक नहीं हैं न? तब भला उसका कहना कैसे सच हो सकता है? तथापि तुम पर जगदम्बा की कृपा है, इतनी बात तो बिलकुल सत्य है।"

उनकी ये बातें हो रही थीं कि इतने ही में वहाँ एक संन्यासिनी आती हुई दिखी। उसे देखकर मथुर ने श्रीरामकृष्ण से पूछा, "क्या यही है वह संन्यासिनी?" श्रीरामकृष्ण बोले, "हाँ!" उसके हाथ में मिष्टान्न भरी एक थाली थी जिसके पदार्थ श्रीरामकृष्ण को वह अपने हाथ से खिलाने के लिए ला रही थी। पास आने पर उसने श्रीरामकृष्ण के समीप बैठे हुए मथुरबाबू की ओर देखते ही अपना भाव रोक लिया और अपने हाथ की थाली हृदय के हवाले कर दी। इतने में ही जैसे छोटा बालक अपनी माता के

पास किसी का उलहना देता है, उसी तरह श्रीरामकृष्ण मथुरबाबू की ओर उँगली दिखाते हुए उससे बोले, "क्यों यह क्या बात है? तू मुझसे जो कहा करती है, वही मैंने अभी इसको बताया है; पर यह तो कहता है कि अवतार दस ही हैं।" इतने में मथुरबाबू ने संन्यासिनी को नमस्कार किया और उसे बतलाया कि मैंने सचमुच यही कहा है। संन्यासिनी ने उन्हें आशीर्वाद देकर कहा, "क्यों भला? क्या प्रत्यक्ष श्रीमद्भागवत में मुख्य मुख्य चौबीस अवतारों की कथा बताकर भविष्य में और भी असंख्य अवतार होने की बात नहीं लिखी है? इसके अतिरिक्त वैष्णव ग्रन्थों में महाप्रभु श्रीचैतन्यदेव का पुनः अवतार होना स्पष्ट कहा गया है। श्रीचैतन्यदेव और इनमें बहुत साम्य दिख रहा है। श्रीमद्भागवत और अन्य वैष्णव ग्रन्थ पढ़े हुए किसी भी पण्डित से पूछ देखिये, वह इस बात को स्वीकार ही करेगा। मैं अपनी उक्ति का समर्थन करने के लिए उससे शास्त्रार्थ करने को तैयार हूँ।" ब्राह्मणी का यह स्पष्ट और आत्मविश्वासपूर्ण वाक्य सुनकर मथुर चकित होकर चुप हो गये, परन्तु एक अपरिचित और भिक्षावृत्ति के सहारे रहने वाली संन्यासिनी के कथन और पाण्डित्य पर उनके समान तर्कशील मनुष्य को सहसा विश्वास भी कैसे हो? उन्हें भास हुआ कि जैसे हाल ही में एक वैद्यराज भी उन्हें महापुरुष कह गये थे, वैसे ही यह संन्यासिनी भी कहती होगी। तो भी ब्राह्मणी के कहने में उन्हें बहुत कुतूहल दिख पड़ा। तब मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण के भी आग्रह से संन्यासिनी के कहने के अनुसार पण्डितों की एक सभा बुलाने का निश्चय किया। श्रीरामकृष्ण ने तो छोटे बालक के समान मथुरबाबू से हठ पकड़ लिया कि "अच्छे अच्छे पण्डित बुलाकर ब्राह्मणी के कथन की सचाई या झुठाई का उनसे निर्णय

करना ही चाहिए।" श्रीरामकृष्ण के इस हठ के सामने बेचारे मथुरबाबू क्या करते? सब प्रकार की अनुकूलता रहते हुए जैसे कोई प्रेमी पिता अपने इकलौते लड़के का लाड़-प्यार पूरा करने में आनन्द और स्वयं को धन्य मानता है, वही स्थिति, वही अवस्था, मथुरबाबू की थी। शीघ्र ही उन्होंने बड़े उत्साह से पण्डितों की एक सभा बुलायी।

इस आमन्त्रित पण्डित समाज में वैष्णवचरण प्रमुख थे। वैष्णवचरण की कीर्ति श्रीमद्भागवत की कथा का अत्यन्त सुन्दर रीति से प्रवचन करने के कारण चारों ओर फैली हुई थी।

वैष्णवचरण केवल पण्डित ही नहीं थे, वरन् वे भक्त और साधक भी थे। अपनी ईश्वरभक्ति और शास्त्रज्ञान, विशेषत: भक्तिशास्त्र के ज्ञान के कारण वे उस समय के वैष्णव समाज के एक प्रधान नेता गिने जाते थे और उसी दृष्टि से वैष्णव समाज में उनका मान भी था। कोई भी धार्मिक प्रश्न उपस्थित होने पर उसके विषय में वैष्णवचरण का मत सुनने के लिए सब लोग उत्सुक रहा करते थे। वैसे ही अनेक भक्तसाधक भी, उन्हीं के बताये हुए मार्ग से साधन-भजन किया करते थे।

कोई कोई कहते हैं कि वैष्णवचरण का परिचय मथुरबाबू से प्रथम ब्राह्मणी ने ही कराया था और उन्हें निमन्त्रण देने के लिए कहा था। चाहे जैसा भी हो, सभा के लिए वैष्णवचरण को मथुरबाबू ने बुलवाया जरूर था। सभा का दिन आया और वैष्णवचरण तथा अन्य पण्डितगण सभा में पधारे। विदुषी ब्राह्मणी और मथुरबाबू के साथी भी सभा में उपस्थित थे।

सभा आरम्भ हुई और श्रीरामकृष्ण की अवस्था के सम्बन्ध में विचार होने लगा। ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्ण की अवस्था के विषय

में लोगों के मुँह से जो सुना था और स्वयं जो कुछ देखा था, उन सब का उल्लेख करते हुए पूर्वकालीन महान् भगवद्भक्तों की जो अवस्था भक्तिशास्त्रों में वर्णित है उसकी और श्रीरामकृष्ण की वर्तमान अवस्था की बिलकुल समानता बतलाकर, अपना मत प्रकट किया और वह वैष्णवचरण की ओर लक्ष्य करती हुई बोली, "यदि आपका इस विषय में भिन्न मत है तो उसका कारण मुझे विस्तारपूर्वक बतलाइये।" अपने लड़के का पक्ष लेकर माता जिस तरह दूसरों से लड़ने के लिए तैयार हो जाती है, वही भाव आज ब्राह्मणी का था। आज जिनके सम्बन्ध में वह सारा वाद-विवाद हो रहा था वे श्रीरामकृष्ण क्या कर रहे थे ? हमारी आँखों के सामने उनका उस समय का चित्र स्पष्ट दिख रहा है। सारी सभा बैठी हुई है। उस पण्डित-सभा में वे भी सादे वेष में बैठे हैं। वे अपने ही आनन्द में मग्न हैं। उनके मुख पर मृदु हास्य झलक रहा है। पास ही बादाम, पिस्ता, मुनक्का से भरी हुई एक थैली रखी है। उसमें से एकआध दाना निकालकर वे बीच बीच में अपने मुँह में डाल लेते हैं और सारा संवाद ऐसे ध्यान से सुन रहे हैं कि मानो यह विवाद किसी दूसरे ही मनुष्य के सम्बन्ध में हो रहा हो ! बीच में ही वे श्री वैष्णवचरण को स्पर्श करके अपनी किसी विशेष अवस्था के विषय में "यह देखिये, मुझे ऐसा ऐसा होता है" आदि वर्णन करके बतला रहे हैं।

कोई कोई कहते हैं कि श्रीरामकृष्ण को देखते ही वैष्णवचरण ने अपनी दिव्य दृष्टि द्वारा इनका महापुरुष होना जान लिया था। परन्तु ऐसा हो या न हो, श्रीरामकृष्ण की अवस्था के सम्बन्ध में ब्राह्मणी ने जो विवेचन किया था वह उन्हें पूर्णतः जच गया और उन्होंने भरी सभा में अपना मत भी उसी प्रकार प्रकट कर

दिया। यह बात हमने श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनी है। इतना ही नहीं, परन्तु वैष्णवचरण ने यह भी कहा कि "जिन उन्नीस प्रकार के भिन्न भिन्न भावों या अवस्थाओं के एक साथ होने से महाभाव होता है, वे सब अवस्थाएँ केवल श्रीराधा और श्रीचैतन्य महाप्रभु में ही एकत्र दिखायी दी थीं। और वही सब अवस्थाएँ इनमें भी प्रकट हुई हैं। किसी महा भाग्यवान को यदि महाभाव का थोड़ा सा आभास प्राप्त हो, तो इन उन्नीस में से अधिक से अधिक दो-चार अवस्थाएँ ही दिखायी देती हैं। इन सभी उन्नीस अवस्थाओं का एक साथ वेग सहन करने में आज तक कोई भी मानवशरीर समर्थ नहीं हुआ।"

मथुरानाथ आदि सब लोग वैष्णवचरण का भाषण सुनकर बिलकुल आश्चर्यचकित हो गये। श्रीरामकृष्ण को भी वह बात सुनकर हर्ष हुआ और वे आनन्दपूर्वक मथुरबाबू से कहने लगे, "सुन लिया ये क्या कहते हैं? शेष चाहे कुछ भी हो, इतना तो निश्चय है कि मुझे कोई रोग नहीं हुआ है और आज यह सब वार्तालाप सुनकर मुझे बड़ा ही समाधान हुआ।"

---

२१. वैष्णवचरण और गौरी पण्डित का वृत्तान्त

"जितने मत हैं उतने ही मार्ग हैं। अपने मत पर निष्ठा रखनी चाहिए, पर दूसरों के मत की निन्दा नहीं करनी चाहिए।"

"सिद्धियाँ परमेश्वरप्राप्ति के मार्ग में बड़ी विघ्न हैं।"

"विवेक और वैराग्य के बिना शास्त्रज्ञान व्यर्थ है।"

—श्रीरामकृष्ण

वैष्णवचरण ने श्रीरामकृष्ण के बारे में जो मत प्रकट किया वह निरर्थक, या ऐसे ही कहा हुआ कदापि नहीं था। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यह है कि उस दिन से श्रीरामकृष्ण पर उनकी श्रद्धा और भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली। श्रीरामकृष्ण के सत्संग का लाभ उठाने के लिए वे बारम्बार दक्षिणेश्वर आने लगे। अपनी सब गुप्त साधनाओं का वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण को बतलाकर उनके सम्बन्ध में उनका कथन सुनने लगे और अपने ही समान अपनी पहचान के अन्य साधकों को भी श्रीरामकृष्ण के दिव्य सत्संग का लाभ उठाने के लिए बीच बीच में उनके पास लाने लगे। श्रीरामकृष्ण को भी उनकी संगति से गुप्त साधनाओं की जानकारी प्राप्त हुई। साधारण लोगों की दृष्टि में

जो दूषित और निन्द्य साधन हैं वे भी यदि "ईश्वरप्राप्ति" के हेतु से अन्तःकरणपूर्वक किये जायँ, तो उनके अनुष्ठान से साधक का कभी अधःपतन नहीं होता, वरन् वह धीरे धीरे त्यागी और संयमी होकर उत्तरोत्तर आध्यात्मिक उन्नति ही प्राप्त करता है और अन्त में उसे शुद्ध भक्ति प्राप्त हो जाती है––यह तत्त्व भी श्रीरामकृष्ण ने इन्हीं की संगति से सीखा था। इस प्रकार की साधनाओं की बात सुनकर और कुछ साधनाओं को प्रत्यक्ष देखकर श्रीरामकृष्ण कहते थे––"मुझे पहले पहल ऐसा लगा कि ये लोग बातें तो बड़ी बड़ी करते हैं, पर इतनी हीन श्रेणी की साधनाएँ क्यों करते हैं?" परन्तु इनमें जो यथार्थ श्रद्धावान् थे उनकी प्रत्यक्ष आध्यात्मिक उन्नति होते देखकर उनके मन का संशय दूर हो गया। इस प्रकार के साधनामार्ग का अवलम्बन करने वाले लोगों के सम्बन्ध में हमारे मन की तिरस्कारबुद्धि को दूर करने के उद्देश्य से उहोंने कहा, "भाइयो! तिरस्कारबुद्धि क्यों होनी चाहिए? ऐसा ही क्यों न समझो कि वह भी एक पथ है। क्या घर में जाने के लिए कई भिन्न भिन्न मार्ग नहीं होते? बड़ा दरवाजा, पीछे का दरवाजा, खिड़की, पाखाना साफ करने वाले भंगी के लिए एक अलग दरवाजा––इसी प्रकार ऐसी साधनाओं को भी उसी प्रकार का एक दरवाजा जानो। घर में किसी भी मार्ग से भीतर जाओ, पर सब पहुँचेंगे एक ही स्थान पर न? तब फिर यह कहकर कि ये लोग ऐसे हैं वैसे हैं उनका तिरस्कार करना चाहिए या कि उनके साथ मिल-जुलकर रहना चाहिए?" अस्तु––

श्रीरामकृष्ण के अद्भुत चरित्रबल, पवित्रता, अलौकिक ईश्वरभक्ति, भावसमाधि आदि का वैष्णवचरण के मन पर इतना

जबरदस्त प्रभाव पड़ा कि श्रीरामकृष्ण को सब के सामने 'ईश्वरावतार' कहने में उन्हें जरा भी संकोच नहीं होता था।

वैष्णवचरण का श्रीरामकृष्ण के पास आना शुरू होने के थोड़े ही दिनों बाद प्रसिद्ध गौरी पण्डित भी दक्षिणेश्वर में आये। गौरी पण्डित एक विशिष्ट तान्त्रिक साधक थे। उनके दक्षिणेश्वर के कालीमन्दिर में पहुँचने के समय ही एक मजेदार घटना हुई। हमने उस बात को स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुना है। वे कहते थे-----"गौरी पण्डित को तपस्या से एक सिद्धि की प्राप्ति हुई थी। शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रित होने पर वे वहाँ (उस घर में) तथा उस सभास्थान में पहुँचते समय 'हा रे रे रे, निरालम्बो लम्बोदरजननि! कं यामि शरणम्' इस आचार्यकृत देवीस्तोत्र के इस चरण का उच्च स्वर से कई बार उच्चारण कर फिर उस स्थान में प्रवेश करते थे। उनके गम्भीर स्वर से उच्चारित इस चरण को सुनते ही सुननेवाले के हृदय में एक प्रकार का डर समा जाता था। इससे दो कार्य सध जाते थे-----एक तो इस चरण की आवृत्ति करने से गौरी पण्डित की खुद की आन्तरिक शक्ति अच्छी तरह से जागृत हो जाती थी, और दूसरे इससे उनके प्रतिस्पर्धी भ्रम में पड़ जाते थे और उनका बल नष्ट हो जाता था। जब गौरीपण्डित इस चरण की गर्जना करते हुए, पहलवानों के समान बाहुदण्डों को ठोकते हुए, सभास्थान में प्रवेश कर वहीं वीरासन जमाकर बैठ जाते, तब उन्हें शास्त्रार्थ में कोई भी नहीं जीत सकता था।

गौरी की इस सिद्धि के विषय में श्रीरामकृष्ण को कुछ भी नहीं मालूम था। ज्योंही "हा रे रे रे...." चरण कहते हुए गौरी ने कालीमन्दिर में प्रवेश किया त्योंही श्रीरामकृष्ण को भी न

जाने कैसी स्फूर्ति हुई कि वे भी इसी चरण को गौरी की अपेक्षा और भी जोर से कहने लगे। यह सुनकर गौरी ने और अधिक उच्च स्वर निकाला। उसे सुनकर श्रीरामकृष्ण उससे भी बढ़ चले। इस तरह तीन-चार बार हुआ। इस कोलाहल को सुनकर कोई कुछ भी समझ नहीं सका। सभी अपने अपने स्थानों में तटस्थ चित्रवत् खड़े रहे। केवल कालीमन्दिर के पहरेदार हाथ में लाठी और डण्डे ले लेकर दौड़ आये और आकर जब देखते हैं तो कोई खास बात नहीं है! श्रीरामकृष्ण और उन आये हुए पण्डित की स्पर्धा चल रही है! यह हाल देखकर हँसते हँसते सभी के पेट में दर्द होने लगा। बेचारे गौरी पण्डित श्रीरामकृष्ण से अधिक उच्च स्वर न निकाल सकने के कारण ठण्डे पड़ गये और तब उन्होंने खिन्न मन से कालीमन्दिर में प्रवेश किया। अन्य लोग भी, जहाँ तहाँ चले गये। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"इसके बाद मुझे जगदम्बा ने दिखाया कि जिस सिद्धि के बल पर गौरी पण्डित दूसरे का बल हरण करके अजेय बन जाता था, उसी सिद्धि का यहाँ इस प्रकार का पराभव हो जाने से उस बेचारे की वह सिद्धि ही नष्ट हो गयी। माता ने उसी के कल्याण के लिए उसकी सिद्धि को (अपनी ओर उँगली दिखाकर) इस शरीर में आकृष्ट कर लिया।" फिर सचमुच ही यह दिख पड़ा कि श्रीरामकृष्ण पर गौरी पण्डित की अधिकाधिक भक्ति बढ़ने लगी। ऊपर बता ही चुके हैं कि गौरी पण्डित तान्त्रिक साधक थे। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे कि "प्रति वर्ष दुर्गापूजा के दिनों में गौरी पण्डित सब प्रकार की पूजासामग्री तैयार करते थे और अपनी ही पत्नी को वस्त्रालंकार से भूषित कर उसे देवपूजा के आसन पर बिठाकर तीन दिन तक बड़े भक्तिभाव के साथ उसे

जगदम्बा जानकर उसकी पूजा करते थे ।" जितनी भी स्त्रीमूर्ति हों उन सबको श्रीजगदम्बा के भिन्न भिन्न रूप समझना चाहिए और यह भाव करना चाहिए कि उन सभी में जगत्पालिनी आनन्ददायिनी जगन्माता की शक्ति भरी हुई है । तन्त्रशास्त्र की ऐसी शिक्षा होने के कारण मनुष्य को पवित्र भाव से स्त्रीमात्र की पूजा ही करना उचित है । स्त्रीमात्र में श्रीजगन्माता स्वयं विद्यमान है । भूलकर भी सकाम भाव से स्त्री के शरीर की ओर देखना प्रत्यक्ष जगन्माता की अवज्ञा करने के समान है । यच्च-यावत् स्त्रीमात्र की ओर, देवीभाव से देखनेवाले महापुरुष इस संसार मे कितने होंगे ? अस्तु--

गौरी पण्डित की एक और सिद्धि की बात श्रीरामकृष्ण बताया करते थे । विशिष्ट तान्त्रिक साधक श्रीजगन्माता की नित्यपूजा के उपरान्त होम किया करते हैं । गौरी पण्डित भी कभी कभी होम करते थे । पर उनके होम करने की विधि अद्‌भुत थी । अन्य लोग जैसे जमीन पर मिट्टी की वेदी बनाकर, उस पर समिधा रचकर अग्नि जलाते हैं और तब उसमें आहुति देते हैं, गौरी पण्डित वैसा नहीं करते थे । वे अपना बाँया हाथ आगे बढ़ाकर उसी पर एक ही समय में मन भर लकड़ी रचकर उसे जलाते थे और उस अग्नि में अपने दाहिने हाथ से आहुति डालते थे । होम के लिए कुछ कम समय नहीं लगता था । वह सब समाप्त होते तक हाथ वैसे ही फैलाये हुए, उस पर एक मन लकड़ी का भार और धधकती हुई अग्नि की ज्वाला सहन करते हुए, मन को शान्त रखकर भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से उस अग्नि में वे यथा-विधि आहुति डालते जाते थे--यह कर्म कितना असम्भव लगता है । और स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से सुनकर भी हममें से बहुतों

को इस पर सहसा विश्वास नहीं होता था । परन्तु हमारे मन के भाव को समझकर श्रीरामकृष्ण कहते थे:—"मैंने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से उसका यह होम देखा है भाई ! वह यह सब अपनी सिद्धि के बल पर कर सकता था !"

गौरी पण्डित के दक्षिणेश्वर आने के कुछ दिनों के पश्चात् मथुरबाबू ने वैष्णवचरण आदि पण्डितों की पुनः एक बार सभा बुलायी । इस सभा का यह उद्देश्य था कि श्रीरामकृष्ण की वर्तमान अवस्था के सम्बन्ध में इन नये आये हुए पण्डितजी के साथ शास्त्रार्थ हो । यह सभा श्रीजगदम्बा के सामने सभामण्डप में प्रातःकाल भरी । कलकत्ता से वैष्णवचरण के आने में विलम्ब जानकर श्रीरामकृष्ण गौरी पण्डित को साथ लेकर सभास्थल के लिए पहले ही रवाना हो गये । प्रथम वे श्रीजगन्माता के मन्दिर में गये, और बड़ी भक्ति के साथ श्रीजगदम्बा का दर्शन करके भावावेश में झूमते श्री कालीमन्दिर के बाहर निकल ही रहे थे कि इतने में वैष्णवचरण भी आ पहुँचे और उन्होंने उनके चरणों पर अपना मस्तक रख दिया । यह देखते ही श्रीरामकृष्ण एकाएक भावावेश में समाधिमग्न हो गये और वैष्णवचरण के कन्धे पर बैठ गये । इससे अपने को कृतार्थ समझकर वैष्णवचरण का अन्तःकरण आनन्द से भर गया । वे तत्क्षण संस्कृत श्लोकों की रचना करके श्रीरामकृष्ण की स्तुति करने लगे । श्रीरामकृष्ण की उस समाधिमग्न, प्रसन्न और तेजस्वी मूर्ति को देखकर तथा वैष्णवचरण द्वारा आनन्द के वेग में रचित स्तोत्र को सुनते हुए वहाँ उपस्थित मथुरबाबू आदि लोग भक्तिपूर्ण अन्तःकरण से एक ओर खड़े होकर इस अपूर्व दृश्य को एकटक देखने लगे ! बहुत समय के बाद श्रीरामकृष्ण की समाधि उतरने पर सब लोग उनके

साथ जाकर सभास्थल में बैठ गये।

कुछ समय बाद सभा का कार्य आरम्भ हुआ; परन्तु गौरी पण्डित उसके पहले ही बोल उठे, "वैष्णवचरण पर अभी ही इन्होंने (श्रीरामकृष्ण ने) कृपा की है, इसलिए आज मैं इनसे शास्त्रार्थ नहीं करना चाहता; यदि मैं आज इनसे वादविवाद करूँगा तो निःसन्देह मेरी पराजय होगी। आज वैष्णवचरण के शरीर में दैवी बल का संचार हुआ है और इसके सिवाय मुझे ऐसा दिखता है कि उनका मत भी मेरे ही मत के समान है। श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में जो धारणा मेरी है वही उनकी भी है, तब फिर वादविवाद के लिए गुंजाइश ही कहाँ है?"

तत्पश्चात् कुछ समय तक इधर-उधर की बातें होने के बाद सभा विसर्जित हुई। ऐसा कदापि नहीं था कि गौरी पण्डित वैष्णवचरण से बहस करने में डर गये हों। श्रीरामकृष्ण की संगति में कुछ दिन रहने से उन्हें पूर्ण निश्चय हो गया था कि वे कोई महापुरुष हैं। इस घटना के कुछ दिनों बाद गौरी पण्डित के मन का भाव जानने के लिए श्रीरामकृष्ण एक दिन उनसे बोले, "इधर देखिये, वैष्णवचरण (अपनी ओर उँगली दिखाकर) इस शरीर को अवतार कहता है, क्या यह बात सम्भव है? कहिये, आपकी क्या राय है?"

गौरी पण्डित गम्भीरतापूर्वक बोले, "वैष्णवचरण आपको अवतार कहते हैं? यह तो मानहानि की बात हुई। मेरा तो पूर्ण निश्चय है कि युग युग में जिनके अंश से लोककल्याणार्थ अवतार हुआ करते हैं और जिनकी शक्ति के आश्रय से वे सारे कार्य किया करते हैं, वे ही प्रत्यक्ष आप हैं।" इस पर श्रीरामकृष्ण हँसते हँसते बोले, "अरे बाप रे! आप तो उनसे भी बढ़

गये ! पर आप यह सब किस आधार पर कहते हैं ? आपने मुझमें ऐसी कौन सी बात देखी है ?" गौरी पण्डित बोले, "मैं शास्त्रों से प्रमाण लेकर तथा अपने स्वयं के अनुभव के आधार पर इस विषय में किसी के भी साथ बहस करने को तैयार हूँ।"

श्रीरामकृष्ण छोटे बालक के समान कहने लगे, "बाबा ! आप लोग इतनी बहुत सी बातें कहा करते हैं, पर मैं तो इससे कुछ भी नहीं समझता।" गौरी पण्डित बोले--"वाह ! ठीक ही है। शास्त्रों का भी यही कहना है--स्वयं अपने आपको कोई नहीं जानता। तब भला दूसरे आपको कैसे जानें ? यदि आप ही किसी पर कृपा करेंगे तभी वह आपको जान सकेगा।" पण्डितजी का यह कथन सुनकर श्रीरामकृष्ण हँसने लगे।

श्रीरामकृष्ण के प्रति गौरी पण्डित की भक्ति दिनोंदिन बढ़ने लगी। बहुत दिनों की साधना और शास्त्रविचार श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति से सफल होकर उनके अन्तःकरण में तीव्र वैराग्य का उदय हुआ। उन्होंने सर्वसंगपरित्याग करके अपना तन-मन-धन ईश्वरसेवा में लगाने का निश्चय कर लिया। दक्षिणेश्वर आये उन्हें बहुत दिन बीत चुके थे। इधर उनके घर में यह समाचार पहुँच गया था कि पण्डितजी एक गोसाईं के चक्कर में पड़ गये हैं। इस कारण उन्हें शीघ्र लौटने के लिए घर से पत्र पर पत्र आ रहे थे। उन्होंने यह सोचकर कि "कदाचित् घर के लोग यहाँ भी आकर मुझे संसार में पुनः खींचने का प्रयत्न करें" इस भय से दक्षिणेश्वर छोड़कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय किया। उन्होंने एक दिन श्रीरामकृष्ण के चरणों में अपना मस्तक रखकर गद्गद अन्तःकरण से उनसे बिदा माँगी।

श्रीरामकृष्ण--"अरे यह क्या है ? पण्डितजी ! अकस्मात्

बिदा लेकर आप कहाँ जा रहे हैं ?"

गौरी पण्डित--"मैंने ईश्वरदर्शन किये बिना संसार में पुनः न आने का निश्चय कर लिया है। आप मुझे आशीर्वाद दीजिये कि जिससे मेरी इच्छा पूर्ण हो।"

यह कहकर पण्डितजी दक्षिणेश्वर से चल दिये। पर वे घर नहीं गये और वे कहाँ गये इसका पता किसी को भी नहीं लगा।

२२. विचित्र क्षुधा और गात्रदाह

पिछले अध्याय में हम कह चुके हैं कि यद्यपि श्रीरामकृष्ण के तत्कालीन आचरण और व्यवहार अन्य साधारण मनुष्यों की समझ में ठीक ठीक नहीं आते थे, तथापि वैष्णवचरण, गौरी पण्डित आदि बड़े बड़े शास्त्रज्ञ लोगों की दृष्टि में वे पागल कदापि नहीं दिखते थे, वरन् वे तो उनके मतानुसार अत्यन्त महान् अधिकारी पुरुष--ईश्वरावतार ही थे। स्वार्थी और विषयी लोगों को यदि उनकी अत्युच्च अवस्था का ज्ञान नहीं था, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

इधर भैरवी ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण की अवस्था के बारे में अपने मत की सत्यता का एक उत्तम प्रमाण मिला। भैरवी ब्राह्मणी के दक्षिणेश्वर आने के पूर्व से ही श्रीरामकृष्ण को गात्र-दाह के कारण बड़ा कष्ट हो रहा था। मथुरबाबू ने अनेक वैद्यों से उनकी औषधि करायी, पर कोई लाभ न हुआ। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे, "सूर्योदय से दोपहर तक शरीर की गर्मी लगातार बढ़ती जाती थी, और बारह बजने के समय वह इतनी दुःसह हो जाती थी कि मैं गंगाजी में गले तक सब शरीर को पानी में डुबाये रखता था और माथे पर गीला कपड़ा ढाँक लेता था। इस तरह दो तीन घण्टे तक पानी में बैठकर बिताता था। पानी में अधिक देर तक बैठने से कोई दूसरा रोग लग जाने के भय से इच्छा न होते हुए भी पानी से बाहर निकल आता था, और घर आकर

संगमरमर के फर्श पर गीला कपड़ा बिछा लेता था। फिर किवाड़ बन्द करके उसी पर लोटपोट करता रहता था।"

श्रीरामकृष्ण की इस अवस्था के विषय में ब्राह्मणी का मत बिलकुल भिन्न था। वह मथुरबाबू से बोली—"इतना निश्चित है कि यह कोई रोग नहीं है। श्रीरामकृष्ण के मन में ईश्वरप्रेम की जो प्रचण्ड खलबली मची हुई है उसी का यह परिणाम है। ईश्वरदर्शन की व्याकुलता के कारण यही अवस्था श्रीमती राधा और श्रीचैतन्यदेव की भी होती थी। इस गात्रदाह की अत्यन्त सहज औषधि, सुगन्धित पुष्पों की माला धारण करना और उत्तम चन्दन का सर्वांग में लेप करना है।"

ब्राह्मणी के कहने पर मथुरबाबू आदि को विश्वास तो नहीं हुआ पर वे लोग सोचने लगे कि जहाँ इतनी औषधियाँ दी गयीं, वहाँ एक यह भी उपाय क्यों न कर देखा जाय? यह विचार कर मथुरबाबू ने ब्राह्मणी का बताया हुआ उपचार शुरू कर दिया। आश्चर्य की बात है कि चौथे दिन ही उनका यह अद्भुत गात्रदाह बिलकुल शान्त हो गया।

इसके कुछ दिनों के उपरान्त एक और उपद्रव खड़ा हो गया। पर वह भी ब्राह्मणी के साधारण उपाय से ही दूर हो गया। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "उन दिनों मुझे कुछ दिनों तक विचित्र भूख लगा करती थी, कितना भी खाऊँ पर पेट भरता ही नहीं था। रातदिन लगातार खाने की ही धुन लगी रहती थी और वह किसी भी उपाय से दूर नहीं होती थी। मैं सोचने लगा कि यह नयी व्याधि कहाँ से आ गयी। अतः यह बात मैंने ब्राह्मणी से बतायी। वह बोली, 'बाबा! कोई हानि नहीं। ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में जो साधक होते हैं, उनकी ऐसी अवस्था कभी कभी हुआ

करती है। शास्त्रों में इस बात का वर्णन है। मैं तुम्हारा रोग दूर किये देती हूँ, तुम चिन्ता न करो।' इतना कहकर उसने एक कमरे में बड़ी बड़ी थालियों में भिन्न भिन्न प्रकार के भोज्य पदार्थ मथुरबाबू से भराकर रखवा दिये और वह मुझसे बोली, 'बाबा! तुम अब इसी कमरे में बैठे रहो, और जो मन में आये, आनन्द से चाहे जितना खाते जाओ!' तब मैं उसी कमरे में नित्य बैठने लगा और जब जिस चीज की इच्छा होती वही खाने लगा! इस प्रकार तीन दिन बीतने पर मेरी उस विचित्र क्षुधा का समूल नाश हो गया। तब कहीं मेरे प्राण बचे।"

श्रीरामकृष्ण के जीवन में इस प्रकार विचित्र क्षुधा के कई उदाहरण पाये जाते हैं। उनमें से यहाँ कुछ का उल्लेख करना अप्रासंगिक न होगा।

पीछे बता चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण की तपस्या का सम्पूर्ण काल बारह वर्ष रहा। अत्यन्त कठोर तपश्चर्या के कारण उनका वज्र अंग और दृढ़ शरीर भी ढीला पड़ गया था। ऐसी स्थिति में वे कुछ वर्षों तक प्रत्येक चातुर्मास्य में अपनी जन्मभूमि में जाकर रहा करते थे।

एक साल वे इसी तरह चातुर्मास्य में कामारपुकुर गये हुए थे। एक रात को लगभग बारह बजे श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आये हुए लोग उठकर अपने अपने घर चले गये थे। घर के सब लोग भी सो चुके थे। उन दिनों श्रीरामकृष्ण मन्दाग्नि और पेटदर्द का विकार होने के कारण रात्रि के समय बिलकुल हलका और थोड़ासा जलपान कर लिया करते थे। उस रात को भी वे थोड़ासा ही कुछ खाकर सोये थे।

श्रीरामकृष्ण लगभग बारह बजे अपने कमरे का दरवाजा

खोलकर भावावेश में झूमते हुए अचानक बाहर आये और रामलाल भैया की माता आदि स्त्रियों को पुकारकर कहने लगे, "अरे तुम सब अभी सो गयीं ? हमें खाने के लिए बिना दिये ही सब सो गयीं ?" रामलाल की माँ बोली, "अरे यह क्या है ? तुमने अभी तो खाया है।" श्रीरामकृष्ण बोले, "मैंने अभी कहाँ खाया ? मैं तो यहाँ दक्षिणेश्वर से अभी चला आ रहा हूँ। तुम लोगों ने मुझे खाने के लिए दिया ही कब ?"

यह सुनकर सभी स्त्रियाँ चकित होकर एक दूसरे के मुँह की ओर ताकने लगीं। वे सब समझ गयी कि श्रीरामकृष्ण यह सब भावावेश में कह रहे हैं। पर अब इसका क्या उपाय किया जाय ? घर में तो अब इन्हें खाने के लिए देने लायक कोई चीज नहीं है। तब फिर कैसे बने ? अन्त में बेचारी रामलाल की माता डरती डरती बोली, "देखो भला ! अब तो रात हो गयी है; अब इस समय घर में खाने की कोई चीज नहीं बची है। कहो तो थोड़ा-सा चिउड़ा ला दूँ।" और उनके उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही उसने एक थाली में थोड़ासा चिउड़ा लाकर उनके सामने रख दिया जिसे देखकर श्रीरामकृष्ण गुस्से में आ गये और थाली की ओर पीठ करके बैठ गये और छोटे बालक के समान कहने लगे, "नहीं खाते तेरा चिउड़ा, जा। खाली चिउड़ा क्या खायें ?" उसने उन्हें बहुत समझाया कि "तुम्हारा स्वास्थ्य ठीक नहीं है, और खाओगे तो तुम्हें पचेगा नहीं; भला ! बाजार से ही कुछ लाया जाय तो अब इतनी रात को दुकानें सब बन्द हो गयी हैं, इसलिए अभी तो यह चिउड़ा ही खाकर सो जाओ, और सबेरे उठते ही भोजन बनाकर खिला दूँगी।" पर यह सब सुने कौन ! उनका तो छोटे बालक के समान एक ही हठ था--"खाली चिउड़ा हम

नहीं खाते, जा !"

अन्त में इन्हें किसी तरह न मानते देख रामलाल भैय्या उठे और वे उसी समय बाजार जाकर एक परिचित हलवाई को सोते से जगाकर उससे एक सेर मिठाई खरीद लाये। रामलाल की माँ ने वह मिठाई और साधारण मनुष्य के फलाहार योग्य चिउड़ा दोनों चीजों को एक थाली में रखकर उनके सामने रख दिया। मिठाई देखकर श्रीरामकृष्ण को बड़ा आनन्द हुआ। सब मिठाई और चिउड़ा वे उसी समय साफ कर गये। अब सब डरने लगे कि इनकी पेट की पीड़ा जरूर बढ़ेगी और ये बीमार पड़ेंगे। पर आश्चर्य की बात यह हुई कि इससे उन्हें कोई हानि नहीं हुई।

एक दिन दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण लगभग दो बजे रात को अपने कमरे से जल्दी जल्दी बाहर निकले और रामलाल दादा को पुकारकर कहने लगे--"दादा ! मुझे बड़ी भूख लगी है। कुछ खाने को मिले तो देखो।" रामलाल दादा ने नौबतखाने में जाकर यह समाचार माताजी को दिया। माताजी ने तुरन्त चूल्हा जलाया और लगभग एक सेर हलुआ तैयार किया। उस दिन एक स्त्री भक्त श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए वहाँ आयी थी। वह नौबतखाने में माताजी के कमरे में ही सोयी थी। उस स्त्री को उठाकर उसी के हाथ हलुए की थाली माताजी ने श्रीरामकृष्ण के पास भेज दी। श्रीरामकृष्ण तुरन्त खाने बैठ गये और भावावस्था में सब हलुआ खा गये। यह देखकर उस स्त्री को बड़ा अचरज हुआ। खाते खाते वे उस स्त्री से पूछने लगे, "यह हलुआ कौन खा रहा है बता भला ? मैं खाता हूँ या कोई दूसरा ?" स्त्री बोली, "मुझे मालूम पड़ता है कि आपके भीतर कोई अन्तर्यामी है वही यह खा रहा है।"

"वाह ! ठीक कहा !" ऐसा कहकर श्रीरामकृष्ण हँसने लगे।

ऐसी विचित्र क्षुधा के कई प्रसंगों का उल्लेख किया जा सकता है। यह सदा दिखायी देता था कि प्रबल भावतरंगों के कारण श्रीरामकृष्ण के शरीर में बहुत उथल-पुथल मचा करती थी जिससे उस समय ऐसा भास होता था कि, "ये श्रीरामकृष्ण नहीं हैं, कोई दूसरे ही व्यक्ति हैं।" उस समय उनके आहार-व्यवहार, चाल-चलन सब कुछ बिलकुल बदल जाते थे; परन्तु इस उमड़े हुए मानसिक भाव के दूर होने पर भी उस विचित्र आचरण के कारण उन्हें कोई भी शारीरिक विकार नहीं उत्पन्न होता था। भीतर रहने वाला मन ही हमारे स्थूल शरीर का प्रतिक्षण निर्माण करता है, विनाश करता है और उसे नया आकार देता है--पर यह बात बारम्बार सुनकर भी हमें निश्चय नहीं होता। समझ लेने पर हमें यह नहीं जँचता, परन्तु श्रीरामकृष्ण के जीवन की भिन्न भिन्न घटनाओं पर जितना ही अधिक विचार किया जाय, यह सिद्धान्त उतना ही अधिक सत्य प्रतीत होता है। अस्तु–

ब्राह्मणी के इन सरल उपायों से श्रीरामकृष्ण के गात्रदाह और क्षुधारोग को दूर होते देख उसके प्रति मथुरबाबू और अन्य लोगों के मन में बड़ा आदरभाव उत्पन्न हो गया और अपनी धारणा को सत्य सिद्ध होते देखकर ब्राह्मणी के मन में भी समाधान हुआ। स्वयं उस ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण के महापुरुष होने के विषय में तो कोई शंका ही नहीं थी, क्योंकि उनकी साधना में सहायता करने के लिए उनके पास जाने का आदेश उसे श्रीजगदम्बा द्वारा ही हुआ था। पर उसे इस विषय में दूसरों का भी कुछ निश्चय होते देख सन्तोष हुआ।

उस ब्राह्मणी के निरीक्षण में श्रीरामकृष्ण ने जो तान्त्रिक

साधनाएँ कीं, उनका कुछ वर्णन करने के पूर्व स्वयं ब्राह्मणी और उसके बताये हुए दोनों साधकों का वृत्तान्त अगले प्रकरण में दिया जाता है ।

---

२३. ब्राह्मणी, चन्द्र और गिरिजा का वृत्तान्त

श्रीरामकृष्ण की साधनाकालीन घटनाओं में एक बात विशेष रूप से प्रधान दिखायी देती है। वह यह है कि उन्हें किसी भी धर्ममतसाधना के समय गुरु की खोज नहीं करनी पड़ती थी--गुरु ही स्वयं उनके पास दौड़ आते थे। तान्त्रिक साधना के समय, वात्सल्यभावसाधना के समय, वेदान्तमत की साधना के समय तथा इस्लाम धर्म आदि की साधनाओं के समय उन मतों के सिद्ध पुरुषों का दक्षिणेश्वर में स्वयं ही आगमन हुआ है। श्रीरामकृष्ण सदा कहते थे--"ईश्वर पर ही सब भार समर्पण करके उसके दर्शन के लिए व्याकुलता से उसी की प्रार्थना करते रहना चाहिए। ऐसा करने से सब व्यवस्था वही कर देता है।" और सचमुच ऐसा ही यहाँ भी हुआ।

श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से ऐसा सुनने में आया है कि ब्राह्मणी का जन्म पूर्व बंगाल के किसी स्थान में हुआ था। उसे देखते ही ऐसा प्रतीत होता था कि इसका जन्म किसी उच्च कुल में हुआ होगा। परन्तु वह कौन कुल था अथवा उसकी ससुराल कहाँ थी, और किस घराने में थी अथवा इतनी प्रौढ़ अवस्था में संन्यासिनी होकर देश-विदेश भ्रमण करने के लिए कौनसा कारण आ पड़ा, या उसे इतनी शिक्षा कब, कहाँ और कैसे प्राप्त हुई, उसने अपनी उन्नति कैसे और कहाँ की--इत्यादि किसी भी बात का पता हमें नहीं चला। इन सब बातों का जिक्र श्रीरामकृष्ण से भी

कभी नहीं निकला। साधनाओं में वह अत्यन्त उच्च पद को पहुँच चुकी थी, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। उसे प्रत्यक्ष श्रीजगन्माता से ही श्रीरामकृष्ण को सहायता देने का आदेश मिला था। गुण और रूप में यह ब्राह्मणी असाधारण थी। श्रीरामकृष्ण कहा करते थे––"ब्राह्मणी के अलौकिक रूप-लावण्य तथा उनके एकान्त निवास और स्वतन्त्र वृत्ति को देखकर पहले-पहल मथुरबाबू के मन में संशय उत्पन्न हुआ। एक दिन जब वह श्रीजगन्माता का दर्शन करके मन्दिर से बाहर निकल रही थी उस समय दिल्लगी में उससे मथुरबाबू कह भी गये कि 'भैरवी! तेरा भैरव कहाँ है?' मथुरबाबू का ऐसा अचानक प्रश्न सुनकर किंचिदपि क्रुद्ध न होकर उसने मथुरानाथ की ओर शान्तिपूर्ण दृष्टि डाली और जगदम्बा के पैर के नीचे शवरूप* में पड़ी हुई महादेव की मूर्ति की ओर वहीं से उँगली से निर्देश किया। पर संशयी और विषयी मथुर क्या इतने से चुप रह सकते थे? उन्होंने कहा––'अरी! वह भैरव तो अचेतन है!' इसे सुनकर ब्राह्मणी ने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया––'मुझे यदि अचेतन को चेतन करते नहीं बनता तो मैं फिर इतनी बड़ी भैरवी हुई किस लिए?' यह शान्त और गम्भीर उत्तर पाकर मथुरबाबू शरमा गये और ब्राह्मणी से इस प्रकार अनुचित दिल्लगी करने का उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। आगे चलकर ब्राह्मणी के अलौकिक गुण और स्वभाव का परिचय पाकर उनके मन से यह कुशंका दूर हो गयी।"

श्रीरामकृष्ण से प्रथम भेंट के समय ही ब्राह्मणी ने उन्हें चन्द्र

*महादेव शवरूप में पड़े हुए हैं और जगदम्बा उनकी छाती पर पैर रखकर खड़ी है––दक्षिणेश्वर की कालीमूर्ति इसी प्रकार की है।

और गिरिजा के बारे में बताया था। वह बोली "बाबा, तुममें से दो जनों से तो भेंट इसके पहले हो चुकी है और आज इतने दिनों तक खोजते रहने के बाद तुम मिले हो। आगे किसी समय उन लोगों से तुम्हारी भेंट करा दूँगी।" तत्पश्चात् कुछ दिनों में सचमुच ही उसने चन्द्र और गिरिजा को दक्षिणेश्वर में बुलवाकर उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट कर दी। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि ये दोनों ही उच्च कोटि के साधक थे, परन्तु साधना के मार्ग में बहुत उन्नति करने पर भी उन्हें ईश्वरदर्शन का सुयोग प्राप्त नहीं हुआ।

श्रीरामकृष्ण कहा करते थे––"चन्द्र बड़ा प्रेमयुक्त और भक्तिपूर्ण ईश्वरभक्त था। उसे गुटिका सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। अभिमन्त्रित गुटिका अपने शरीर में धारण कर लेने पर वह किसी को दिखायी नहीं पड़ता था। मनुष्य को इस प्रकार की कोई सिद्धि मिल जाने से अहंकार उत्पन्न हो जाता है, अहंकार के साथ साथ मन में नाना प्रकार की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और उन वासनाओं के जाल में फँसते ही मनुष्य अपने उच्च ध्येय से च्युत हो जाता है। अहंकारवृद्धि का अर्थ ही पुण्य का ह्रास और पाप की वृद्धि है और अहंकार का ह्रास ही पुण्य की वृद्धि तथा पाप का ह्रास कहलाता है। अहंकार के बढ़ने से ही धर्म की हानि होती है और अहंकार के नाश होने से ही धर्म का लाभ होता है। स्वार्थपरता का मतलब पाप और स्वार्थनाश का अर्थ पुण्य है।" इन बातों को श्रीरामकृष्ण ने हमें भिन्न भिन्न रीति से कितनी बार समझाया। वे कहते थे, "भाइयो! अहंकार को ही शास्त्रों में चिज्जड़ग्रन्थि कहा है। चित् का अर्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा और जड़ का अर्थ देह, इन्द्रिय आदि। इन दो भिन्न भिन्न वस्तुओं को

अहंकार एक गाँठ में बाँधकर मनुष्य के मन में 'मैं देहेन्द्रिय बुद्धि आदि विशिष्ट जीव हूँ' यह भ्रम उत्पन्न कर देता है। ऐसा भ्रम चित् और जड़ वस्तुओं की गाँठ छूटे बिना दूर नहीं होता। इस (अहंकार) का त्याग करना चाहिए। माता ने मुझे बता दिया है कि सिद्धियाँ विष्ठा के समान हैं। उनकी ओर मन को कदापि नहीं दौड़ाना चाहिए। साधना करते हुए कभी कभी सिद्धियाँ आप ही आप प्राप्त हो जाती हैं, परन्तु निश्चय जानो कि उनकी ओर ध्यान देते ही साधक की उन्नति कुण्ठित हो जाती है।"

विवेकानन्दजी को साधना करते समय एक बार दूर का दर्शन और दूरश्रवण की शक्ति अकस्मात् प्राप्त हो गयी। वे ध्यान करते समय किसी समय दूर स्थान में किसी के भी बोलने के शब्दों को जान जाते थे। दो-तीन दिन के बाद जब उन्होंने यह बात श्रीरामकृष्ण को बतायी, तब वे बोले, "सिद्धियाँ ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में विघ्नरूप हैं, तू कुछ दिनों तक ध्यान ही मत किया कर।" अस्तु--

गुटिका सिद्धि प्राप्त हो जाने के कारण चन्द्र के मन में अहंकार उत्पन्न हुआ और किसी धनी व्यक्ति की कन्या पर आसक्त होकर वह अपनी सिद्धि के बल पर उसके पास आने-जाने लगा। इस प्रकार अहंकार और स्वार्थपरता की वृद्धि होने से क्रमशः उसकी सिद्धि नष्ट हो गयी और बाद में उसकी अनेक प्रकार से फजीहत हुई।

गिरिजा† को भी इसी तरह अलौकिक शक्ति प्राप्त हो गयी थी। एक दिन श्रीरामकृष्ण गिरिजा के साथ शम्भु मल्लिक के बगीचे में घूमने गये थे। शम्भु मल्लिक का श्रीरामकृष्ण पर बहुत प्रेम था। श्रीरामकृष्ण की किसी भी प्रकार की सेवा करने का

†इनका नाम सम्भवतः "गिरिजानाथ" या "गिरिजाशंकर" होगा।

अवसर पाकर वे अपने को धन्य मानते थे। उन्होंने माताजी के निमित्त पास ही में कुछ जमीन खरीद कर वहाँ एक छोटा सा घर बनवा दिया था। जब माताजी गंगास्नान के लिए या श्रीरामकृष्ण के दर्शन के लिए आती थीं तब वे उसी घर में कई बार रहती थीं। शम्भु मल्लिक की पत्नी माताजी की पूजा उन्हें देवता मानकर किया करती थीं। मथुर के बाद कितने ही समय तक श्रीरामकृष्ण के कलकत्ता जाने-आने का किराया शम्भुबाबू ही देते थे। उन्हें किसी वस्तु की आवश्यकता होने पर वे उसकी पूर्ति तुरन्त कर दिया करते थे। मथुरानाथ के बाद श्रीरामकृष्ण की सेवा का अधिकार शम्भुबाबू को ही प्राप्त हुआ था। श्रीरामकृष्ण शम्भुबाबू को अपना द्वितीय "देह-रक्षक" (Body-guard) कहा करते थे। उनका बगीचा कालीमन्दिर के समीप रहने के कारण श्रीरामकृष्ण वहाँ हमेशा घूमने जाते थे और शम्भुबाबू से घण्टों ईश्वर सम्बन्धी बातचीत करके वापस आते थे। अस्तु--

उस दिन श्रीरामकृष्ण और गिरिजा वहाँ घूमने गये। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "भक्तों का स्वभाव गँजेड़ी के समान होता है। गँजेड़ी चिलम को गाँजे से भरकर और उसका स्वयं दम लगाकर फिर उसे दूसरे को देता है। पास में कोई दूसरा गँजेड़ी न रहने से उसे अकेले पी लेने से अच्छा नशा नहीं आता है और उसका समाधान भी नहीं होता। भक्तों की भी यही दशा होती है। जब दो भक्त एक स्थान में मिलते हैं तब उनमें से एक ईश्वरीय कथाप्रसंग में तन्मय और आनन्दमय होकर चुप बैठ जाता है और दूसरे को भगवद्वार्ता कहने का अवसर देता है और उससे कथा सुनकर अपने आनन्द में अधिक मग्न हो जाता है।" उस दिन भी ऐसा ही हुआ। किसी को ध्यान नहीं रहा कि

ईश्वरीय कथाप्रसंग में कितना समय बीत गया। सन्ध्याकाल व्यतीत होकर एक प्रहर रात्रि भी बीत गयी। तब कहीं श्रीरामकृष्ण को वापस जाने की याद आयी! वे शम्भुबाबू से विदा लेकर गिरिजा के साथ वापस लौटे और कालीमन्दिर की राह से जाने लगे, पर रात बहुत हो जाने के कारण इतना अँधेरा था कि हाथ पकड़ा हुआ आदमी भी नहीं सूझता था। वे रास्ता भूल गये जिससे पग पग पर उन्हें चोट लगने लगी। श्रीरामकृष्ण गिरिजा का हाथ पकड़कर किसी तरह धीरे धीरे गिरते-पड़ते चले जा रहे थे, पर इससे उन्हें अत्यन्त कष्ट हो रहा था। यह देखकर गिरिजा बोला, "दादा! थोड़ा खड़े रहो, मैं तुम्हें प्रकाश दिखलाता हूँ।" यह कहकर पीठ फेरकर वह खड़ा हो गया और उसकी पीठ से प्रकाश की लम्बी लम्बी किरणों के बाहर निकलने से उस रास्ते पर अच्छा उजाला हो गया। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "उस प्रकाश से कालीमन्दिर के फाटक तक सब रास्ता बिलकुल प्रकाशित हो गया और उसी उजाले में मैं उस रास्ते से चला आया।" इतना कहकर श्रीरामकृष्ण जरा हँसे और पुनः बोले, "परन्तु गिरिजा की यह शक्ति इसके आगे बहुत दिनों तक नहीं टिकी। यहाँ कुछ दिनों के मेरे सहवास से वह सिद्धि नष्ट हो गयी।" इसका कारण पूछने पर उन्होंने कहा--"उसके कल्याण के लिए माता ने उसकी उस सिद्धि को (अपनी ओर उँगली दिखाकर) इस शरीर में आकृष्ट कर दिया। तदुपरान्त उसका मन सिद्धियों से उचटकर ईश्वरमार्ग में अधिकाधिक अग्रसर होने लगा।"

---

२४. श्रीरामकृष्ण की तन्त्रसाधना
(१८६१–६३)

"मुख्य मुख्य चौसठ तन्त्रों में जो साधनाएँ बतलायी गयी हैं, उन सभी साधनाओं का अभ्यास मुझसे ब्राह्मणी ने एक के बाद एक कराया। कितनी कठिन हैं वे साधनाएँ। उन साधनाओं का अभ्यास करते समय बहुतेरे साधक पथभ्रष्ट हो जाते हैं, पर माता की कृपा से मैं उन सभी साधनाओं को पार कर सका।"

"मुझे किसी भी साधना के लिए तीन दिन से अधिक समय नहीं लगा।"

—श्रीरामकृष्ण

जिस समय दक्षिणेश्वर में भैरवी ब्राह्मणी का आगमन हुआ उस समय श्रीरामकृष्ण को श्रीजगदम्बा का दर्शन हो चुका था। उस समय उनका अधिकार बहुत बड़ा था और साधना करने का जो उद्देश्य हुआ करता है वह तो उन्हें सिद्ध ही हो चुका था। अब दो प्रश्न सहज ही उठते हैं:—(१) जब उन्हें ईश्वरदर्शन हो चुका था तो फिर साधना करने की क्या आवश्यकता थी, और (२) ब्राह्मणी को इतनी सब खटपट करने का क्या काम था?

इनमें से प्रथम प्रश्न का उत्तर देना बहुत कठिन है। ईश्वर-दर्शन के बाद उन्हें साधना करने की आवश्यकता के सम्बन्ध में

स्वयं श्रीरामकृष्ण ने समय समय पर भिन्न भिन्न कारण बताये हैं।

(१) एक बार उन्होंने कहा--"वृक्षलतादिकों का साधारण नियम है कि उनमें प्रथम पुष्प तदुपरान्त फल लगते हैं, परन्तु उनमें से एकआध में पहले फल आते हैं, फिर फूल निकलते हैं। मेरे सम्बन्ध में भी यही हुआ।" परन्तु इस पर भी 'ऐसा क्यों हुआ ?' यह प्रश्न शेष ही रह जाता है।

(२) और एक समय उन्होंने कहा--"यह देखो। कभी कभी समुद्र के किनारे रहनेवाले को रत्नाकर के रत्नों को देखने की इच्छा होती है। उसी प्रकार माता की कृपा हो जाने पर मुझे भी ऐसा लगता था कि सच्चिदानन्द-सागर में भरे हुए रत्नों को देखना चाहिए। इसी कारण मैं रत्नों को देखने के लिए माता के पास हठ करके बैठ जाता था और मेरी परम कृपालु माता मेरे तीव्र आग्रह को देखकर मेरा हठ पूरा कर देती थी : इस प्रकार भिन्न भिन्न धर्मों की साधनाएँ मेरे हाथ से हुईं।" उनके इस कथन का यही अर्थ दिखता है कि उहोंने इन भिन्न भिन्न धर्मों की साधनाएँ केवल जिज्ञासा या कुतूहल के कारण की थीं।

(३) एक बार और भी उन्होंने कहा--"स्वरूप में मेरे ही समान एक तरुण संन्यासी (अपनी ओर उँगली दिखाकर) इस देह से कभी कभी बाहर निकलकर मुझे सभी विषयों का उपदेश देता था....उसके मुख से मैंने जो सुना था उसी का उपदेश न्यांगटा और ब्राह्मणी ने आकर एक बार मुझे पुनः दिया.... इससे यह मालूम होता है कि वेद, शास्त्र आदि में वर्णित विधियों की मर्यादा रक्षण करने के लिए ही इन्हें गुरुस्थान में

मानकर उनसे मुझे पुनः उपदेश ग्रहण करना पड़ा, अन्यथा सब कुछ पहले से ही मालूम रहते हुए भी पुनः वही बातें सिखाने के लिए न्यांगटा आदि का गुरुरूप में आने का कोई प्रयोजन नहीं दिखायी देता।'' इससे यही कहना पड़ता है कि ईश्वरदर्शन के बाद की उनकी साधनाएँ केवल शास्त्रमर्यादा-रक्षणार्थ थी; वैसे तो उन्हें स्वयं उन साधनाओं की आवश्यकता ही नहीं थी।

(४) उसी तरह उन्होंने स्वयं यह भी कहा है कि ''मुझे उस समय अनेक ईश्वरी रूपों के दर्शन हुआ करते थे, परन्तु मुझे शंका थी कि कहीं सब मेरे दिमाग का भ्रम तो नहीं है! इसीलिए यह सच है या झूठ, इसकी जाँच करने के लिए मैं कहता था कि 'अमुक बात हो जायगी तब मैं इस दर्शन को सच मानूँगा,' और यथार्थ ही वह बात हो जाती थी।'' इसके उदाहरणार्थ वे बताते थे--''एक बार मैं बोला--यदि रानी रासमणि की दोनों लड़कियाँ* इस समय यहाँ पंचवटी के नीचे खड़ी होकर मुझे पुकारेंगी, तो मैं इन सब बातों को सत्य समझूँगा। वे लड़कियाँ उसी समय वहाँ आ गयीं और मुझे पुकारकर कहने लगीं, 'तुम पर जगदम्बा शीघ्र ही कृपा करेगी।' फिर मैंने वैसे ही एक बार और कहा, 'यदि सामने के पत्थर मेंढक के समान इधर उधर उछलने लगेंगे तो मैं अपने दर्शन को सत्य समझूँगा!' सचमुच ही वे पत्थर मेंढक के समान कूदते हुए दिखाई दिये!'' इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि श्रीरामकृष्ण को जो दर्शन या अनुभव होते थे उनकी सत्यता या असत्यता के सम्बन्ध में उन्हें बड़ी प्रबल शंका बारम्बार हुआ करती थी।

---

*रानी के यहाँ परदे की प्रथा होने के कारण घर की स्त्रियाँ कभी बाहर नहीं जाती थीं।

उपरोक्त वचनों की एकवाक्यता करने के लिए नीचे लिखी बातें ध्यान में रखनी चाहिए। उनके वचनों से यह स्पष्ट दिखता है कि––

१. ईश्वरदर्शन के पश्चात् कुछ समय तक तो वे अपने प्राप्त हुए अनुभवों के सम्बन्ध में नि:शंक नहीं हुए थे।

२. ब्राह्मणी, तोतापुरी आदि ने उनसे जो साधनाएँ करवायीं उनका फलाफल उन्हें पहले ही विदित हो गया था।

३. श्रीजगदम्बा के दर्शन होने के बाद उन्होंने अन्य मतों की साधनाएँ केवल कुतूहल से––अन्य मतों में बतायी हुई बातों को देखने की सहज इच्छा से की थीं।

इसे ध्यान में रखते हुए उनके ईश्वरदर्शन के बाद की साधनाओं के कारणों की मीमांसा करने पर यह कहा जा सकता है कि श्रीजगदम्बा के दर्शन के बाद उन्हें जो आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त होने लगे उनके बारे में उनका मन सशंक ही रहा करता था, अत: उनके संशय की निवृत्ति करने की बड़ी आवश्यकता थी। उनके शरीर से बाहर निकलकर उन्हें उपदेश देने वाले संन्यासी ने यही काम किया, जिससे उनका मन संशयरहित हो गया। बाद में ब्राह्मणी और श्री तोतापुरी आदि गुरुजनों के उपदेश के अनुसार श्रीरामकृष्ण ने साधनाएँ केवल कुतूहल से कीं––अथवा दूसरे शब्दों में यह उनका देह-प्रारब्ध था। यह भी हो सकता है कि बंगदेश में विशेष प्रचलित तथा आधुनिक काल में अधिक लाभप्रद तन्त्र-सम्प्रदाय को कायम रखने और उत्तेजन देने के लिए श्रीजगदम्बा ने इस महापुरुष को उपयोगी जानकर इन साधनाओं को करने की उन्हें आज्ञा दी हो।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः ।
आत्मन्येव च सन्तुष्टः तस्य कार्यं न विद्यते ॥

—गीता ३।१७

ऐसे अधिकारी सत्पुरुषों द्वारा धर्मसंस्थापन के कार्य में समय समय पर की गयी योजना जगन्नियन्ता के द्वारा की हुई देखने में आती है । इन्द्र, मनु, वसिष्ठ, व्यास आदि नाम एक ही व्यक्ति के नहीं हैं, वरन् समय समय पर विशिष्ट कार्य करने के लिए नियुक्त किये हुए भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को, उन-उन अधिकारों के प्राप्त होने पर वे नाम मिला करते हैं । यह बात पुराण, योगवासिष्ठ, शारीरक-भाष्य आदि ग्रन्थों में पायी जाती है । इससे विदित है कि सत्पुरुषों को विशिष्ट कार्य करने के लिए नियुक्त करना जगन्नियन्तृत्व की सदा से प्रचलित पद्धति है । सम्भव है इसी पद्धति के अनुसार श्रीरामकृष्ण की योजना तान्त्रिक सम्प्रदाय की शुद्ध परम्परा कायम रखने के लिए, और उसका विशेष प्रचार भी करने के लिए, श्रीजगन्माता ने की होगी । श्रौतकर्म में अमुक अन्न, अमुक वृक्ष की समिधा आदि सामग्रियाँ तथा विशिष्ट कुण्ड, मण्डप, यूप, वेदी और विधान की भिन्न भिन्न यज्ञयागों में आवश्यकता होती है । तान्त्रिक उपासना में भी दिखता है कि अन्तर्याग की पूर्ति के लिए, उसके अंगस्वरूप बाह्यविधान में ब्राह्मणी द्वारा उपयोग किये हुए भिन्न भिन्न पदार्थों की आवश्यकता अपरिहार्य थी । इसी कारण ऐसा दिखता है कि जगन्माता की इच्छा को पूर्ण करने के उद्देश्य से श्रीरामकृष्ण तान्त्रिक साधनाकाल में विधिवाक्य और ब्राह्मणी की आज्ञा के अनुसार वैसे ही चुपचाप आचरण करते जाते थे जैसे कि बगीचे का माली पानी को इच्छानुसार चाहे जिस ओर ले जाता है ।

इस दृष्टिकोण से विचार करने पर यह समस्या बहुत कुछ हल हो जाती है कि श्रीरामकृष्ण ने ईश्वरदर्शन के उपरान्त पुनः साधनाएँ क्यों कीं। इसी प्रश्न पर प्रस्तावना में भिन्न दृष्टि से विचार किया गया है।

इसी प्रकार, दूसरे प्रश्न का भी एक स्पष्ट उत्तर नहीं दिया जा सकता। ब्राह्मणी के कथनानुसार जब वे अवतार थे, तब ब्राह्मणी को ऐसा क्यों मालूम हुआ कि उन्हें साधारण जीवों के समान साधना करनी चाहिए। इससे यही कहना पड़ता है कि ब्राह्मणी को यदि उनके ऐश्वर्य का ज्ञान सदा ही बना रहता तो उनके साधनाओं की आवश्यकता का भाव उसके मन में आना ही सम्भव नहीं था, पर वैसा नहीं हुआ। हम पहले ही बता चुके हैं कि प्रथम भेंट के समय से ही ब्राह्मणी के मन में श्रीराम-कृष्ण के प्रति पुत्र के समान प्रेम उत्पन्न हो गया था; और उसके इस अपत्यप्रेम ने श्रीरामकृष्ण के ऐश्वर्य-ज्ञान को भुला दिया था। श्रीरामचन्द्र, श्रीकृष्ण आदि अवतारी पुरुषों के चरित्र में भी यही बात पायी जाती है। उनकी माता और अन्य निकट सम्बन्धियों के मन में उनके अवतार होने का और आध्यात्मिक ऐश्वर्य का ज्ञान यद्यपि बीच बीच में उत्पन्न हो जाया करता था, तथापि वे प्रेम के अद्भुत आकर्षण से उनकी महिमा को थोड़े समय में भूल जाते थे। यही हाल ब्राह्मणी का भी हुआ होगा। उनके अलौकिक भावावेश और शक्ति के प्रकाश को देखकर ब्राह्मणी बार-म्बार चकित हो जाती थी, पर उनके अकृत्रिम मातृप्रेम, पूर्ण विश्वास और अत्यन्त सरल बर्ताव को देखकर, उसके मन में वात्सल्यभाव जागृत हो उठता था। वह उनकी महिमा को भूल जाती थी। वह हर प्रकार के कष्ट सहकर उन्हें थोड़ा सा ही

सुख देने के लिए, दूसरों के कष्ट से उनका बचाव करने के लिए और उनकी साधनाओं में सभी प्रकार की सहायता करने के लिए सदा कटिबद्ध रहती थी।

इस प्रश्न पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार हो सकता है। तीन ऋणों में से एक ऋषिऋण चुकाने के लिए जैसे स्वाध्याय और प्रवचन, अध्ययन और अध्यापन ब्राह्मण के लिए आवश्यक हैं, वैसे ही साम्प्रदायिक मार्ग का विच्छेद न होने देना भी प्रत्येक अधिकारी साधक का कर्तव्य है। इस सिद्धान्त के अनुसार ब्राह्मणी को श्रीरामकृष्ण जैसे अधिकारी सच्छिष्य मिलने से उसे अपने कर्तव्य को पूर्ण करने की इच्छा हुई होगी। साधारणतः मनुष्य की इच्छा रहती भी है कि अपने प्रिय विषय का अपने ही साथ नाश न हो जाय। उसका उपयोग अपने आप्त, इष्ट, प्रियजनों में अपने जीते जी तथा बाद में भी हो सके। ऐसी ही भावना से प्रेरित होकर लोग मृत्युपत्र का लिख देना, दत्तक पुत्र लेना आदि उपायों का अवलम्बन किया करते हैं। इसी भावना से तो विश्वामित्र जैसे महान् तपस्वी भी यज्ञरक्षा के बहाने श्रीरामचन्द्र जैसे अवतारी पुरुष को माँगकर ले गये थे और उन्हें सब अस्त्रविद्या सिखलायी जिसका वर्णन आदिकवि के जगद्वन्द्य काव्य में मिलता है। सम्भव है उसी भावधारा में बहकर ब्राह्मणी ने भी इतनी खटपट की हो।

सच्छिष्य मिलने पर गुरु को बड़ा समाधान होता है। ब्राह्मणी को यह कल्पना न थी कि आधुनिक काल में उसे श्रीरामकृष्ण जैसे सच्छिष्य की प्राप्ति होगी। अतः श्रीरामकृष्ण को शिष्य पाकर उसे जो आनन्द हुआ होगा, उसकी कल्पना नहीं की जा सकती। उस ब्राह्मणी को अपने इतने दिनों की साधना और

तपश्चर्या का फल कम से कम समय में किसी तरह श्रीरामकृष्ण के हवाले कर देने की धुन लग गयी।

श्रीरामकृष्ण ने साधना प्रारम्भ करने के पूर्व ही उसके सम्बन्ध में श्रीजगन्माता की अनुमति प्राप्त कर ली थी; वह बात उन्होंने स्वयं ही हमको बतायी थी। अतः एक बार श्रीजगन्माता की अनुमति प्राप्त करके साधना करने का निश्चय हो जाने पर एक तो श्रीरामकृष्ण का उत्साह और फिर ब्राह्मणी की उत्तेजना! बस; दोनों का संयोग हो गया। उन्हें साधना के सिवाय कोई दूसरी बात सूझती ही न थी। निरन्तर उन्हें इसी बात की व्याकुलता रहने लगी। इस व्याकुलता की तीव्रता का अनुमान हम जैसे साधारण मनुष्य कर ही नहीं सकते; क्योंकि हमारा मन अनेक प्रकार के विचारों से विचलित रहा करता है। ऐसी अवस्था में उसमें श्रीरामकृष्ण के समान उपरति और एकाग्रता कैसे रह सकती है? आत्मस्वरूपी समुद्र की ऊपरी चित्र-विचित्र तरंगों में ही केवल न बहकर उस समुद्रतल के रत्नों को प्राप्त करने के लिए उसमें एकदम डुबकी लगाने का असीम साहस हममें कहाँ से पाया जाय? श्रीरामकृष्ण हमसे कहते थे कि "एकदम डुबकी लगाकर बैठ जाओ", "आत्मस्वरूप में लीन हो जाओ।" जिस तरह वे बारम्बार उत्तेजित करते थे, उस तरह संसार के पदार्थ तथा अपने शरीर की ममता को दूर फेंककर एकदम आत्मस्वरूप में कूदकर विलीन हो जाने की शक्ति हममें कहाँ से प्राप्त हो? वे तो हृदय की असह्य वेदना से व्याकुल होकर "माता, मुझे दर्शन दे" कहते हुए रोते और चिल्लाते, पंचवटी के नीचे अपना मस्तक तक रगड़ डालते थे और धूल में इधर-उधर लोटने लगते थे। बहुत समय तक यह क्रम चलते रहने पर भी उनकी व्याकुलता

कम नहीं पड़ी थी । जब हम ऐसी बात सुनते हैं, तो हमारी दशा वैसी ही हो जाती है जैसे 'भैंस के आगे बीन बजावे भैंस खड़ी पगुराय' । हमारे हृदय में पारमार्थिक विषय के अनुकूल संवेदना उत्पन्न होने का हमें कभी अनुभव भी नहीं होता । और ऐसी संवेदना हो भी कैसे ? श्रीजगन्माता यथार्थ में है, और अपना सर्वस्व स्वाहा करके व्याकुल हृदय से उसे पुकारने से हमें सच-मुच उसके प्रत्यक्ष दर्शन हो सकते हैं । पर इस बात पर श्रीरामकृष्ण के समान सरल विश्वास क्या हमें कभी होता भी है ?

साधनाकाल में श्रीरामकृष्ण के मन में जो व्याकुलता और उत्साह था, उसकी उन्होंने थोड़ी सी कल्पना हमें काशीपुर में रहते समय दी थी । उस समय हम स्वामी विवेकानन्द की अपरिमित व्याकु-लता को--जो ईश्वरदर्शन के लिए थी--अपनी आँखों से प्रत्यक्ष देख रहे थे । वकालत की परीक्षा का शुल्क जमा करते हुए उन्हें एकाएक कैसा तीव्र वैराग्य उत्पन्न हुआ जिसके आवेश में वे केवल एक धोती पहने और नंगे पैर किसी उन्मत्त के समान कलकत्ता से काशीपुर तक सीधे दौड़ते आये, और आकर श्रीरामकृष्ण के चरणकमलों को पकड़कर उनसे अपने मन की व्याकुलता का किस प्रकार वर्णन किया; वे उस दिन से आहार, निद्रा आदि की भी परवाह न करके किस तरह जप, ध्यान, भजन में ही रात-दिन मग्न रहने लगे; साधना के उत्साह में उनका कोमल हृदय वज्र के समान कैसे कठोर बन गया और वे अपनी घरेलू स्थिति के सम्बन्ध में भी कैसे पूर्ण उदासीन हो गये; श्रीरामकृष्ण के बताये हुए साधनामार्ग का अत्यन्त श्रद्धापूर्वक अवलम्बन करके उन्होंने केवल तीन-चार महीने की ही अवधि में निर्विकल्प समाधिसुख का अनुभव कैसे प्राप्त कर लिया आदि आदि बातें

हमारी आँखों के सामने होने के कारण हममें उनके वैराग्य, उत्साह और व्याकुलता की कल्पना पूरी हो गयी थी। स्वामीजी के उत्साह और व्याकुलता की प्रशंसा श्रीरामकृष्ण भी आनन्दित हो मुक्तकण्ठ से किया करते थे। लगभग उसी समय एक दिन श्रीरामकृष्ण ने अपने स्वयं की तथा स्वामीजी के साधनोत्साह की तुलना करते हुए कहा--"नरेन्द्र का साधनोत्साह और व्याकुलता सचमुच बड़ी अद्भुत तो है, परन्तु उस समय (साधना करते समय) इस उत्साह और व्याकुलता से यहाँ (स्वयं मेरे मन में) मची हुई प्रचण्ड खलबली के सामने नरेन्द्र की व्याकुलता कुछ नहीं है--उसके पासंग में भी नहीं आ सकती!" श्रीरामकृष्ण के इन शब्दों से हमें जो आश्चर्य हुआ होगा उसकी कल्पना पाठक ही करें।

अब श्रीरामकृष्ण अन्य सब बातों को भूलकर श्रीजगदम्बा की अनुमति से साधना में निमग्न हो गये और ब्राह्मणी भी हर प्रकार से उन्हें सहायता देने लगी। उसने साधनाओं की आवश्यक भिन्न भिन्न सामग्री कहीं न कहीं से लाकर साधना में उन पदार्थों के उपयोग करने के सब उपाय श्रीरामकृष्ण को समझा दिये। उसने बड़े प्रयत्न से गंगाहीन प्रदेश से नरमुण्ड आदि पाँच जीवों के मुण्ड मँगवाये और उनसे साधनार्थ दो वेदियाँ निर्माण करायीं। एक तो कालीमन्दिर के अहाते के भीतर बगीचे के उत्तर में बिल्व-वृक्ष के नीचे और दूसरी श्रीरामकृष्ण के अपने ही हाथ से लगायी हुई पंचवटी के नीचे।* इनमें से जिस जिस वेदी पर बैठकर जो जो साधनाएँ करनी थीं, उन्हें उस वेदी पर ही बैठकर करने में तथा जप-ध्यान और पुरश्चरण करने में श्रीरामकृष्ण का समय

*साधारणतः सब जगह पंचमुण्डयुक्त एक ही वेदी साधना के लिए

व्यतीत होने लगा। इस विचित्र साधक को महीनों तक यह भी ध्यान नहीं रहा कि दिन कब निकला और कब अस्त हुआ, रात कब आयीं और कब गयी ! श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "ब्राह्मणी रोज दिन भर इधर-उधर घूम-फिरकर तन्त्रोक्त भिन्न भिन्न दुष्प्राप्य वस्तुओं को ढूँढ़-ढूँढ़कर ले आती थी और सन्ध्याकाल होते ही वह बिल्व वृक्ष के नीचेवाली या पंचवटीवाली वेदी के समीप लाकर रख देती थी और मुझे पुकारती थी। तत्पश्चात् उन वस्तुओं के द्वारा वह मेरे हाथ से श्रीजगन्माता की यथाविधि पूजा कराती थी। इस पूजा के समाप्त होने पर वह मुझे जप-ध्यान आदि करने के लिए कहती थी। मैं ब्राह्मणी के आदेश के अनुसार सभी करता था, परन्तु जप आदि को तो अधिक समय तक कर ही नहीं सकता था, क्योंकि एक बार माला फेरते ही मुझे समाधि लग जाती थी। इस प्रकार उस समय जो अद्भुत दर्शन और विचित्र-विचित्र अनुभव प्राप्त हुए उनकी तो गिनती ही नहीं है। मुख्य मुख्य चौसठ तन्त्रों में जो जो साधनाएँ बतायी गयी हैं, उन सभी को ब्राह्मणी ने मुझसे एक के बाद एक कराया। वे कितनी कठिन साधनाएँ थीं ? बहुत से साधक तो उन्हें करते समय ही पथभ्रष्ट हो जाते हैं, परन्तु मैं माता की कृपा से उन सभी साधनाओं को पार कर गया।

तैयार की जाती है ! परन्तु ब्राह्मणी ने दो वेदियाँ बनवायीं ऐसा स्वयं श्रीरामकृष्ण ने हमें बताया। उनमें से बिल्ववृक्ष के नीचे की वेदी में तीन नरमुण्ड गड़ाये गये थे और पंचवटी के नीचे की वेदी में पाँच प्रकार के जीवों के मुण्ड गड़ाये गये थे। साधनाएँ समाप्त होने पर दोनों वेदियाँ उन्होंने तोड़ दीं और इन सभी मुण्डों को स्वयं उन्होंने खोदकर निकाला और गंगाजी में फेंक दिया !

"एक दिन सन्ध्या समय अन्धेरा होने पर ब्राह्मणी कहीं से एक सुन्दर युवती को अपने साथ लेकर आयी और मुझे पुकारकर कहने लगी––"बाबा, इसे देवी जानकर इसकी पूजा करो।" पूजा समाप्त होने पर ब्राह्मणी ने उस स्त्री को विवस्त्र करके मुझसे कहा––"बाबा! अब इसकी गोदी में बैठकर जप करो।" यह सुनकर डर के मारे मेरा हृदय धड़कने लगा और मैं व्याकुल होकर रोते रोते कहने लगा, "माता जगदम्बिके! अपने इस दीन दास को तू कैसी आज्ञा दे रही है? तेरे इस दीन बालक में ऐसा दुःसाहस करने का सामर्थ्य कहाँ?" इतना कहते कहते मेरे शरीर में मानो कोई प्रवेश कर गया और मेरे हृदय में कहीं से एकाएक अपूर्व बल उत्पन्न हो गया। तत्पश्चात् मैं किसी निद्रित मनुष्य के समान अज्ञानावस्था में मन्त्रोच्चारण करते करते आगे बढ़ा। फिर उस स्त्री की गोद में बैठते ही मुझे समाधि लग गयी! होश में आने पर देखता हूँ तो ब्राह्मणी मुझे सचेत करने के लिए बड़े प्रेम से मेरी शुश्रूषा कर रही है। मेरे सचेत होते ही ब्राह्मणी बोली, "बाबा! डरो मत; क्रिया सम्पूर्ण हो गयी। अन्य साधक तो इस अवस्था में बड़े कष्ट से धैर्य धारण करते हैं और किसी प्रकार थोड़ा सा जप करके इस क्रिया को समाप्त कर देते हैं, पर तुम अपनी देह की स्मृति भी भूलकर समाधिमग्न हो गये!" ब्राह्मणी से यह सुनकर मेरे हृदय का बोझ हलका हुआ और मुझे इस कठिन साधना से पार कर देने के कारण मैं कृतज्ञतापूर्ण अन्तःकरण से श्रीजगन्माता को बारम्बार प्रणाम करने लगा।"

एक दिन फिर वह ब्राह्मणी कहीं से नरमांस का टुकड़ा लेकर आयी और जगदम्बा को उसका नैवेद्य अर्पण कर मुझसे बोली,

"बाबा! इसे जीभ से स्पर्श करो।" यह देखकर मेरे मन में बड़ी घृणा उत्पन्न हुई और मैं बोला, "छि: मुझसे यह नहीं हो सकता।" वह फिर बोली "होगा कैसे नहीं? देख मैं स्वयं करके तुझे दिखाती हूँ।" यह कहकर उसने वह टुकड़ा अपने मुँह में डाल लिया और "घृणा नहीं करनी चाहिए" कहती हुई उसका कुछ भाग पुन: मेरे सामने रखा। उसे वह माँसखण्ड अपने मुख में डालते देखकर श्रीजगदम्बा की विकराल चण्डिका-मूर्ति मेरी आँखों के सामने खड़ी हो गयी। मैं "माता! माता!" कहता हुआ भावाविष्ट हो गया तब ब्राह्मणी ने उसी स्थिति में वह टुकड़ा मेरे मुख में डाल दिया। कहना न होगा कि उस समय मेरे मन में कुछ भी घृणा नहीं हुई। इस तरह पूर्णाभिषेक क्रिया होते तक ब्राह्मणी ने प्रति दिन इतनी नयी नयी तान्त्रिक साधनाएँ मुझसे करवायीं कि उनकी गिनती नहीं हो सकती। अब वे सब साधनाएँ मुझे स्मरण भी नहीं हैं। केवल वह दिन स्मरण है जब कि माता की कृपा से मुझे दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई जिससे मैं युग्म-प्रणय के चरम आनन्द की ओर देखने में समर्थ हुआ। उनकी वह क्रिया देखकर मुझमें साधारण मनुष्य-बुद्धि का लेश मात्र भी उदय न होकर केवल ईश्वरी भाव का ही उद्दीपन हुआ जिससे मैं समाधिस्थ हो गया। उस दिन समाधि उतरने पर ब्राह्मणी मुझसे बोली, "बाबा! तू अब तो सिद्धकाम बनकर दिव्य-भाव में पूर्णतया अचल हो आनन्दासन पर बैठ गया। वीरभाव की यही अन्तिम साधना है।" तन्त्रोक्त साधना करते समय सदैव मेरे मन में स्त्री-जाति के प्रति मातृभाव वास करता था। उसी तरह कुछ साधनाओं में मद्य ग्रहण करने की आवश्यकता हुई, पर मैंने कभी मद्य का स्पर्श तक नहीं किया। मद्य के केवल नाम से

या गन्ध से मेरे मन में जगत्कारण ईश्वर का स्मरण हो आता था और मुझे एकदम समाधि लग जाती थी। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "मुझे साधनाकाल में किसी भी साधना के लिए तीन दिन से अधिक समय नहीं लगा। मैं किसी भी साधना का प्रारम्भ करके उसका फल प्राप्त होने तक व्याकुल अन्तःकरण से हठपूर्वक श्रीजगन्माता के पास बैठ जाता था। फलतः तीन दिन के भीतर ही काम हो जाता था।"

दक्षिणेश्वर में एक दिन स्त्री-जाति के प्रति निरन्तर मातृभाव रखने की बात बताते हुए श्रीरामकृष्ण ने गणेशजी की एक कथा सुनायी। उन्होंने कहा, "बचपन में एक दिन एक बिल्ली गणेशजी के सामने आ गयी। उन्होंने लड़कपन के स्वभाववश उसे बहुत पीटा, यहाँ तक कि बेचारी के शरीर से रक्त निकल आया! वह बिल्ली किसी तरह अपनी जान बचाकर वहाँ से भागी। उसके चले जाने के बाद गणेशजी अपनी माता के पास पहुँचे और वहाँ देखते हैं तो उनकी माता के शरीर पर जगह-जगह मार के निशान पड़े हुए हैं। यह देखकर उन्हें अत्यन्त भय और दुःख हुआ और जब इसका कारण पूछा तो माता खिन्न होकर बोलीं, 'बेटा, यह सब तेरा ही पराक्रम तो है।' इतना सुनते ही मातृ-भक्त गणेशजी को बड़ा अचरज हुआ और दुःखित हो आँखों से आँसू बहाते हुए बोले, 'माता! मैंने तुझे कब मारा? तू योंही कुछ का कुछ कह देती है।' इस पर पार्वतीजी बोलीं, 'आज तूने किसी जीव को पीटा या नहीं, ठीक ठीक याद कर।' गणेशजी बोले, 'हाँ, उस समय एक बिल्ली को मारा था।' गणेशजी ने समझा कि बिल्ली के मालिक ने हमारी माता को मारा है और फिर वे रोने लगे। तब पार्वतीजी ने गणेशजी को छाती से लगा

लिया और कहा, 'बेटा रोओ मत। स्वयं मुझको किसी ने प्रत्यक्ष नहीं मारा है, पर वह बिल्ली भी तो मेरा ही स्वरूप है। इसी कारण मार के निशान मेरे शरीर पर भी दिखायी दे रहे हैं। पर यह बात तुझे मालूम न थी इसलिए इसमें तेरा कोई अपराध नहीं है। जा, चुप हो जा, रो मत; पर अब इतना ध्यान रख कि संसार में जितने भी स्त्री-रूप हैं वे सब मेरे ही अंश से उत्पन्न हैं, और जितने पुरुष-रूप हैं वे सब तेरे पिता के अंश से उत्पन्न हैं। शिव और शक्ति के सिवाय इस संसार में अन्य कुछ नहीं है।' श्रीगणेशजी ने अपनी माता के वाक्य को पूर्णतः ध्यान में रखा। इसी से विवाह का समय आने पर उन्होंने किसी स्त्री से विवाह करना माता से ही विवाह करने के समान मानकर, अपना विवाह करना ही अस्वीकार कर दिया।"

स्त्री-जाति के प्रति श्रीगणेशजी के इस प्रकार के मातृभाव की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण बोले, "स्त्री-जाति के प्रति यही भाव मेरा भी है। मैंने अपनी स्वयं की पत्नी में भी प्रत्यक्ष श्रीजगदम्बा का मातृ-स्वरूप देखकर उसकी पूजा की।"

स्त्री-जाति के प्रति मन में सतत मातृभाव रखते हुए तन्त्रोक्त वीरभाव की साधना किसी साधक ने कभी की हो, यह हमने नहीं सुना है। वीरभाव का आश्रय लेने वाले साधक आज तक साधनाकाल में स्त्री का ग्रहण करते ही आये हैं। वीरमत के आश्रयी सभी साधकों को स्त्री-ग्रहण करते देख लोगों की यह दृढ़ धारणा हो गयी है कि वैसा किये विना शायद उन साधनाओं में सिद्धि या जगदम्बा की कृपा प्राप्त करना असम्भव है। इसी भ्रम के कारण तन्त्रशास्त्र के विषय में भी लोगों की धारणा भ्रमपूर्ण हो गयी है। पर इस प्रकार स्त्री-जाति के प्रति मन में सदा दृढ़

मातृभाव रखते हुए श्रीरामकृष्ण के द्वारा तन्त्रोक्त साधना कराने में, सम्भव है श्रीजगन्माता का उद्देश्य यही रहा हो कि इस विषय में लोगों का भ्रम दूर हो जाय।

वीरभाव की उनकी सब साधनाएँ बहुत ही अल्प समय में पूर्ण हो जाती थीं। इसीसे यह स्पष्ट है कि स्त्री-ग्रहण इन साधनाओं का अंग नहीं है। मन को वश में न रख सकनेवाले साधक ही अपने मनोदौर्बल्य के कारण वैसा किया करते हैं। साधकों द्वारा ऐसा किया जाने पर भी तन्त्रशास्त्र ने उन्हें क्षमा ही प्रदान की है, और यह कहकर निर्भीक कर दिया है कि और पुनः पुनः प्रयत्न करने पर साधक दिव्य भाव का अधिकारी होगा। इस पर से तन्त्रशास्त्र की परम कारुणिकता मात्र दिखायी देती है। इससे यह भी दिखता है कि जो जो रूप-रसादिक पदार्थ मनुष्य को मोहजाल में फँसाकर जन्म-मरण के चक्कर में डाल देते हैं, तथा उसे ईश्वरदर्शन या आत्मज्ञान का अधिकारी नहीं बनने देते, उन सभी में ईश्वरमूर्ति की दृढ़ धारणा साधक के मन में संयम और सतत अभ्यास के द्वारा उत्पन्न करना भी तान्त्रिक क्रियाओं का उद्देश्य है। तन्त्रशास्त्रों ने साधकों के संयम और मनोरचना का तारतम्यात्मक विचार करके ही उनके पशु, वीर और दिव्य--तीन विभाग किये हैं और क्रमशः प्रथम, द्वितीय और तृतीय भावों के आश्रय से ईश्वरोपासना करने का उपदेश दिया है; कठोर संयम ही इन तन्त्रोक्त साधनाओं का मूल है। साधक लोग संयम से ही फल पा सकने की यथार्थता को कालक्रम के कारण प्रायः भूल ही गये थे और लोग ऐसे साधकों के किए हुए कुकर्मों का दोष तन्त्रशास्त्र के ऊपर मढ़कर उस शास्त्र की ही निन्दा करने लगे। अतः श्रीरामकृष्ण ने स्त्री-जाति के

प्रति निरन्तर मातृभाव रखकर इन तन्त्रोक्त साधनाओं को किया और उनसे फल प्राप्त करके अपने उदाहरण से यथार्थ साधकों का अनिर्वचनीय उपकार कर दिया। फिर उन्होंने तन्त्रशास्त्र की प्रामाणिकता को भी सिद्ध कर दिखाया और उसकी महिमा भी बढ़ा दी।

श्रीरामकृष्ण ने तीन-चार वर्ष तक तन्त्रोक्त गूढ़ साधनाओं का यथाविधि अनुष्ठान करते रहने पर भी हममें से किसी के पास उन साधनाओं की परम्परा का विवेचन कभी नहीं किया। तथापि उन साधनाओं के प्रति हमारा उत्साह उत्पन्न करने के लिए वे किसी किसी साधना की केवल बात किया करते थे और कभी कभी किसी साधक को कोई विशेष साधना करने के लिए भी कह देते थे। यहाँ पर यह कह देना उचित है कि श्रीराम-कृष्ण द्वारा इन तन्त्रोक्त क्रियाओं का अनुष्ठान श्रीजगन्माता ने ही कराया होगा; क्योंकि क्रियाओं के फलों का स्वयं अनुभव कर लिये बिना शायद भविष्य में इन्हीं के पास भिन्न भिन्न स्वभाववाले साधकों के आने पर प्रत्येक की अवस्था के अनुकूल उसके लिए साधनाओं का परामर्श देना उपयुक्त न होता। अस्तु--

श्रीरामकृष्ण तन्त्रोक्त साधनाकाल में प्राप्त हुए दर्शनों और अनुभवों के सम्बन्ध में हम लोगों से कभी कभी कहते थे-- "तन्त्रोक्त साधना करते समय मेरा स्वभाव समूल बदल गया था। मैं यह सुनकर कि कभी कभी श्रीजगदम्बा शृगाल का रूप धारण कर लेती है और यह जानकर कि कुत्ता भैरव का वाहन है, उस समय उनका उच्छिष्ट प्रसाद ग्रहण कर लेने पर भी मेरे मन में कभी किसी प्रकार की घृणा उत्पन्न नहीं होती थी!"

"मैंने अपनी देह, मन, प्राण--इतना ही नहीं वरन् अपना

सर्वस्व श्रीजगदम्बा के पादपद्मों में अर्पण कर दिया था। इसी कारण मैं उन दिनों अपने आपको सदा भीतर-बाहर प्रत्यक्ष ज्ञानाग्नि से परिवेष्टित पाता था !"

"उन दिनों कुण्डलिनी-शक्ति जागृत होकर मस्तक की ओर ऊपर जाती हुई तथा मूलाधार से सहस्रार तक के सभी अधोमुख और मुकुलित कमल ऊर्ध्वमुख और उन्मीलित होते हुए तथा उनके उन्मीलित होने के साथ साथ नाना प्रकार के अपूर्व और अद्‌भुत अनुभव हृदय में उदित होते हुए, मुझे प्रत्यक्ष दिखायी देते थे। कभी कभी ऐसा भी दिखता था कि मेरी आयु का एक तेजःपुंज दिव्य पुरुष सुषुम्ना नाड़ी के बीच से इन प्रत्येक कमलों के पास जा रहा है और उस कमल को अपनी जिह्वा से स्पर्श करके उसे प्रस्फुटित कर रहा है !"

एक समय स्वामी विवेकानन्द को ध्यान करने के लिए बैठते ही अपने सामने एक प्रचण्ड ज्योतिर्मय त्रिकोण दिखने लगता था और उसके सजीव होने का भास होने लगता था ! दक्षिणेश्वर में आने पर एक दिन उन्होंने यह बात श्रीरामकृष्ण को बतलायी तब वे बोल उठे, "ठीक है, ठीक है, तुझे ब्रह्मयोनि का दर्शन हो गया। बिल्ववृक्ष के नीचे एक दिन साधना करते समय मुझे भी उसका दर्शन हुआ था और मुझे वह मानो प्रतिक्षण असंख्य ब्रह्माण्डों का प्रसव करती हुई भी दिखायी दी थी।"

उसी प्रकार वे कहते थे—"ब्रह्माण्ड की सभी भिन्न भिन्न ध्वनियाँ एकत्र होकर जगत् में प्रतिक्षण एक प्रचण्ड प्रणवध्वनि के रूप में प्रकट हो रही हैं, यह भी मैंने प्रत्यक्ष अनुभव किया !" हममें से कोई कहते थे कि श्रीरामकृष्ण से यह भी सुना है कि उस समय पशु-पक्षी आदि मनुष्येतर सभी जीव-जन्तुओं की

बोली वे समझ लेते थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे कि उन दिनों मुझे यह दर्शन हुआ था कि साक्षात् श्रीजगदम्बा स्त्री-योनि में अधिष्ठित हैं।

साधनाकाल के अन्त में अपने में अणिमादि अष्ट-सिद्धियों के आविर्भूत होने का अनुभव श्रीरामकृष्ण को हुआ। उन्होंने जब हृदय के कहने से श्रीजगदम्बा से पूछा कि उनका प्रयोग कभी करना चाहिए या नहीं, तब उन्हें विदित हुआ कि सिद्धियाँ विष्ठा के समान तुच्छ और त्याज्य हैं। श्रीरामकृष्ण कहते थे, "यह बात जान लेने पर सिद्धियों का केवल नाम लेने से ही मेरे मन में घृणा उत्पन्न होने लगी!"

श्रीरामकृष्ण कहते थे, लगभग उसी समय मेरे मन में यह तीव्र उत्कण्ठा हुई कि मुझे श्रीजगन्माता की मोहिनी माया का दर्शन हो। और मुझे एक दिन अद्भुत दर्शन प्राप्त भी हो गया। एक अत्यन्त लावण्यवती स्त्री गंगा में से प्रकट होकर पंचवटी की ओर बहुत गम्भीरतापूर्वक आती हुई दिखायी दी। मेरे बहुत ही समीप आ जाने पर वह मुझे गर्भवती मालूम हुई। ज्योंही वह स्त्री मेरे समीप आयी त्योंही वह तुरन्त ही वहीं प्रसूत हो गयी और उसे एक अत्यन्त सुन्दर पुत्र हुआ और वह उसको बड़े प्रेम से, बड़ी ममता के साथ अंचल के भीतर ढाँककर दूध पिलाने लगी। थोड़े ही समय में उस स्त्री का स्वरूप बदल गया। उसका मुँह बड़ा विकराल और भयंकर दिखने लगा। उसने झट एकदम उस बालक को उठाकर अपने मुख में डाल लिया और चबा-चबाकर उसे निगल गयी। वह पुनः उसी मार्ग से वापस जाकर गंगाजी में कूद पड़ी।

इस अद्भुत दर्शन के सिवाय उन्हें श्रीजगन्माता की द्विभुजा

मूर्ति से लेकर दशभुजा मूर्ति तक, सब प्रकार की मूर्तियों के दर्शन उस समय प्राप्त हुए। उनमें से कोई कोई मूर्तियाँ उनसे बोलती थीं और उन्हें नाना प्रकार के उपदेश देती थीं। इन मूर्तियों में अत्यन्त विलक्षण सौन्दर्य रहता था। इन सब में श्रीराजराजेश्वरी अथवा षोड़शी मूर्ति का सौन्दर्य तो कुछ अपूर्व ही था। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"षोड़शी अथवा त्रिपुरासुन्दरी का सौन्दर्य मुझे ऐसा अद्भुत दिख पड़ा कि उसके शरीर से रूप-लावण्य मानो सचमुच ही नीचे टपक रहा हो और चारों दिशाओं में फैल रहा हो।" इसके सिवाय उस समय अनेक भैरव, देवी-देवता के दर्शन श्रीरामकृष्ण को प्राप्त हुए। इस तन्त्रसाधना के समय से श्रीरामकृष्ण को जितने नये नये दिव्य अलौकिक दर्शन और अनुभव प्राप्त हुए उन्हें वे ही जानें। दूसरों को तो उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती।

तन्त्रोक्त साधना के समय से श्रीरामकृष्ण का सुषुम्ना द्वार पूर्ण खुल गया था जिससे उन्हें बालक की सी अवस्था प्राप्त हो गयी, यह हमने उन्हीं के श्रीमुख से सुना है। इस समय से उन्हें अपनी पहनी हुई धोती और यज्ञोपवीत आदि को भी शरीर पर सदा धारण किये रहना कठिन हो गया था। उनके बिना जाने ही धोती-वस्त्र आदि न जाने कब और कहाँ गिर जाते थे और इसका उन्हें ध्यान भी नहीं रहता था! मन सदा श्रीजगदम्बा के पादपद्मों में तल्लीन रहने के कारण जब शरीर की ही सुध नहीं रहती थी, तब धोती-जनेऊ आदि का क्या ठिकाना? उन्होंने दूसरे परमहंसों के समान धोती त्यागकर जान-बूझकर नग्न रहने का अभ्यास कभी नहीं किया, यह भी हमने उन्हीं के श्रीमुख से सुना है। वे कहते थे--"साधनाएँ समाप्त होने पर मुझमें अद्वैत बुद्धि इतनी दृढ़ हो गयी थी कि जो पदार्थ मुझे बचपन से ही

बिलकुल तुच्छ, अपवित्र और त्याज्य मालूम होते थे, अब उनके प्रति भी अत्यन्त पवित्रता की दृढ़ भावना मेरे मन में होने लगी। तुलसी और भंग एक समान प्रतीत होते थे।"

इसके सिवाय इसी समय से आगे कुछ वर्षों तक उनके शरीर की कान्ति बड़ी तेजोमयी बन गयी थी। लोग उनकी ओर सदा एकटक देखा करते थे। श्रीरामकृष्ण तो निरभिमानता की मूर्ति ही थे। उन्हें इसका बड़ा खेद होता था। वे अपनी दिव्य अंग-कान्ति मिटाने के लिए बड़े व्याकुल अन्त:करण से श्रीजगदम्बा से प्रार्थना करते थे–"माता, तेरा यह बाह्य रूप मुझे नहीं चाहिए, इसे तू ले जा; और मुझे आन्तरिक आध्यात्मिक रूप का दान दे।" अपने रूप के लिए उनके मन में जो तिरस्कार भाव था, पाठकों को उसकी कुछ कल्पना "मथुरानाथ और श्रीरामकृष्ण" शीर्षक प्रकरण में हो गयी होगी।

इन सब तन्त्रोक्त साधनाओं के कार्य में जिस प्रकार ब्राह्मणी ने श्रीरामकृष्ण को सहायता दी, आगे चलकर उसी तरह श्रीरामकृष्ण ने भी उसे दिव्य भाव में आरूढ़ होने के कार्य में सहायता दी। ब्राह्मणी का नाम "योगेश्वरी" था। श्रीरामकृष्ण बतलाते थे कि "वह साक्षात् योगमाया का ही अवतार थी।"

तन्त्रोक्त साधनाओं के प्रभाव से उत्पन्न होनेवाली दिव्य दृष्टि की सहायता से उन्हें इस समय विदित हो गया कि भविष्य में बहुत से लोग धर्म का उपदेश लेने के लिए उनके पास आनेवाले हैं। उन्होंने यह बात मथुरबाबू और हृदय को भी बतला दी थी। यह सुनकर मथुरबाबू बड़े आनन्द से कहने लगे––"वाह! बाबा! तब तो बड़ा अच्छा है। हम सब मिलकर तुम्हारे साथ बड़ा आनन्द करेंगे!"

---

२५. जटाधारी और वात्सल्यभाव-साधन

(१८६४–६५)

"...फिर आने लगे रामायत पन्थ के साधु ! उत्तम उत्तम त्यागी भक्त बैरागी बाबाजी......उनमें से एक के पास से तो 'रामलला' मेरे पास आ गया !"

"उसको (जटाधारी को) प्रत्यक्ष दिखता था कि रामलला नैवेद्य खा रहे हैं अथवा कोई पदार्थ माँग रहे हैं, या कह रहे हैं कि मुझे घुमाने ले चलो ! ... और ये सब बातें मुझे भी दिखायी देती थीं !"

--श्रीरामकृष्ण

भैरवी ब्राह्मणी सन् १८६१ में दक्षिणेश्वर आयी और लगभग छः वर्ष तक उसकी देखरेख में श्रीरामकृष्ण ने तन्त्रोक्त साधनाओं का यथाविधि अनुष्ठान किया। उसके बाद भी भैरवी से उन्हें वात्सल्यभाव और मधुरभाव की साधना के समय बहुत सहायता मिली। श्रीरामकृष्ण की आध्यात्मिक अवस्था के विषय में पहले से ही मथुरबाबू की उच्च धारणा थी, और तन्त्रोक्त साधनाकाल में तो उनकी आध्यात्मिक शक्ति के विकास को उत्तरोत्तर बढ़ते देखकर उनके आनन्द और भक्ति में अधिकाधिक बाढ़ आ चली थी। रानी रासमणि की मृत्यु हो जाने पर मथुरबाबू ही उनकी अपार सम्पत्ति के व्यवस्थापक हुए, और वे श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल से जिस कार्य में हाथ लगाते थे उसमें उन्हें यश ही मिलता था। यह देखकर उनकी दृढ़ धारणा हो गयी कि "मुझे जो कुछ

धन, मान, यश मिलता है वह सब श्रीरामकृष्ण की कृपा से ही है; यथार्थ में इस सारी सम्पत्ति के मालिक वे ही हैं; मैं केवल उनका मुखत्यार हूँ। सब प्रकार से मेरी चिन्ता करने वाले और संकटों से छुड़ाने वाले वे ही हैं। वे ही मेरे सर्वस्व हैं। मैं उनकी निरन्तर सेवा करने के लिए ही हूँ; उनकी साधना में उन्हें हर प्रकार की सहायता पहुँचाना तथा उनके शरीर का संरक्षण करना ही मेरा मुख्य काम है।" मथुरबाबू की श्रीरामकृष्ण के प्रति इस प्रकार की दृढ़ धारणा और विश्वास उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हें उनकी सेवा करने के सिवाय और कुछ नहीं सूझता था। श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से शब्द निकलने भर की ही देरी रहती थी कि वह कार्य तत्क्षण हो जाता था। श्रीरामकृष्ण को आनन्द देने वाला कार्य वे सदा ढूँढ़ते रहते थे, और जब उससे श्रीरामकृष्ण को आनन्द प्राप्त हो जाता था तो वे अपने को अत्यन्त भाग्यवान समझते थे। सन् १८६४ में मथुरबाबू ने अन्नमेरु व्रत का अनुष्ठान किया था। हृदय कहता था कि "उस समय मथुरबाबू ने उत्तम उत्तम पण्डितों को बुलाकर उन्हें सोने-चाँदी के अलंकार, पात्र आदि दान दिये थे। उसी प्रकार एक हजार मन चावल और एक हजार मन तिल का भी दान किया। उत्तमोत्तम हरिदास और गवैयों को बुलाकर बहुत दिनों तक दक्षिणेश्वर में रात-दिन कीर्तन, भजन, गायन आदि कराया। मथुरबाबू यह सब सुनने के लिए सदा स्वयं हाजिर रहते थे। घर में कोई मंगल कार्य होता तो जैसी अवस्था बालकों की हो जाती है, वैसी ही श्रीरामकृष्ण की ऐसे समय पर हो जाती थी। उन्हें भक्ति-रसपूर्ण गायन सुनने से बारम्बार भावावेश आ जाता था। जिस गवैये के गाने से श्रीरामकृष्ण आनन्दित होकर समाधि में मग्न हो जाते थे, मथुर-

बाबू उसी को उत्तमता की कसौटी निर्धारित कर उस गवैये को बहुमूल्यवान दुशाला, रेशमी वस्त्र और सौ-सौ रुपये पुरस्कार में देते थे। इससे यह स्पष्ट है कि उनके मन में श्रीरामकृष्ण के प्रति कितनी भक्ति और निष्ठा थी।"

लगभग इसी समय बर्दवान के राजा के यहाँ रहनेवाले प्रख्यात पण्डित पद्मलोचन के गुणों और निरभिमानता की कीर्ति श्रीरामकृष्ण के कानों में पड़ी और वे उनसे मिलने के लिए उत्कण्ठित हुए। मथुरबाबू अन्नमेरु व्रत के अनुष्ठान में पद्मलोचन को बुलाकर उनका सम्मान करने की बड़ी इच्छा कर रहे थे; और श्रीरामकृष्ण के प्रति उनकी विशेष भक्ति को जानकर तो मथुरबाबू ने उन्हें खास तौर से निमन्त्रण देने के लिए हृदय को ही भेज दिया। अब तो पद्मलोचन को वहाँ आना ही पड़ा। उनके दक्षिणेश्वर आने पर मथुरबाबू ने उनका उचित सम्मान किया। पाठकों को पद्मलोचन का और अधिक वृत्तान्त आगे मिलेगा।

तन्त्रोक्त साधना समाप्त हो जाने पर श्रीरामकृष्ण के मन में वैष्णव मत की साधना करने की इच्छा उत्पन्न हुई। ऐसी इच्छा होने के कई स्वाभाविक कारण थे। प्रथम यह था कि भक्तिमती भैरवी ब्राह्मणी वैष्णव तन्त्रोक्त पंच-भावाश्रित साधनाओं में स्वयं पारंगत थी, और इनमें से किसी न किसी भाव में वह सदा तल्लीन रहा करती थी। नन्दरानी यशोदा के वात्सल्य भाव में वह श्रीरामकृष्ण को गोपाल जानकर उन्हें भोजन कराती थी, जिसका वृत्तान्त हम पीछे लिख ही चुके हैं। इसीलिए उसने तन्त्रोक्त साधना समाप्त कराने के बाद वैष्णव भावों की साधना करने के लिए श्रीरामकृष्ण से आग्रह किया होगा। द्वितीय कारण यह था कि वैष्णव कुल में जन्म लेने के कारण, वैष्णव मत की साधना

करने की इच्छा होना श्रीरामकृष्ण के लिए बिलकुल स्वाभाविक ही था। कामारपुकुर के पास वैष्णव मत का बहुत प्रचार होने के कारण उस मत के प्रति उन्हें बचपन से ही श्रद्धा थी। इन्हीं कारणों से तन्त्रोक्त साधनाएँ समाप्त होने पर उनका ध्यान वैष्णव-तन्त्रोक्त साधनाओं की ओर आकर्षित हुआ होगा।

साधनाकाल के दूसरे चार वर्षों में (१८५९–६२) उन्होंने वैष्णव-तन्त्रोक्त शान्त, दास्य और सख्य भावों का अवलम्बन करके साधनाएँ की थीं और उन्हें उन सभी साधनाओं में सिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। इसलिए अब उन्होंने शेष दो मुख्य भावों की अर्थात् वात्सल्य और मधुर भावों की साधना प्रारम्भ की (१८६३–६६)। श्रीमहावीर के दास्य भाव का आश्रय लेकर उन्होंने श्रीरामचन्द्र का दर्शन पाया था और श्रीजगदम्बा की सखी अथवा दासी भाव के अवलम्बन में भी उन्होंने अपना कुछ काल बिताया था।

दक्षिणेश्वर पुरी जाने के रास्ते पर होने के कारण वहाँ अनेक साधु-संन्यासी, फकीर, बैरागी लोग आकर ठहरते थे और रानी रासमणि के मन्दिर का २-३ दिन आतिथ्य स्वीकार किये बिना आगे नहीं बढ़ते थे। श्रीरामकृष्ण कभी कभी हमसे कहते थे— "केशव सेन यहाँ आने लगे तभी से यहाँ तुम्हारे जैसे 'यंग बेंगाल' (Young Bengal) मण्डली का आना शुरू हुआ। उसके पहले यहाँ कितने ही साधुसन्त,* त्यागी बैरागी, संन्यासी, बाबाजी आया-जाया करते थे जिसका तुम्हें पता नहीं है। रेलगाड़ी शुरू होने से वे लोग अब इधर नहीं आते-जाते। रेलगाड़ी शुरू होने के पहले वे लोग गंगा के किनारे किनारे पैदल रास्ते से गंगा सागर में स्नान करने और श्रीजगन्नाथजी के दर्शन के लिए जाया करते

* इसका वृत्तान्त अगले प्रकरण में मिलेगा।

थे। रास्ते में यहाँ पर उनका विश्राम अवश्य ही होता था। कुछ साधु लोग तो यहाँ कुछ दिनों तक रह भी जाते थे। साधु लोग दिशा-जंगल और अन्न-पानी के सुभीते के बिना किसी जगह विश्राम नहीं करते। दिशा-जंगल अर्थात् शौच के लिए निर्जन स्थान, और अन्न-पानी अर्थात् भिक्षा पर ही उनका निर्वाह चलने के कारण जहाँ भिक्षा मिल सके वहीं वे विश्राम करते हैं। यहाँ रासमणि के बगीचे में भिक्षा की अच्छी सुविधा थी और गंगा माई की कृपा से पानी क्या, साक्षात् अमृत-वारि ही था। इसके सिवाय दिशा-जंगल के लिए भी यहाँ उत्तम स्थान था। इस कारण साधु लोग यहाँ कुछ समय अवश्य ठहर जाते थे।

"एक बार मन में ऐसी इच्छा उत्पन्न हुई कि यहाँ जितने साधुसन्त आते हैं उन्हें भिक्षा के सिवाय अन्य जिन वस्तुओं की आवश्यकता हो उन सब का भी यहीं प्रबन्ध कर दिया जाय; जिससे वे बिलकुल निश्चिन्त होकर साधन-भजन में मग्न रहा करें, और उन्हें देखकर हम भी आनन्दित होंगे। मन में यह बात आते ही मैंने मथुर को बतायी। वह बोला, 'बस इतना ही बाबा? उसमें रखा क्या है? देखिये मैं अभी सब प्रबन्ध कर देता हूँ। जिसे जो देने की इच्छा हो वह देते जाइये।' काली-मन्दिर के भण्डार से सभी को सीधा और लकड़ी मिलने की व्यवस्था पहले से थी ही। इसके अतिरिक्त साधु लोगों को जिसे जो चाहिए लोटा, कमण्डलु, आसन, कम्बल, नशा तथा धूम्रपान करने के लिए भंग, गाँजा, तान्त्रिक साधुओं के लिए मद्य आदि सभी पदार्थ देने का प्रबन्ध मथुरबाबू ने कर दिया। उस समय वहाँ तान्त्रिक साधु बहुत आते थे। उनके श्रीचक्र के अनुष्ठान के लिए सभी आवश्यक वस्तुओं की व्यवस्था मैं पहले से कर रखता

था। जब वे उन सब पूजाद्रव्यों से श्रीजगदम्बा की पूजा करते थे, तब मुझे बड़ा सन्तोष होता था। श्रीचक्र के अनुष्ठान के समय कभी कभी वे मुझे भी बुलाकर ले जाते थे और मद्य ग्रहण करने के लिए आग्रह करते थे। पर जब वे जान लेते थे कि मैं कभी भी मद्य प्राशन नहीं कर सकता, उसके केवल नाम लेने से ही मुझे नशा हो जाता है, तब वे आग्रह करना छोड़ देते थे। लेकिन उनके पास बैठने से मद्य ग्रहण करना आवश्यक होता था, इसलिए मैं अपने मस्तक पर उसका टीका लगा लेता था, उसे सूँघ लेता था, या अधिक से अधिक एक आध बूँद उँगली से लेकर उसे अपने मुख पर छिटक लेता था! उनमें से कुछ साधु मद्यपान करके ईश्वर-चिन्तन में तन्मय हो जाते थे, परन्तु बहुत से बेहिसाब प्याले पर प्याले चढ़ाकर मतवाले बन जाते थे। एक दिन तो मैंने इसका अतिरेक होते देख नशे के सब पदार्थ देना ही बन्द करा दिया।

"बहुधा एक समय में एक ही प्रकार के साधुओं का आगमन हुआ करता था। एक समय कुछ संन्यासी ऐसे आये जो परमहंस साधु थे। ये केवल पेट भरनेवाले या पाखण्डी बैरागी नहीं थे। बल्कि ये लोग सच्चे संन्यासी परमहंस थे। (अपने कमरे की ओर उँगली दिखाकर) उस कमरे में उनका लगातार आना-जाना जारी रहता था। प्रत्येक समय 'अस्ति', 'भाति', 'प्रिय' की व्याख्या तथा वेदान्त की ही चर्चा चला करती थी। रातदिन वेदान्त, वेदान्त और वेदान्त—इसके सिवाय अन्य कुछ नहीं! उस समय मुझे रक्त-आमांश का रोग हो गया था। हाथ का लोटा अलग रखने का भी अवकाश नहीं मिलता था। कमरे के एक कोने में हृदय ने मेरे लिए एक घमेला रख दिया था। इधर यह भोग भोगना और उधर उनके विचार सुनना, दोनों

काम चलते रहते थे । जब कोई प्रश्न उनके वादविवाद से सिद्ध होने लायक नहीं रहता था, तब (अपनी ओर उँगली दिखाकर) मेरे भीतर से एकआध सरल बात माता कहला देती थी । उसे सुनकर उनके प्रश्न का समाधान हो जाता था और उनका विवाद मिट जाता था । इस प्रकार कई दिन बीत गये । फिर आने वाले इन संन्यासी परमहंस साधुओं की संख्या कम होने लगी । उनका आना कम होने पर रामायत पन्थ के साधु आने लगे । ये साधु उत्तम त्यागी, भक्त और बैरागी बाबाजी थे । दिन पर दिन उनके जत्थे के जत्थे आने लगे । अहाहा ! उनकी भक्ति, विश्वास और निष्ठा कितनी उच्च श्रेणी की थी । उनमें से एक के पास से तो रामलला मेरे पास आ गये !"

जिन रामायत पन्थी साधु के पास से रामलला श्रीरामकृष्ण को मिले उनका नाम जटाधारी था । श्रीरामचन्द्र पर उनका जो अद्भुत अनुराग और प्रेम था उसकी चर्चा श्रीरामकृष्ण बारम्बार करते थे । श्रीरामचन्द्र की बालमूर्ति उन्हें अत्यन्त प्रिय थी । उस मूर्ति की बहुत दिनों तक भक्तियुक्त अन्तःकरण से पूजा करने के कारण उनका मन निरन्तर श्रीरामचन्द्र के चरणों में तन्मय रहा करता था । श्रीरामचन्द्रजी की ज्योतिर्मयी बालमूर्ति उनके सम्मुख सचमुच प्रकट होकर उनकी पूजा ग्रहण करती हुई, उन्हें दक्षिणेश्वर आने के पूर्व से ही दर्शन दिया करती थी । प्रारम्भ में ऐसा दर्शन उन्हें सदा प्राप्त नहीं होता था; परन्तु उनका भक्ति-विश्वास ज्यों ज्यों बढ़ता गया, त्यों त्यों यह दर्शन भी उन्हें बारम्बार प्राप्त होने लगा । उन्हें यह दिखने लगा था कि श्रीरामचन्द्रजी की बालमूर्ति सदा सर्वकाल अपने साथ रहा करती है ! अतः उनका चित्त अन्य विषयों की ओर

बिलकुल नहीं जाता था। जटाधारी को जिस प्रतिमा की सेवा से यह दिव्य दर्शन प्राप्त हुआ था, वे उसी बाल रामचन्द्र की रामलला नामक मूर्ति को साथ लेकर सदैव आनन्द में तल्लीन रहते हुए अनेक तीर्थ-पर्यटन करते करते दक्षिणेश्वर आ पहुँचे।

रामलला की सेवा में सदा तन्मय रहने वाले जटाधारी ने श्रीरामचन्द्रजी की बालमूर्ति के अपने दर्शन की बात कभी किसी से प्रकट नहीं की थी। लोगों को तो केवल इतना ही दिखायी देता था कि वे सदा श्रीरामचन्द्र की एक बालमूर्ति की अत्यन्त अपूर्व निष्ठापूर्वक सेवा करने में निमग्न रहते हैं। परन्तु भाव-राज्य के अद्वितीय अधीश्वर श्रीरामकृष्ण ने जटाधारी के साथ प्रथम भेंट मात्र से उनके गूढ़ रहस्य को जान लिया। इसी कारण उनके प्रति उनके मन में विशेष श्रद्धा उत्पन्न हो गयी और उन्होंने उनके लिए आवश्यक वस्तुओं का उचित प्रबन्ध भी कर दिया। वे हर रोज जटाधारी के पास बहुत समय तक बैठ-कर उनकी पूजाविधि को ध्यानपूर्वक देखा करते थे। इस तरह जटाधारी बाबाजी के प्रति श्रीरामकृष्ण की श्रद्धा दिनोंदिन अधिकाधिक बढ़ने लगी।

हम कह आये हैं कि इस समय श्रीरामकृष्ण श्रीजगदम्बा की सखी या दासी के भाव में ही लीन रहते थे। श्रीजगदम्बा के लिए पुष्पों की सुन्दर सुन्दर मालाएँ गूँथना, उनको पंखे से हवा करना, मथुरबाबू से नये नये आभूषण बनवाकर उनको पहनाना और स्वयं स्त्री-वेष धारण करके उन्हें गाना सुनाने आदि में वे सदा भूले रहते थे। ऐसे समय में जटाधारी का आगमन दक्षिणेश्वर में हुआ था। उनके (श्रीरामकृष्ण के) मन में श्रीरामचन्द्रजी के प्रति प्रीति और भक्ति जागृत हो उठी। उन्हें प्रथम जो श्रीराम-

चन्द्रजी का दर्शन हुआ था वह उनकी बालमूर्ति का ही था; इसलिए यदि पूर्वोक्त प्रकृतिभाव की प्रबलता से इस दिव्य बालक के प्रति उनके मन में वात्सल्यभाव ही उत्पन्न हो गया तो यह स्वाभाविक ही है। जिस प्रकार माता के हृदय में अपने बालक के प्रति एक अपूर्व प्रेमभाव का अनुभव होता है, ठीक उसी प्रकार का भाव उस बालमूर्ति के प्रति श्रीरामकृष्ण के हृदय में उत्पन्न हुआ। अब तो उन्हें सदैव रामलला की संगत में रहते हुए समय आदि का भी ध्यान नहीं रहता था।

श्रीरामकृष्ण के मन की रचना बड़ी विचित्र थी। उन्हें कोई काम अधूरा करना बिलकुल पसन्द नहीं था। जैसा उनका यह स्वभाव सभी सांसारिक व्यवहारों में दिखायी देता था, वैसा ही वह आध्यात्मिक विषयों में भी था। यदि उन्हें एक बार कोई भाव स्वाभाविक प्रेरणा से मन में उत्पन्न हुआ जान पड़ता तो वे उसमें इतने तल्लीन हो जाते थे कि उसे उसकी चरम सीमा तक पहुँचाकर ही वे शान्त होते। शायद कोई इस पर से यह कहे कि "ऐसा होना क्या अच्छा है? मन में एक बार विचार उत्पन्न होते ही, क्या उसी के अनुसार पुतली के समान नाचने से मनुष्य का कल्याण होना कभी सम्भव है? मनुष्य के मन में भले और बुरे दोनों तरह के विचार आया ही करते हैं, तब क्या उसे दोनों प्रकार के विचारों के अनुसार बरतना ही चाहिए? एक श्रीरामकृष्ण के मन में कुविचार आना भले ही सम्भव न हो, पर सभी मनुष्य तो श्रीरामकृष्ण नहीं हैं। तब उनका क्या होगा? क्या उन्हें अपने मन को संयम द्वारा वश में रखकर अपने बुरे विचारों को रोकना नहीं चाहिए?"

इस बात का बाह्य रूप युक्तिसंगत भले ही दिखे, पर हमें भी

उसके सम्बन्ध में कुछ कहना है। काम-कांचनासक्त, भोगलोलुप मनुष्यों को अपना आत्मविश्वास बहुत अधिक न रखकर उन्हें संयम आदि की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। परन्तु शास्त्रों का कहना है कि कुछ साधकों को तो संयम का अभ्यास बिलकुल श्वासोच्छ्वास के समान सहज ही हो जाता है; इससे उनका मन विषयलिप्सा से पूर्णतः मुक्त होकर सदा केवल अच्छे ही भावों और विचारों में लग जाता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे––"जिस मनुष्य ने अपना सब भार श्रीजगदम्बा पर छोड़ दिया है, उसकी ओर कोई भी कुभाव अपनी छाया तक नहीं डाल सकता। माता उसके पैर कुमार्ग में कभी पड़ने नहीं देती !" ऐसी अवस्था को प्राप्त हुए मनुष्य का अपने प्रत्येक मनोभाव पर विश्वास रखने से कभी भी अनिष्ट नहीं हो सकता; क्योंकि जिस देहाभिमान-विशिष्ट क्षुद्र अहंकार की प्रेरणा से हम स्वार्थपरायण बनते तथा संसार के सर्व भोग, सुख, अधिकार आदि प्राप्त करने की लालसा करते हैं, उसी अहंकार को ईश्वरेच्छा में सदा के लिए मिला देने के बाद मन में फिर स्वार्थसुख का विचार उठना ही असम्भव हो जाता है। उसकी यह दृढ़ भावना हो जाती है कि मैं केवल यन्त्र हूँ और वह यन्त्र ईश्वर की इच्छा के अनुसार चलता रहता है। अपने मन में उत्पन्न हुए विचार ईश्वर की इच्छा से ही होते हैं और यही दृढ़ धारणा होने पर मनुष्य के मन में अनिष्ट और अपवित्र भाव का उदय भी नहीं होता और यदि वह ऐसे मन में उदित होनेवाले भावों पर अवलम्बित रहकर व्यवहार करने लगे तो उसका अकल्याण कभी भी नहीं हो सकता। अतः श्रीरामकृष्ण की पूर्वोक्त मनोरचना से सर्वसाधारण लोगों को न सही, पर पूर्ण स्वार्थगन्धरहित साधकों के लिए तो उससे बहुत कुछ सीखना

है। इस अवस्थावाले पुरुष के आहार-विहार आदि सामान्य स्वार्थ-युक्त वासनाओं को शास्त्रों ने भुने हुए बीज की उपमा दी है। जैसे बीज को भूनने के बाद उसकी जीवनशक्ति का नाश हो जाता है, जिससे उस बीज से पेड़ उत्पन्न नहीं हो सकता, वैसे ही इस प्रकार के पुरुषों की सारी संसारवासना संयम और ज्ञानाग्नि से दग्ध होकर उसमें से भोगतृष्णारूपी अंकुर कदापि नहीं फूट पाता। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"पारस के स्पर्श से लोहे की तलवार का सोना बन जाने पर उसका वह आकार मात्र कायम रहता है, पर हिंसा के काम में वह कभी नहीं आ सकती।"

उपनिषद्‌कार कहते हैं कि ऐसी अवस्था प्राप्त करनेवाले साधक सत्यसंकल्प होते हैं; उनके मन में उत्पन्न होनेवाले सब संकल्प सदा सत्य ही रहते हैं। अनन्त भावमय श्रीरामकृष्ण के मन में समय समय पर उत्पन्न होनेवाले भावों की हमने जितनी बार परीक्षा की, उतनी बार हमें उनके वे सब भाव सत्य ही प्रतीत हुए। हमने देखा है कि यदि किसी के दिये हुए भोज्य पदार्थ को श्रीरामकृष्ण ग्रहण नहीं कर सकते थे, तो जाँच करने पर यही पता लगता था कि सचमुच ही वह पदार्थ स्पर्शदोष से दूषित हो गया था। इसी प्रकार यदि किसी व्यक्ति से ईश्वर की चर्चा करते समय उनका श्रीमुख बीच में ही बन्द हो जाता था, तो जान पड़ता था कि वह व्यक्ति उस विषय का बिलकुल अनधिकारी था। अमुक व्यक्ति को इस जन्म में धर्मलाभ नहीं होगा, या कम होगा, इस बात के सम्बन्ध में उनकी धारणा हो जाने पर वह बात सत्य ही निकली है। जब किसी को देखते ही उनके मन में किसी विशिष्ट भाव का या किसी देवी देवता का स्मरण हो जाता था तब पता लगाने पर यही मालूम होता था कि वह मनुष्य उस भाव

का साधक है या उस देवता का भक्त है। अपनी अन्तःस्फूर्ति में यदि किसी व्यक्ति से एकाएक कोई बात कह डालते थे तो वह बात उस व्यक्ति के लिए विशेष रीति से मार्गदर्शक हो जाती थी; उतने से ही उसके जीवन की दिशा बिलकुल बदल जाती थी। श्रीरामकृष्ण के बारे में ऐसी कितनी ही बातें बतायी जा सकती हैं।

उन्होंने अपने कुल के इष्टदेव श्रीरघुवीर की यथाविधि पूजा-अर्चा स्वयं कर सकने के उद्देश्य से बचपन में ही राममन्त्र ले लिया था। परन्तु अब उनके हृदय में श्रीरामचन्द्रजी की बालमूर्ति के प्रति वात्सल्य भाव उत्पन्न हो जाने के कारण उन्हें उस मन्त्र को जटाधारी से यथाशास्त्र लेने की अत्यन्त उत्कट इच्छा हुई। यह बात जटाधारी से कहने पर उन्होंने श्रीरामकृष्ण को अपने इष्टदेव के मन्त्र की दीक्षा आनन्द से दे दी और श्रीरामकृष्ण उसी बालमूर्ति के चिन्तन में सदा तन्मय रहने लगे।

श्रीरामकृष्ण कहते थे*––"जटाधारी बाबा रामलला की सेवा कितने ही दिनों से कर रहे थे। वे जहाँ जाते रामलला को वहीं अपने साथ ले जाते थे और जो भिक्षा उन्हें मिलती थी उसका नैवेद्य प्रथम रामलला को अर्पण करते थे। इतना ही नहीं, उन्हें तो यह प्रत्यक्ष दिखायी देता था कि रामलला मेरा दिया हुआ नैवेद्य खा रहे हैं, या कोई पदार्थ माँग रहे हैं, या कह रहे हैं कि मुझे घुमाने ले चलो अथवा किसी बात के लिए हठ पकड़े बैठे हैं। जटाधारी रामलला की सेवा में ही सदा निमग्न रहकर उसी में आनन्दित रहते तथा उसी में अपनी देह की स्मृति भी भूले रहते थे। रामलला यह सब कार्य करते हुए मुझे भी दिखते थे; इसी-

*रामलला के ये वृत्तान्त श्रीरामकृष्ण ने भिन्न भिन्न समय पर बतलाये हैं। तथापि विषय की दृष्टि से वे सभी वृत्तान्त यहाँ एक साथ दिये गये हैं।

लिए तो मैं भी उन्हीं बाबाजी के निकट रातदिन बैठकर रामलला की लीला देखता रहता था।

"जैसे जैसे दिन बीतने लगे, वैसे वैसे रामलला की प्रीति भी मुझ पर बढ़ने लगी! जब तक मैं बाबाजी के पास बैठा रहता था तब तक रामलला भी वहाँ अच्छा रहता था, बड़े उत्साह से खेलता था, आनन्द करता था और ज्योंही मैं वहाँ से उठकर अपने कमरे की ओर आने लगता था त्योंही रामलला भी मेरे पीछे दौड़ने लग जाता था। मैं कितना ही कहता कि मेरे पीछे मत आओ पर सुनता कौन था? पहले तो मुझे यही मालूम हुआ कि यह सब मेरे ही मस्तिष्क का भ्रम है, अन्यथा यह तो ठहरा बाबाजी के नित्य पूजा का देवता। और फिर बाबाजी का उस पर अगाध प्रेम है, इतना होते हुए भी यह बाबाजी को छोड़कर मेरे पास आता है--यह कैसी बात है! रामलला तो कभी मेरे आगे आगे, कभी मेरे पीछे पीछे नाचता नाचता मेरे साथ आता हुआ मुझे दिखता था और ठीक उसी प्रकार दिखता था जैसे तुम सब लोग अभी इस समय मुझे दिखायी दे रहे हो। किसी समय वह गोदी में बैठने का ही हठ पकड़ लेता था। कभी उसे गोदी में ही बिठा लो तो फिर नीचे उतरने की जल्दी पड़ जाती थी। कुछ भी करो गोदी में ठहरता ही नहीं था। ज्योंही नीचे उतरा कि पहुँचा धूप में खेलने! चला काँटेझाड़ी में फूल तोड़ने, तो कभी गंगाजी में जाकर डुबकी ही लगा रहा है; इस तरह सारे खेल हो रहे हैं। उससे कितना ही कहा जाय--'बेटा, धूप में मत रहो, पैर में फफोले आ जायँगे; पानी में मत खेलो, सर्दी हो जायगी।' पर ये सब बातें सुनता कौन था? वह तो ऐसा बन जाता था कि मानो मैं किसी दूसरे से कह रहा हूँ! अधिक से अधिक एक आध

बार अपने कमलवत् सुन्दर नेत्रों से मेरी ओर एकटक निहारकर जोर से हँस पड़ता था ! पर उसका उपद्रव जारी ही रहता था। तब मुझे क्रोध हो आता था और मैं कहता था, 'अच्छा ठहर ! अभी मैं तुझको पकड़कर ऐसी मार मारता हूँ कि अच्छी तरह याद रहेगी।' यह कहता हुआ मैं उसको धूप में से--या कभी पानी में से खींचकर घर ले आता था, और कुछ खेलने की चीज देकर घर ही में बैठालकर रखता था ! परन्तु फिर भी क्या ? उसके उपद्रव जारी ही रहते थे। तब मैं एक-दो चपत मार भी देता था ! इस तरह जब मार पड़ जाती थी, तब उसकी आँखें डबडबा जाती थीं और अत्यन्त करुण मुद्रा से वह मेरे मुँह की ओर ताकने लगता था। उसका वह दयनीय चेहरा देखकर मेरे मन में बड़ा दु:ख होता था, तब मैं उसे गोदी में लेकर पुचकारता, उसका दिल बहलाता और उसे चुप करता था।

"एक दिन मैं स्नान करने जा रहा था कि इसने भी मेरे साथ चलने का हठ पकड़ा। मैं भी उसे साथ ले चला। तब फिर नदी पर उसने क्या किया ? जो वह एक बार नदी में कूदा कि फिर बाहर आता ही नहीं था। मैंने न जाने कितनी बार कहा, पर उसका कुछ असर ही न हुआ। उसका डुबकी लगाना जारी ही था। तब मुझे गुस्सा आ गया, और मैं भी नदी में उतर पड़ा और उसको पानी के भीतर दबाकर बोला, 'अब डूब कैसे डूबता है ? मैं कब से मना कर रहा हूँ, तू मानता ही नहीं, कब से उधम मचा रहा है ?' फिर क्या कहना था ? सचमुच ही उसके प्राण निकलने की नौबत आ गयी, और वह चट पानी में एकदम खड़ा हो गया और पैर पटक-पटककर रोने लगा। उसकी ऐसी अवस्था देखकर मेरी आँखों से आँसू बह चले और अपने मन

में यह कहते हुए कि 'अरे अरे, मैं चाण्डाल यह क्या कर बैठा ?' मैंने उसे छाती से लगा लिया और उसे नदी से लेकर घर आ गया।

"एक दिन फिर उसके लिए मेरे मन में बड़ा दुःख हुआ और मैं बहुत रोया। उस दिन वह कुछ ऐसा ही हठ पकड़े बैठा था। मैंने उसे समझाने के लिए कुछ चिउड़ा--बिना साफ किया हुआ ही--खाने के लिए उसे दे दिया। थोड़ी देर बाद मैंने देखा तो उसकी कोमल जीभ भूसी से छिल गयी थी। यह देखकर मैं तो व्याकुल हो गया, मैंने उसे फिर अपनी गोद में ले लिया और गला फाड़-फाड़कर रोने लगा। 'हाय ! हाय ! देखो तो जिनके मुँह में कहीं पीड़ा न हो जाय, इस डर से माता कौशल्या बड़ी सावधानी के साथ इनको दूध, मक्खन आदि सरस सरस पदार्थ खिलाती थीं, उन्हीं के मुँह में ऐसा कड़ा तुच्छ चिउड़ा डालते समय मुझ चाण्डाल को जरा भी हिचकिचाहट नहीं हुई।'" श्रीरामकृष्ण इस प्रकार बता रहे थे कि उनका वह शोक पुनः उमड़ पड़ा और वे हमारे ही सामने गला फाड़कर चिल्ला चिल्लाकर इस तरह रोने लगे कि यद्यपि उनका यह दिव्य प्रेम लेश मात्र भी हमारी समझ में नहीं आया, पर तो भी हमारी आँखें डबडबा गयीं।

हम लोग मायाबद्ध मनुष्य हैं, रामलला की यह अद्भुत वार्ता सुनकर हम आश्चर्यचकित और हतबुद्धि हो गये। डरते डरते रामलला की ओर छिपी नजर से देखने लगे कि हमें भी कहीं श्रीरामकृष्ण के जैसा कुछ दिख जाय ! पर कुछ भी नहीं दिखा ! और कुछ दिखे भी कैसे ? रामलला पर श्रीरामकृष्ण का जो प्रेम था उसका शतांश भी हममें कहाँ है ? श्रीरामकृष्ण

की भावतन्मयता ही हमारे पास कहाँ है जिससे हम इन चर्म-चक्षुओं द्वारा रामलला की सजीव मूर्ति देख सकें। हमें तो उसमें मूर्ति के सिवाय और कुछ नहीं दिखता। मन में आता है कि क्या श्रीरामकृष्ण जैसा कहते हैं वैसा सचमुच हुआ होगा? संसार के सभी विषयों में हमारी यही स्थिति रहा करती है; संशय-पिशाच सदा हमारी गर्दन पर सवार रहता है; अविश्वास-सागर में हम सदा गोते लगाया करते हैं। देखिये न, ब्रह्मज्ञ ऋषियों का वाक्य है--"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन--।" जगत् में एक सच्चिदानन्द ब्रह्मवस्तु को छोड़कर दूसरा कुछ नहीं है--जगत् में दिखने वाले "नाना" पदार्थों और "नाना" व्यक्तियों में से एक भी वास्तव में सत्य नहीं है। हम मन में कहने लगे--"शायद ऐसा ही हो!" और संसार की ओर बड़ी कड़ी दृष्टि से हम देखने लगे, पर "एकमेवाद्वितीयम्" ब्रह्मवस्तु का हमें नाम को भी पता नहीं लगा। हमें तो दिखा केवल मिट्टी-पत्थर, लोहा-लकड़ी, घर-द्वार, मनुष्य, जानवर तथा तरह तरह के रंग-बिरंगे पदार्थ! इन सब को देखकर हमें ऐसा लगने लगा कि कहीं ऋषियों के मस्तिष्क में तो विकार नही हो गया था? अन्यथा यह ऊटपटांग सिद्धान्त उन्होंने कैसे बता दिया? पर ऋषियों का पुनः कहना है कि "भाइयो! वैसा नहीं है, पहले तुम काया, वचन, मन से संयम और पवित्रता का अभ्यास करो, अपने चित्त को स्थिर करो, तभी तुम्हें हमारा कथन ठीक ठीक समझ में आयेगा और तुम्हें यह प्रत्यक्ष अनुभव भी होगा कि यह जगत् केवल तुम्हारी आन्तरिक कल्पना का बाह्य प्रकाश मात्र है। तुम्हारे भीतर अनेकता है, इसीलिए बाहर भी 'अनेकता' ही दिखायी देती है।" हम कहते हैं, "ऋषियो! इस पेट

की चिन्ता और इन्द्रियों की झंझट के सामने हमें यह सब करने की फुरसत कहाँ है ?" अथवा हम यह कहते हैं कि "ऋषियो ! आप उस ब्रह्मवस्तु को देखने के लिए हमसे जो जो उपाय करने को कहते हैं, वे कुछ दो-चार दिन, वर्ष-दो वर्ष में तो हो नहीं सकते, सारा जीवन भी शायद उसके लिए पर्याप्त न हो। आपकी बात मानकर हम इसके पीछे लग गये और मान लीजिये, हमें आपकी वह ब्रह्मवस्तु दिखायी नहीं दी और आपका वह अनन्त आनन्दलाभ और शान्ति आदि की बातें कविकल्पना ही निकलीं, तब तो हमारा न यह पूरा हुआ, न वही और फिर कहीं हमारी त्रिशंकुवत् करुणाजनक स्थिति न हो जाय ! क्षणभंगुर हो, या और कुछ हो, इस पृथ्वी के सुख से हम हाथ धो बैठेंगे और आपका वह अनन्त सुख भी हमारे हाथ नहीं लगेगा ! अतएव ऋषियो, बस कीजिये, आप ही अपने अनन्त सुख का स्वाद खुशी से लेते रहिये, आपका सुख आप ही को फले। हमें तो अपने इन्हीं रूपरसादि विषयों से जो कुछ थोड़ा-बहुत सुख मिल सकता है, वही बस है। व्यर्थ ही हजारो युक्तियों, तर्क और विचारों की झंझट में हमें डालकर नाहक मत भटकाइये। हमारे इस सुख को व्यर्थ ही मिट्टी में मत मिलाइये।"

अब इस ब्रह्मज्ञान की बात को छोड़िये। पर क्या अन्य बातों में, सांसारिक बातों में ही हमारा मन सर्वथा संशयहीन रहता है ? आप्त वाक्यों पर पूर्ण विश्वास रखकर चाहे जैसा प्रसंग आये--उसी के अनुसार आचरण करने का धैर्य कितने लोगों में दिखायी देता है ? यदि हममें विश्वास और श्रद्धा का बल नहीं है तथा हाथ में लिये हुए कार्य को अन्त तक पहुँचाने के लिए पूर्ण प्रयत्न करने की तत्परता भी नहीं है, तो सांसारिक विषयों में

भी हमें सिद्धि कैसे प्राप्त हो सकती है ? अस्तु––

रामलला की इस प्रकार की अद्‌भुत कथा कहते कहते श्रीरामकृष्ण बोले––"आगे चलकर ऐसा होने लगा कि बाबाजी नैवेद्य तैयार करके कितनी देर से राह देख रहे हैं, पर रामलला का पता ही नहीं है। इसमें उन्हें बहुत बुरा लगता है और वे उन्हें ढूँढ़ते-ढूँढ़ते यहाँ आकर देखते हैं, तो रामलला घर में आनन्द से खेल रहे हैं। तब वे अभिमान के साथ उन्हें बहुत उलहना देते थे। वे कहते थे––'मैं कब से नैवेद्य तैयार करके तुझे खिलाने के लिए तेरी राह देख रहा हूँ, और तू यहाँ आनन्द से खेल रहा है ? तेरी यही कुटेव पड़ गयी है, जो मन में आता है वही करता है। दया, ममता तो तुझमें कुछ है ही नहीं। माँ-बाप को छोड़कर बन को चला गया। बाप बेचारा तेरे नाम से आँसू बहाता बहाता मर गया, पर तू इतने पर भी नहीं लौटा और उसे तूने दर्शन तक नहीं दिये !' इसी तरह बाबाजी उन्हें बहुत झिड़कते थे और फिर उनका हाथ पकड़कर उन्हें खींचते हुए ले जाते थे और भोजन कराते थे। इसी तरह बहुत समय तक चला। बाबाजी यहाँ बहुत दिनों तक रम गये थे, क्योंकि रामलला मुझे छोड़कर जाते ही नहीं थे और बाबाजी से भी रामलला को यहीं छोड़कर जाते नहीं बनता था।

"आगे चलकर एक दिन बाबाजी मेरे पास आये और अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरी ओर देखकर बोले––'रामलला ने मेरी इच्छानुसार दर्शन देकर आज मेरे चित्त की व्याकुलता शान्त कर दी। अब मुझे कोई भी इच्छा नहीं है और न मुझे कोई दुःख ही है। उसकी इच्छा तुमको छोड़कर मेरे साथ जाने की नहीं है। तुम्हारे पास वह आनन्द से रहता है और खेलता है, यही देखकर

मैं आनन्द मानूँगा। बस मैं चाहता हूँ कि वह जहाँ भी रहे, आनन्द से रहे! इसलिए अब उसे तुम्हारे पास छोड़कर मैं कहीं और जाने में कोई हानि नहीं समझता। वह तुम्हारे पास सुखी है, यही ध्यान करता हुआ मैं आनन्द से दिन बिताऊँगा!' जब से बाबाजी ऐसा कहकर रामलला को मुझे सौंपकर यहाँ से दूसरी ओर चले गये हैं तब से रामलला यहीं हैं।"

रामायत पन्थी साधुओं से श्रीरामकृष्ण ने बहुत से पद सीखे थे। वे किसी किसी पद को बाद में कभी कभी गाया भी करते थे।

---

२६. भिन्न भिन्न साधुसम्प्रदाय, पद्मलोचन और नारायण शास्त्री

पिछले प्रकरण में बता ही चुके हैं कि जब श्रीरामकृष्ण अपनी साधना में मग्न रहते थे उस समय भिन्न भिन्न पन्थों के साधुसन्तों का दक्षिणेश्वर में आना प्रारम्भ हुआ था। इतना ही नहीं, वे जिस भाव की साधना में लगते थे, उसी भाव के साधकों का दक्षिणेश्वर में ताँता लग जाता था। जब उन्होंने श्रीरामचन्द्र की उपासना करके उनका दर्शन प्राप्त कर लिया, तभी रामायत पन्थ के साधु आने लगे। वैष्णव तन्त्रोक्त साधना में उन्होंने सिद्धि प्राप्त की कि तुरन्त ही उस भाव के यथार्थ साधक उनके पास आने लगे। जब उन्हें वेदान्तोक्त अद्वैतज्ञान की चरम सीमा निर्विकल्प समाधि प्राप्त हो गयी, तभी ऐसा दिखता है कि वेदान्त सम्प्रदाय के साधक आने लगे।

इस प्रकार भिन्न भिन्न सम्प्रदाय के साधकों के उसी उसी समय पर आने में एक विशेष गूढ़ अर्थ दिखता है। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"फूल के खिलने पर भ्रमर उसके पास चारों ओर से स्वयं दौड़कर आते हैं।"

स्वयं श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध में भी यह नियम सत्य होते दिखायी पड़ता है। कोई अवतारी महापुरुष किसी विशेष प्रकार के सत्य का अनुभव प्राप्त करके सिद्ध हो जाता है, तब उस अनुभव को लेने के लिए यथार्थ जिज्ञासु साधक उसके पास आप ही आप

आने लगते हैं। यह बात प्रत्येक धर्म के इतिहास में दिखायी देती है। वर्तमान युग के अनन्त भावमय अवतार श्रीरामकृष्ण जब हर एक पन्थ की प्रत्येक साधना का स्वयं अनुभव लेकर उनमें जैसे जैसे सिद्ध होते जाते थे, वैसे वैसे उन मार्गों के साधक उनके अनुभव का लाभ उठाने के लिए किसी अज्ञात शक्ति द्वारा उनकी ओर आकर्षित हो जाते थे।

इन भिन्न भिन्न पन्थों की साधना करते समय श्रीरामकृष्ण उनमें ऐसे तन्मय हो जाते थे कि उस समय उस साधना को छोड़ अन्य कोई भी बात उनके मन में नहीं आती थी। साधारणतः लोग उनकी इस असम्बद्धता (ग्रहण करने और छोड़ने) का अर्थ न समझने के कारण तथा उनकी उच्च आध्यात्मिक अवस्था को समझने योग्य ज्ञान के अभाव के कारण उन्हें पागल कहा करते थे। पर बाद में लोग इस विलक्षण पागल की अलौकिक शक्ति के विकास को जैसे जैसे जानने लगे, उनके मत में भी वैसे वैसे परिवर्तन होने लगे। तथापि कोई कोई उन्हें पागल ही समझते थे।

ब्राह्मसमाज के एक आचार्य परम पूज्य शिवनाथ शास्त्री ने हममें से किसी किसी के पास यह कहा था कि श्रीरामकृष्ण की भावसमाधि यथार्थ में कोई स्नायु-विकार-जन्य रोग है और ऐसे रोगवाले मनुष्य को जिस तरह समय समय पर मूर्छा आया करती है, वैसा श्रीरामकृष्ण को भी होता है। यह बात श्रीरामकृष्ण के कान तक पहुँची। शिवनाथ शास्त्री श्रीरामकृष्ण के पास बहुत दिनों से आ रहे थे। एक दिन जब वे दक्षिणेश्वर आये हुए थे, तब उनसे श्रीरामकृष्ण बोल उठे, "क्यों जी शिवनाथ, मैंने सुना है कि आप इसे रोग मानते हैं; और कहते हैं कि इस रोग के ही कारण मुझे मूर्छा आ जाया करती है? तो क्या नमक-तेल-लकड़ी,

मिट्टी-पत्थर, रुपया-पैसा, धन-सम्पत्ति आदि जड़ वस्तुओं का ही रात-दिन चिन्तन करते करते आपका दिमाग ठीक रहता है ? और जिसकी शक्ति से यह सारा जगत् चैतन्यमान हो रहा है उसका चिन्तन नित्य करने से मुझे रोग हो गया तथा मेरा दिमाग बिगड़ गया--मेरा माथा फिर गया है ? यह कहाँ की बुद्धिमानी है आपकी ?" इतना सुनकर शिवनाथबाबू निरुत्तर हो गये।

"दिव्योन्माद" "ज्ञानोन्माद" आदि शब्दों का प्रयोग श्रीरामकृष्ण की बातचीत में नित्य हुआ करता था। वे सभी से कहा करते थे--"मेरे जीवन में बारह वर्ष तक एक ईश्वरानुराग का प्रचण्ड तूफान उमड़ा हुआ था। आँधी से जिस प्रकार दशों दिशाओं में धूलि भर जाती है, और फिर पेड़ों तक को नहीं पहचान सकते, इतना ही नहीं उन्हें उस समय देख भी नहीं सकते--ठीक वही अवस्था मेरी थी। भला-बुरा, निन्दा-स्तुति, शुचि-अशुचि, ये सारे भेदभाव नष्ट हो चुके थे ! मन में रातदिन एक यही धुन समायी थी कि 'ईश्वरप्राप्ति कैसे हो ?' रातदिन केवल उसी के लिए यत्न जारी था। इससे लोग कहते थे--'यह पागल हो गया है' !"

इसी तरह दूसरे समय बात निकलने पर श्रीरामकृष्ण ने स्वामी विवेकानन्द से कहा--"बच्चा ! ऐसा समझ कि किसी कोठरी में एक चोर बैठा हुआ है और उसी के पास की कोठरी में एक सन्दूक में सोने की ईंट रखी हुई है, इस बात को चोर जानता है। तब क्या वह चोर वहाँ सुखपूर्वक बैठ सकेगा ? उस सोने की ईंट पर हाथ मारने के लिए वह चोर जिस तरह अधीर या व्याकुल हो जायगा और मौक़ा पड़ने पर अपनी जान को भी जोखिम में डालने के लिए आगापीछा नहीं करेगा ठीक वही स्थिति ईश्वरप्राप्ति के सम्बन्ध में मेरी उस समय हो गयी थी।"

श्रीरामकृष्ण की विशिष्ट साधनाओं के करते समय दक्षिणेश्वर में जिस जिस पन्थ के जो साधुसन्त और साधक आये थे, उनमें से किसी किसी की बातें वे हम लोगों को बताया करते थे। वे कहते थे—"एक बार एक साधु आया। उसका मुखमण्डल अत्यन्त तेजस्वी दिखता था। वह केवल एक ही स्थान में बैठता था और लगातार हँसता रहता था! केवल प्रातःकाल एक बार और सायंकाल एक बार घर से बाहर निकलता था, और पेड़, आकाश, गंगा तथा मन्दिर की ओर अच्छी तरह निहारकर देखता था और आनन्द में मग्न होकर दोनों हाथ ऊपर उठाकर नाचता था। कभी हँसते हँसते इधर उधर लोटने लगता था और कहता था, 'अहाहा! कैसी माया है! कैसा प्रपंच रचा है!' यही उसकी उपासना थी! उसे आनन्द-लाभ हो चुका था।

"और एक दिन की बात है कि एक दूसरा साधु आया था। उसे था ज्ञानोन्माद। दिखने में वह एक पिशाच के समान था। नंगा शरीर और सिर में धूल, नख और केश बहुत बढ़े हुए, केवल कन्धे पर एक वस्त्र पड़ा हुआ था जैसे मृतक पर रहता है। वह कालीमन्दिर के सामने आकर खड़ा हो गया और इस प्रकार स्तवन करने लगा कि मानो मन्दिर कम्पायमान हो रहा हो और श्रीजगन्माता प्रसन्न होकर हँस रही हो। तत्पश्चात् भिखारियों को जहाँ अन्न बाँटा जाता है वहीं उन्हीं के साथ अन्न मिलेगा यह समझकर जा बैठा, परन्तु उसका वह रूप देखकर पहरेदारों ने उसे वहाँ से मारकर भगा दिया। वहाँ से उठकर वह उस स्थान में पहुँचा, जहाँ जूठी पत्तलें फेंकी जाती हैं। वहाँ एक कुत्ता पत्तल चाट रहा था, उसके शरीर पर हाथ रखकर बोला, 'वाह! वाह! यह क्या है भला? तुम्हीं अकेले खाओ और हम लंघन करें?'

ऐसा कहकर उस कुत्ते के साथ वह उन पत्तलों में से जूठन बटोरकर खाने लगा ! वह कुत्ता भी वहीं आनन्द से पत्तलें चाट रहा था ! यह सब दृश्य देखकर मुझे डर लगा और मैं दौड़ता हुआ जाकर हृदय के गले से लिपटकर बोला, 'हृदू, क्यों रे ! क्या अन्त में मेरी भी यही अवस्था होगी और मुझे भी ऐसे ही भटकना होगा ? यह तो पागल नहीं है, इसे है ज्ञानोन्माद !' यह सुनकर हृदय उसे देखने गया। उस समय वह बगीचे से बाहर जा रहा था। हृदय उसके साथ बड़ी दूर तक जाकर उससे बोला, 'महाराज ! ईश्वरप्राप्ति कैसे होगी ? कोई उपाय बताइये।' प्रथम तो उसने कोई उत्तर ही नहीं दिया, पर हृदय ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। वह उसके पीछे ही चला जा रहा था। तब वह कुछ समय में बोला, 'इस नाली का पानी और गंगा का पानी दोनों एक समान पवित्र हैं, ऐसा बोध जिस समय होगा, उसी समय ईश्वरप्राप्ति होगी।' वह और भी कुछ कहे इस हेतु से हृदय ने उसका बहुत पीछा किया और फिर बोला, 'महाराज ! मुझे अपना चेला बना लीजिये'––पर कोई उत्तर नहीं मिला। तो भी हृदय उसके साथ चला ही जाता था। यह देखकर उसने एक पत्थर उठाया और हृदय पर फेंकना चाहा तब तो हृदय वहाँ से भागा और पीछे फिरकर देखता है तो साधु गायब ! इस तरह के साधु लोगों के व्यर्थ कष्ट से डरकर ऐसे वेष में रहते हैं। इस साधु की अत्यन्त उच्च परमहंस अवस्था थी।

"एक दिन एक और साधु आया। वह रामायत पन्थी था। उसका नाम पर अत्यन्त विश्वास था। उसके पास सिर्फ एक लोटा और एक पोथी छोड़कर कोई दूसरा सामान नहीं था। उस पोथी पर उसकी बड़ी भक्ति थी। वह नित्य प्रति उस

पोथी की चन्दन-पुष्प चढ़ाकर पूजा करता था और बीच बीच में उसे खोलकर देखता था। उससे मेरा थोड़ा परिचय हो जाने पर एक दिन मैंने उसकी पोथी देखने के लिए माँगी। नहीं नहीं करते उसने अन्त में मेरा अत्यन्त आग्रह देखकर वह पोथी मेरे हाथ में दे दी। मैंने बड़ी उत्सुकता से खोलकर देखा तो उसमें क्या मिला? भीतर लाल स्याही से बड़े बड़े अक्षरों में केवल 'ॐराम' ये ही अक्षर आदि से अन्त तक लिखे हुए थे। वह साधु बोला—'व्यर्थ कूड़ा-कर्कट से भरे ग्रन्थों को पढ़कर क्या करना है? एक भगवान से ही तो वेद-पुराणों की उत्पत्ति हुई है और वे भगवान् और उनका नाम दोनों तो एक ही हैं। तो फिर चार वेद, छः शास्त्र, अठारह पुराण में जो कुछ है वह सब उनके नाम में है ही! इसीलिए तो मैंने उनका सिर्फ नाम पकड़ रखा है।' उस साधु का नाम पर इतना अटूट विश्वास था।"

श्रीरामकृष्ण के पास आनेवाले कितने ही साधक उनसे दीक्षा और संन्यास लेकर वापस गये। उन्हीं में से पण्डित नारायण शास्त्री भी एक थे। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"पूर्वकाल के ब्रह्म-चारियों के समान नारायण शास्त्री ने गुरुगृह में रहकर भिन्न-भिन्न शास्त्रों का अध्ययन करने में पचीस वर्ष बिताये थे। उन्होंने काशी आदि कई स्थानों में भिन्न भिन्न गुरुओं के साथ रहकर षड्दर्शनों में प्रवीणता प्राप्त कर ली थी; परन्तु बंगाल के नवद्वीप के प्रसिद्ध नैयायिकों को छोड़कर अन्यत्र न्यायदर्शन का सांगोपांग अभ्यास होना असम्भव समझकर उन्होंने अपने दक्षिणे-श्वर आने के पूर्व आठ वर्ष तक नवद्वीप में रहकर न्यायशास्त्र का सांगोपांग अभ्यास करके उसमें भी प्रवीणता प्राप्त की। वे घर जाने के पहले एक बार कलकत्ता शहर देखने की इच्छा से

वहाँ होते हुए दक्षिणेश्वर आये थे ।

"बंगाल में आने के पूर्व ही उनके पाण्डित्य की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थी । एक बार जयपुर के महाराजा ने उन्हें अपनी सभा का पण्डित-पद स्वीकार करने के लिए विनती की थी, परन्तु न्यायशास्त्र का अध्ययन शेष रहने के कारण उन्होंने महाराजा का कहना नहीं माना ।"

नारायण शास्त्री अन्य साधारण पण्डितों के समान कोरे पुस्तकी पण्डित नहीं थे । शास्त्रज्ञान के साथ साथ उनके हृदय में वैराग्य का उदय भी हो गया था । वेदान्तशास्त्र में वे प्रवीण थे और वे यह भी जानते थे कि यह शास्त्र केवल पढ़ने का नहीं वरन् अनुभव करने का है । अतः पठन-पाठन हो जाने पर ज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिए साधना करने की व्याकुलता उनके मन में थी और घर लौटकर साधना में संलग्न होने का उनका संकल्प भी था । इस मनःस्थिति में उनका दक्षिणेश्वर में आगमन हुआ था । वहाँ उनकी श्रीरामकृष्ण से भेंट होने पर उनके प्रति नारायण शास्त्री के मन में बड़ा प्रेम उत्पन्न हो गया ।

नारायण शास्त्री यशस्वी पण्डित थे, अतः दक्षिणेश्वर में उनके लिए अच्छा प्रबन्ध कर दिया गया । दक्षिणेश्वर का रम्य स्थान, फिर वहाँ खाने-पीने की पूरी सुविधा और इसके सिवाय श्रीरामकृष्ण का दिव्य सत्संग, इन सब बातों को देखकर शास्त्रीजी ने वहाँ कुछ दिन बिताने के बाद घर लौटने का विचार किया । श्रीरामकृष्ण के संग में इतना आनन्द आता था कि उन्हें छोड़कर जाने की इच्छा ही नहीं होती थी । सरलहृदय श्रीरामकृष्ण को भी नारायण शास्त्री के सहवास में आनन्द मालूम होता था । इस तरह ईश्वरीय कथा-प्रसंग में ही उन दोनों के दिन आनन्द

से व्यतीत होने लगे ।

वेदान्तोक्त सप्तभूमिका तथा समाधि आदि की बातें शास्त्रीजी पढ़े हुए थे, परन्तु श्रीरामकृष्ण के सहवास से ये सब बातें उन्हें प्रत्यक्ष देखने को मिल गयीं । उन्हें यह विदित हो गया कि हम समाधि आदि शब्द केवल मुँह से कहा करते हैं; पर ये महापुरुष तो उस अवस्था का सदा सर्वकाल प्रत्यक्ष अनुभव कर रहे हैं । उन्होंने विचार किया--"ऐसे अवसर को हाथ से जाने देना ठीक नहीं है । शास्त्रों के गूढ़ अर्थ को समझानेवाला इनके सिवाय कोई दूसरा अधिक योग्य पुरुष कहाँ मिलेगा ? अत: चाहे जैसे हो, इनसे ब्रह्मसाक्षात्कार कर लेने का प्रयत्न करना ही चाहिए ।" ऐसा सोचकर उन्होंने घर लौटने का विचार छोड़ दिया ।

दिन पर दिन बीतने लगे और श्रीरामकृष्ण की दिव्य संगति में नारायण शास्त्री के अन्तःकरण में वैराग्य और व्याकुलता बढ़ने लगी । अपने पाण्डित्य का प्रदर्शन करके सभी को चकित कर देने का जोश और महामहोपाध्याय बनकर संसार में सब से श्रेष्ठ नाम, यश और प्रतिष्ठा प्राप्त करने की चाह ये सब बातें उन्हें तुच्छ मालूम पड़ने लगीं । वे अपना सब समय श्रीरामकृष्ण के सत्संग में बिताते थे, उनके श्रीमुख से निकलने वाले शब्दों को एकाग्रचित्त हो सुनते थे और मन में कहते थे--"अहाहा ! इस मनुष्य-जन्म में जो कुछ जानने योग्य और समझने योग्य है उस सब को समझकर और जानकर, यह महापुरुष किस प्रकार निश्चिन्त होकर बैठा है ! मृत्यु भी इसको नहीं डरा सकती ! उपनिषद् कहते हैं कि इस प्रकार के पुरुष सिद्धसंकल्प होते हैं, उनकी कृपा होने पर मनुष्य की संसारवासना नष्ट होकर ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जाता है; तब फिर इन्हीं की शरण में क्यों न जायँ ?"

उस समय शास्त्रीजी के हृदय में जो तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो गया था वह नीचे लिखी बात से मालूम हो सकता है। एक बार प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदन दत्त किसी काम से दक्षिणेश्वर आये थे; वे अपने काम को समाप्त करके श्रीरामकृष्ण से भेंट करने गये। शास्त्रीजी उस समय वहीं थे। शास्त्रीजी ने माइकेल से ईसाईधर्म स्वीकार करने का कारण पूछा। माइकेल बोले, "मैंने पेट के लिए ऐसा किया।" इस उत्तर को सुनकर शास्त्रीजी क्रोध में आकर बोल उठे, "क्या? इस क्षणभंगुर संसार में पेट की खन्दक को भरने के लिए आपने स्वधर्म का त्याग किया? धिक्कार है ऐसे मनुष्य को! एक दिन मरना तो है ही; यदि अपने धर्म में ही रहते हुए आप मर जाते तो क्या संसार सूना हो गया होता?" माइकेल के चले जाने पर शास्त्रीजी ने श्रीरामकृष्ण के कमरे के दरवाजे के पास दीवाल पर कोयले से लिख दिया, "पेट के लिए स्वधर्म त्यागनेवालों को धिक्कार है!"

शास्त्रीजी के मन में वैराग्य दिनोंदिन बढ़ने लगा और वे श्रीरामकृष्ण की कृपा प्राप्त करने की चिन्ता में प्रत्येक क्षण बिताने लगे। दैवयोग से एक दिन श्रीरामकृष्ण से उनकी भेंट एकान्त में हो गयी। झट "मुझे संन्यासदीक्षा दीजिये" कहकर वे उनके पास धरना देकर बैठ गये। श्रीरामकृष्ण स्वभावतः इस बात के लिए एकदम सहमत तो नहीं हुए, परन्तु शास्त्रीजी का तीव्र वैराग्य देखकर उन्होंने उनको संन्यासदीक्षा दे दी। शास्त्रीजी ने अपनी इच्छा को पूर्ण हुई देख अपने को धन्य माना और वशिष्ठाश्रम में जाकर तपश्चर्या करने का संकल्प कर लिया। तत्पश्चात् उन्होंने श्रीरामकृष्ण से शीघ्र बिदा लेकर वशिष्ठाश्रम की ओर प्रस्थान किया। अत्यन्त कठोर तपश्चर्या करने के कारण उनका शरीर

क्षीण होकर वहीं उनका देहान्त हो गया।

किसी स्थान में यथार्थ साधु, साधक, भगवद्भक्त या कोई शास्त्रज्ञ पण्डित के रहने का समाचार पाते ही श्रीरामकृष्ण को उनसे भेंट करने की इच्छा होती थी। उनके पास किसी भी तरह जाकर उनसे ईश्वरीय चर्चा किये बिना वे नहीं रहते थे। वहाँ जाने पर वे अपना योग्य सम्मान अथवा लोगों के कुछ कहने आदि का भी कुछ भी विचार नहीं करते थे। पण्डित पद्मलोचन, स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि के पास तो वे ऐसे ही स्वयं चले गये थे।

पण्डित पद्मलोचन न्यायशास्त्र में अत्यन्त निपुण थे। न्यायशास्त्र का अध्ययन पूर्ण होने पर उन्होंने काशी में वेदान्तशास्त्र का उत्तम अध्ययन किया और उसमें भी प्रवीणता प्राप्त की। उनकी विद्वत्ता की ख्याति सुनकर बर्दवान के महाराजा ने उन्हें अपने यहाँ मुख्य सभा-पण्डित नियुक्त किया था।

पण्डित पद्मलोचन अत्यन्त उदार अन्तःकरण के थे। वे अपने ही मत को ठीक जानकर दूसरों के मत का तिरस्कार नहीं कर देते थे। पक्षपात उन्हें बिलकुल नापसन्द था। श्रीरामकृष्ण कहते थे— "एक बार बर्दवान की राजसभा में पण्डितों के बीच यह विवाद उपस्थित हुआ कि 'शिव श्रेष्ठ हैं या विष्णु।' शास्त्रों से प्रमाण बताकर और शब्दों की खींचतान करके प्रत्येक व्यक्ति बाल की खाल निकालकर अपने अपने पक्ष का समर्थन कर रहा था। परन्तु इस तरह बहुत समय तक बड़े जोर-शोर का वाद-विवाद चलने के बाद भी निर्णय नहीं हो सका। सभा में पद्मलोचन नहीं थे। आते ही वे प्रश्न को सुनकर बोले—'मैंने न तो कभी शिव को देखा है, न विष्णु को ही। तब ये श्रेष्ठ हैं या वे, यह मैं कैसे बताऊँ? तथापि शास्त्रों के आधार से यदि निश्चय करना

है तो यही कहना होगा कि शैव शास्त्रों में शिव को और वैष्णव शास्त्रों में विष्णु को श्रेष्ठ बताया गया है। जिसका जो इष्ट हो, वही उसके लिए अन्य देवताओं की अपेक्षा श्रेष्ठ है।' ऐसा कहकर पण्डितजी ने शिव और विष्णु की श्रेष्ठता बताने वाले कुछ श्लोक कहे। फिर उन्होंने शिव और विष्णु दोनों की समान श्रेष्ठता पर अपना मत प्रकट किया। पण्डितजी के सरल और स्पष्ट भाषण से विवाद मिट गया और सभी लोग उनकी प्रतिभा की प्रशंसा करने लगे।"

पद्मलोचन कोरे पण्डित ही नहीं थे वरन् अत्यन्त सदाचारी, निष्ठावान और उदारचित्तवाले थे; साथ ही वे तपस्वी, वैराग्यवान और भगवद्भक्त भी थे। श्रीरामकृष्ण ने उनके गुणों की कीर्ति सुनकर उनसे भेंट करने के लिए जाने का निश्चय किया। मथुरबाबू ने श्रीरामकृष्ण की इच्छा देखकर उन्हें बर्दवान भेजने की तैयारी की। पर इतने ही में उन्हें पता लगा कि पण्डितजी का स्वास्थ्य कुछ खराब होने के कारण हवा बदलने के लिए और औषधोपचार के लिए, वे कलकत्ते ही में आरियादह के घाट के समीपवाले एक बगीचे में आ गये हैं और वहाँ उनका स्वास्थ्य सुधर रहा है। उन्होंने इस समाचार का ठीक पता लगाने के लिए हृदय को भेजा। हृदय ने आकर बताया कि बात सत्य है और श्रीरामकृष्ण के सम्बन्ध की बातें सुनकर पण्डितजी के मन में भी उनसे भेंट करने की बड़ी प्रबल इच्छा है। श्रीरामकृष्ण ने यह सुनकर उनके पास स्वयं जाने का इरादा करके दिन भी निश्चित कर लिया।

उस दिन हृदय को साथ लेकर श्रीरामकृष्ण पण्डितजी से भेंट करने चल दिये और परस्पर भेंट होने पर दोनों को बड़ा सन्तोष

हुआ। पण्डितजी के गुणों की कीर्ति की यथार्थता वहाँ श्रीरामकृष्ण को दिखायी पड़ी और श्रीरामकृष्ण की उच्च आध्यात्मिकता तथा उनकी समाधि-अवस्था देखकर पण्डितजी को भी उनके महापुरुषत्व का निश्चय हो गया। श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से जगदम्बा के एक-दो गीत सुनकर पण्डितजी के नेत्र भर आये। श्रीरामकृष्ण की भावतन्मयता तथा बारम्बार उनके बाह्य ज्ञान का लोप होना देखकर और उनके श्रीमुख से उस अवस्था में प्राप्त हुए उनके अनुभवों को जानकर पण्डितजी चकित हो गये।

तत्पश्चात् श्रीरामकृष्ण और पण्डितजी की भेंट कई बार होती रही, जिससे पण्डितजी को श्रीरामकृष्ण की अलौकिकता का अधिकाधिक परिचय और निश्यय उत्तरोत्तर होने लगा। अन्त में वे श्रीरामकृष्ण की भक्ति साक्षात् ईश्वरभाव से करने लगे।

श्रीरामकृष्ण में पण्डितजी का इतना दृढ़ विश्वास हो जाने का एक कारण था। पण्डितजी वेदान्त-ज्ञान और विचार के साथ थोड़ीबहुत तान्त्रिक साधनाएँ भी करते थे। उन्हें उनका थोड़ा-बहुत फल भी मिल गया था। उनकी साधना से प्रसन्न होकर उनके इष्ट-देव ने उन्हें एक वर दिया था जिससे वे बड़े बड़े पण्डितों की सभा में भी सदा विजयी ही हुआ करते थे। बात यह थी कि उनके पास हर समय पानी से भरा हुआ एक लोटा और छोटा सा रूमाल रहता था। किसी भी विषय पर शास्त्रार्थ करने के पूर्व वे उस लोटे को हाथ में लेकर कुछ समय तक इधर उधर घूमते थे और उसी पानी से मुँह धोकर कुल्ला किया करते थे; फिर हाथ पैर पोंछकर अपने कार्य में लग जाते थे। जब वे इस प्रकार तैयार होकर विवाद करते, तब उन्हें पराजय करने के लिए कोई भी समर्थ नहीं होता था। यह बात पण्डितजी ने किसी से

कभी प्रकट नहीं की थी; और उनके इस प्रकार हाथ, पैर, मुँह धोने में जो रहस्य था उसकी कल्पना भी किसी के मन में नहीं आयी थी !

श्रीरामकृष्ण कहते थे—"माता की कृपा से मैं इस बात को जान गया और एक दिन मैंने उनका वह लोटा और रूमाल उनके बिना जाने छिपाकर रख दिया। उस दिन भी कोई ऐसा ही प्रश्न सामने आ गया, जिसे हल करने के लिए पण्डित लोग जुटे थे। पण्डितजी अपने सदा के नियम के अनुसार वहाँ भी मुँह धोने के लिए अपना लोटा ढूँढ़ने लगे, परन्तु वह कहीं नहीं दिखा। इसलिए वे बिना मुँह धोये ही सभा में गये परन्तु वहाँ उस शास्त्रार्थ में उनकी बुद्धि काम नहीं कर सकी। अन्त में वे वहाँ से लौटकर अपना लोटा और रूमाल पुनः ढूँढ़ने लगे। उन्हें जब यह पता लगा कि उस लोटे को मैंने जानबूझकर छिपा दिया है, तब उनके आश्चर्य की सीमा नहीं रही। मुझे प्रत्यक्ष इष्टदेव मानकर वे मेरी स्तुति करने लगे।" उस दिन से पण्डितजी श्रीरामकृष्ण को साक्षात् ईश्वरावतार जानकर उनकी उसी प्रकार से भक्ति करने लगे। श्रीरामकृष्ण कहते थे—"पण्डित पद्मलोचन इतने भारी विद्वान होकर मेरी देवता के समान भक्ति करते थे। वे कहते थे, 'मैं सभी पण्डितों की सभा करके सब को बताता हूँ कि आप ईश्वरावतार हैं; किसी की हिम्मत हो तो सामने आकर मेरी उक्ति का खण्डन करे।' मथुरबाबू ने एक बार किसी कार्य के लिए पण्डितों की सभा बुलायी थी। पद्मलोचन थे अत्यन्त आचारवान और निर्लोभी पण्डित; उन्हें शूद्र का दान लेना मान्य नहीं था। अतः वे कदाचित् सभा में न आयें यह सोचकर, मथुरबाबू ने उनसे आने का आग्रह करने के लिए मुझसे कहा। मेरे पूछने पर

उन्होंने कहा––'जब आप साथ हैं तो मैं किसी भंगी के घर भी भोजन करने को तैयार हूँ। तब ढीमर के यहाँ की सभा की बात ही क्या' ?"

अन्त में सभा हुई, परन्तु पद्मलोचन उस सभा में उपस्थित न हो सके। सभा बुलाने के पूर्व ही उनका स्वास्थ्य अधिक खराब हो गया था; इसलिए पुनः हवा बदलने के लिए उन्होंने श्रीरामकृष्ण से अत्यन्त गद्‌गद हृदय होकर विदा ली। वहाँ से वे काशी गये और वहीं थोड़े दिनों में उनका देहान्त हो गया।

तत्पश्चात् कुछ समय के बाद जब कलकत्ते के भक्त लोग श्रीरामकृष्ण के चरण-कमलों के आश्रय में आने लगे, तब उनमें से कोई भक्तिविशेष के कारण खुलेआम उन्हें ईश्वरावतार कहने लगे। यह बात श्रीरामकृष्ण के कान में पहुँचते ही उन्होंने उन लोगों को ऐसा करने से मना कर दिया। परन्तु यह जानकर कि भक्ति के आवेश में ये भक्तगण मेरा कहना नहीं मानते, वे एक दिन क्रुद्ध होकर हम लोगों से बोले––"कोई डॉक्टरी करता है, कोई थिएटर का मैनेजर है और ऐसे लोग यहाँ आकर मुझे अवतार कहते हैं। वे समझते हैं कि मुझे अवतार कहकर वे मेरी बहुत कीर्ति बढ़ा रहे हैं और मुझे किसी बड़े पद पर चढ़ा रहे हैं। अवतार किसे कहते हैं इस बात का उन्हें ज्ञान भला क्या है ? इन लोगों के आने के पूर्व नारायण शास्त्री तथा पद्मलोचन जैसे कितने धुरन्धर और दिग्गज पण्डित––कोई तीन शास्त्रों का पण्डित, कोई छः का, तथा जिन्होंने अपना सारा जन्म ईश्वर-चिन्तन में बिताया था––यहाँ आकर मुझे अवतार कह गये। अब मुझे औरों से अपने को अवतार कहलाना अत्यन्त तुच्छ मालूम पड़ता है, ये लोग मुझे अवतार कहकर ढिंढोरा पीटकर

मेरी कौनसी कीर्ति बढ़ायेंगे ।"

पण्डित पद्मलोचन के सिवाय और भी अनेक पण्डितों ने श्रीरामकृष्ण से भेंट की । श्रीरामकृष्ण को उन लोगों में जो जो गुण दिखते थे उनकी चर्चा कभी कभी वे अपने सम्भाषण में किया करते थे ।

आर्यमतप्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती एक बार किसी कार्य से कलकत्ता आये हुए थे । उस समय उनके पाण्डित्य की ख्याति चारों ओर फैली हुई थी । उन्होंने उस समय आर्य समाज की स्थापना नहीं की थी । श्रीरामकृष्ण उनसे भेंट करने के लिए उनके ठहरने के स्थान पर गये थे । उनके विषय में श्रीरामकृष्ण कहते थे कि "दयानन्द से भेंट करने गया । मुझे ऐसा दिखा कि उन्हें थोड़ीबहुत शक्ति प्राप्त हो चुकी है । उनका वक्षःस्थल सदैव आरक्त दिखायी पड़ता था । वे वैखरी अवस्था में थे । रात-दिन चौबीसों घण्टे लगातार, शास्त्रों की ही चर्चा किया करते थे । अपने व्याकरण-ज्ञान के बल पर उन्होंने अनेक शास्त्र-वाक्यों के अर्थ में बहुत उलट-फेर कर दिया है । 'मैं ऐसा करूँगा, मैं अपना मत स्थापित करूँगा' ऐसा कहने में उनका अहंकार दिखायी दिया ।"

जयनारायण पण्डित के सम्बन्ध में वे कहते थे--"इतना बड़ा पण्डित होने पर भी उसमें अहंकार लेश मात्र नहीं है । अपनी मृत्यु का समय उन्हें विदित हो गया था । वे एक बार बोले कि 'मैं काशी जाऊँगा और वहीं मेरा अन्त होगा ।' अन्त में वैसा ही हुआ ।"

आरियादह निवासी कृष्णकिशोर भट्टाचार्य की श्रीरामचन्द्र में अपार भक्ति की चर्चा वे सर्वदा किया करते थे । कृष्णकिशोर

के घर में श्रीरामकृष्ण बहुधा आया-जाया करते थे और कृष्ण-किशोर और उनकी परमभक्तिमती पत्नी दोनों की श्रीरामकृष्ण पर अत्यन्त प्रगाढ़ निष्ठा थी। रामनाम पर कृष्णकिशोर की जैसी अटल निष्ठा थी उसी तरह--पुरातन ऋषियों के वाक्य के कारण--'मरा' 'मरा' शब्द पर भी वैसी ही निष्ठा थी; क्योंकि कई पुराणों में वर्णन है कि नारदजी ने बाली नामक व्याध को इसी मन्त्र के जप का उपदेश दिया था और इस मन्त्र के प्रभाव से बाली व्याध वाल्मीकि ऋषि बन गये! कृष्णकिशोर को संसार में कई आघात सहने पड़े। उनका एक कर्ता-धर्ता लड़का मर गया। श्रीरामकृष्ण कहते थे--"पुत्रशोक का प्रभाव बड़ा प्रबल होता है। इतना अधिक विश्वासी भक्त कृष्णकिशोर! परन्तु पुत्रशोक ने उसे भी कुछ दिनों तक पागल कर दिया था।"

इसके सिवाय श्रीरामकृष्ण महर्षि देवेन्द्रनाथ, पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर आदि से भी भेंट करने गये थे। वे महर्षि के उदार अन्तःकरण तथा भक्ति और ईश्वरचन्द्र के निष्काम कर्मयोग तथा उनकी अपार दया की प्रशंसा हम लोगों से हमेशा किया करते थे।

---

२७. मधुरभाव की मीमांसा

"कामगन्धशून्य हुए बिना, महाभावमयी श्रीमती राधा के भाव को समझना असम्भव है।"

"तुम इस लीला में केवल श्रीकृष्ण के प्रति राधा के अलौकिक प्रेम पर ही ध्यान दो—यही बस है। ईश्वर के प्रति इतना ही प्रेम मन में उत्पन्न हो जाने से उसकी प्राप्ति हो जाती है। देखो भला वृन्दावन की गोपियों को; पति-पुत्र, कुल-शील, मान-अपमान, लज्जा-संकोच, लोक-भय, समाज-भय इन सब को त्यागकर वे श्रीकृष्ण के लिए किस प्रकार पागल हो गयी थीं? तुम भी यदि ईश्वर के लिए इसी तरह पागल बन सको, तो तुम्हें भी उसकी प्राप्ति होगी।"

—श्रीरामकृष्ण

स्वयं साधक बने बिना किसी साधक के जीवन का इतिहास समझना कठिन है। क्योंकि साधना सूक्ष्म भावराज्य की बात है। वहाँ रूप-रसादिक विषयों की स्थूल मोहक मूर्ति दृष्टिगोचर नहीं होती। बाह्य वस्तु और व्यक्ति से होनेवाले सम्बन्ध वहाँ नहीं रहते। राग-द्वेषादि से पूर्ण, प्रवृत्ति-प्रेरणा से अस्थिर होकर मनुष्य का मन जिस प्रकार अनेक प्रकार के भोग-सुख प्राप्त करने के लिए खटपट करता है—तथा जिन भावों को संसार में 'शूरता', 'वीरता' 'महत्त्वाकांक्षा' आदि मधुर नाम दिये जाते हैं उनका सहारा लेकर उस प्रकार की खटपट वहाँ नहीं करनी पड़ती है। वहाँ तो स्वयं साधक का अन्तःकरण और उसके जन्मजन्मान्तर के संस्कारसमूह को छोड़कर अन्य कुछ भी नहीं

रहता। बाह्य वस्तु और उच्च ध्येय की ओर आकृष्ट होना, उस उच्च भाव और ध्येय की ओर मन को एकाग्र करने तथा उस ध्येय को प्राप्त करने के लिए प्रतिकूल संस्कारों के विरुद्ध लगातार घोर संग्राम करना, ये ही बातें भावराज्य में हुआ करती हैं। वहाँ साधक बाह्य विषयों से विमुख होकर आत्मानन्द में रत होने के लिए लगातार प्रयत्न करता रहता है। इस प्रयत्न के जारी रहने से साधक क्रमशः अन्तर्राज्य के अधिकाधिक गहन प्रदेश में प्रविष्ट होकर सूक्ष्म भावों का अधिकाधिक अनुभव प्राप्त करता है और अन्त में अपने अस्तित्व के अत्यन्त गहन प्रदेश में पहुँचकर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, एकमेवाद्वितीय वस्तु का साक्षात्कार करके उसी के साथ वह एक हो जाता है। आगे चलकर उसके अनन्त जन्मोपार्जित संस्कारसमूह समूल नष्ट होकर जब तक संकल्प-विकल्पात्मक धर्म स्थायीरूप से नष्ट नहीं हो जाता तब तक, उसे जिस मार्ग द्वारा अद्वय वस्तु का साक्षात्कार होता रहता है, उसी मार्ग से उसका मन विलोम-भाव द्वारा समाधि अवस्था में से बाह्य संसार में उतरता रहता है। इस रीति से उसके मन का बाह्य जगत् से समाधि में और समाधि से बाह्य जगत् में आना-जाना लगातार जारी रहता है। जगत् के आध्यात्मिक इतिहास में कुछ ऐसे भी अलौकिक साधक देखने में आये हैं जिनके मन की पूर्वोक्त समाधि अवस्था ही स्वाभाविक अवस्था हुआ करती है। वे अपनी स्वाभाविक समाधि अवस्था को बलपूर्वक अलग रखकर साधारण मनुष्यों के कल्याण के हेतु ही बाह्य जगत् में कुछ काल तक निवास करते हैं। श्रीरामकृष्णदेव के साधना-इतिहास को ध्यानपूर्वक देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे भी इसी श्रेणी के थे। हमें उन्होंने स्वयं बताया

है कि 'मैं छोटी-मोटी एक-आध वासना जान-बूझकर रखता हूँ, उसी की सहायता से अपने मन को तुम लोगों के लिए नीचे के स्तर पर रोककर रखता हूँ। अन्यथा उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति अखण्ड में मिल जाने की ओर है।"

समाधि अवस्था में जिस अखण्ड अद्वय वस्तु का साक्षात्कार होता है उसे प्राचीन ऋषिवर्यों में से कोई कोई "सर्व भावों का अभाव" या "शून्य" और कोई कोई "सर्व भावों की सम्मिलन-भूमि" या "पूर्ण" कह गये हैं। नामों की भिन्नता होते हुए भी सभी के कथन का सारांश एक ही है! सभी को यह मान्य है कि सर्व भावों की उत्पत्ति और अन्त वहीं होता है। भगवान बुद्ध ने उसे "सर्व भावों की निर्वाणभूमि, शून्य वस्तु" कहा है। भगवान् शंकराचार्य ने उसी को "सर्व भावों की सम्मिलन-भूमि, पूर्ण वस्तु" कहा है।

"शून्य" या "पूर्ण" नाम से पहचाने जानेवाली अद्वैत-भाव-भूमि को ही उपनिषद् और वेदान्त में भावातीत अवस्था कहा है। उसी अवस्था में साधक का मन निश्चल हो जाने पर वह सगुण ब्रह्म या ईश्वर के सृजन, पालन, संहार आदि लीलाओं की सीमा के पार हो जाता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मनुष्य का मन आध्यात्मिक राज्य में प्रविष्ट होकर शान्त, दास्य आदि जिन पंच भावों के अवलम्बन द्वारा, ईश्वर के साथ अपना सम्बन्ध जोड़ता है, उन पंच भावों से अद्वैत भाव एक भिन्न वस्तु है। जब मनुष्य का मन इहलोक और परलोक में प्राप्त होने वाले सभी सुख-भोगों के सम्बन्ध में उदासीन होकर अत्यन्त पवित्र हो जाता है तभी उसे इस अद्वय भाव का अनुभव प्राप्त होता है और वह उसी की सहायता से निर्गुण ब्रह्मवस्तु का साक्षात्कर करके कृतार्थ

हो जाता है।

अद्वैत भाव और उससे प्राप्त निर्गुण ब्रह्म दोनों को छोड़ देने पर आध्यात्मिक जगत् में शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर ये भिन्न भिन्न पाँच भाव ही दिखायी देते हैं। इनमें से प्रत्येक की साध्य वस्तु ईश्वर या सगुण ब्रह्म है। अर्थात् इन पाँचों में से किसी एक भाव को लेकर साधक सर्वशक्तिमान, सर्वनियन्ता, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाववान् ईश्वर का साक्षात्कार करने का प्रयत्न करता है। और सर्वान्तर्यामी, सर्वभावाधार ईश्वर भी साधक के मन की अखण्ड तथा अनन्य निष्ठा को देखकर, उसके भाव के अनुसार ही रूप का दर्शन देकर उसे कृतार्थ कर देते हैं। इस तरह भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न भावमय चिद्घन रूप धारण करने के--इतना ही नहीं वरन् कई बार साधकों के कल्याण के लिए स्थूल मनुष्य रूप धारण करने के प्रमाण शास्त्रों में पाये जाते हैं।

इस संसार में जन्म लेकर मनुष्य जिन भिन्न भिन्न भावों से अन्य सभी के साथ सम्बन्ध जोड़ता है, उस स्थूल भाव-समूह के ही सूक्ष्म और शुद्ध रूप शान्त, दास्य आदि पंच भाव हैं। इस संसार में पिता, माता, बन्धु, भगिनी, पति, पत्नी, सखा, प्रभु, भृत्य, पुत्र, कन्या, राजा, प्रजा, गुरु, शिष्य आदि से हमें अपने भिन्न भिन्न सम्बन्ध होने का अनुभव होता है, और हम शत्रु के सिवाय दूसरों के साथ सदा शान्त भाव से व्यवहार करना अपना कर्तव्य समझते हैं। भक्ति के आचार्यों ने इन भिन्न भिन्न सम्बन्धों के पाँच विभाग किये हैं। इन पाँचों में से हमें अपने और परमेश्वर के बीच किसी एक सम्बन्ध की कल्पना कर उसी भाव के आधार पर परमेश्वर की भक्ति करनी चाहिए--यही उनका उपदेश है।

संसार में इन्ही भावों का स्थूल रूप में प्रत्यक्ष अनुभव होता रहता है, और इन भावों में से किसी एक का ईश्वर पर आरोप करके उसी भाव द्वारा उस ईश्वर की भक्ति करना मनुष्य के लिए सरल होगा। इतना ही नहीं, वरन् संसार में उपरोक्त सब व्यक्तियों से विभिन्न रूप से सम्बन्धित होने के कारण जो राग, द्वेष आदि वृत्तियाँ उस व्यक्ति में होती हैं और जो उससे अनेक प्रकार के कुकर्म कराती हैं, उन वृत्तियों को वहाँ से हटाकर उन्हें दूसरी दिशा में मोड़ने से मनुष्य ईश्वरदर्शन के लक्ष्य की ओर अधिक शीघ्रतापूर्वक अग्रसर हो सकता है। उदाहरणार्थ, मनुष्य भोग की कामना त्यागकर ईश्वरदर्शन की कामना अपने हृदय में रखेगा; अन्य लोगों पर क्रोध न करके ईश्वरदर्शन के मार्ग में आड़े आनेवाले विघ्नों पर ही क्रोध करेगा; क्षणिक सुखलोभ की परवाह न कर ईश्वरदर्शन का ही लोभी बनेगा; इत्यादि इत्यादि।

इस प्रकार मनुष्य को ईश्वर पर भाव-पंचक के आरोप करने की शिक्षा एक ही व्यक्ति से एकदम प्राप्त नहीं हुई है। कई महापुरुषों ने इन पंचभावों में से एक या दो भावों का ही आश्रय लेकर ईश्वरप्राप्ति के लिए साधनाएँ की हैं। उन्होंने उन्हीं भावों में तन्मय होकर अपने अपने ध्येय को प्राप्त किया और अन्य साधारण लोगों को भी वैसा ही करने के लिए उपदेश दिया है। उन महापुरुषों की अलौकिक जीवनचर्या का परिशीलन करने से यह दिखायी देता है कि प्रत्येक भाव की साधना की जड़ या नींव प्रेम है और ईश्वर का प्रत्येक साकार रूप उस प्रेम का विषय होता है। अब यह प्रतीत होता है कि मनुष्य को अद्वैत का अनुभव होते तक ईश्वर के किसी न किसी साकार रूप की ही कल्पना करना सम्भव होता है।

प्रेम के गुणधर्म की आलोचना करने से यही दीखता है कि प्रेम, प्रेम करनेवाले और जिस पर वह प्रेम करता है वह व्यक्ति अर्थात् प्रेमी और प्रेमपात्र दोनों के बीच के ऐश्वर्यज्ञानमूलक भेदभाव को धीरे धीरे नष्ट कर डालता है। भावसाधना में मग्न रहनेवाले साधक के मन से भी प्रेम अपार ईश्वरीय ऐश्वर्य और शक्ति के ज्ञान को क्रमशः नष्ट कर डालता है और वही प्रेम साधक के भावानुरूप ईश्वर-स्वरूप की कल्पना उसके मन में उत्पन्न करता है, तथा उसे दृढ़ करता है। इसीलिए ईश्वर सर्वथा अपना ही है, ऐसी दृढ़ भावना से साधक ईश्वर के पास हठ करता है, उस पर क्रोध करता है तथा उससे रूठता है। ऐसा करते हुए उसे यह बिलकुल प्रतीत नहीं होता कि मैं कोई विलक्षण या असाधारण काम कर रहा हूँ। इन पंचभावों में से किसी एक भाव का आश्रय लेने से साधक को ईश्वर की प्राप्ति हो जाती है। शान्त, दास्य आदि पंचभावों में से जिस भाव के अवलम्बन से साधक को ईश्वर के ऐश्वर्यज्ञान का सब से अधिक विस्मरण होता है तथा उसे ईश्वर-प्रेम और माधुर्य का ही अनुभव प्राप्त होता है, वही भाव सब से श्रेष्ठ कहा जा सकता है। भक्ति के आचार्यों ने शान्त, दास्य आदि पाँचों भावों की इस दृष्टि से परीक्षा करने पर मधुरभाव को ही सब से श्रेष्ठ माना है।

साधक पंचभावों में से हर एक भाव की अत्युच्च अवस्था में पहुँचकर अपने आपको पूर्ण रीति से भूल जाता है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र के ही सुख में अपने को भी सुखी मानकर उसके साथ एक हो जाता है। उसके विरह में, उसके चिन्तन में वह इतना तल्लीन हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व की भी सुधि नहीं रह जाती। श्रीमद्भागवत आदि भक्तिग्रन्थों से यह प्रतीत होता

है कि श्रीकृष्ण के विरह में व्रज गोपियों की ऐसी ही अवस्था हो गयी थी। इतना ही नहीं, वे तो श्रीकृष्ण की एकरूपता को प्राप्त करके कभी कभी अपने को ही श्रीकृष्ण समझती थीं। ईसा मसीह ने जीवों के कल्याणार्थ क्रास पर जो यातनाएँ भोगी थीं उनका स्मरण करते करते कुछ ईसाई सन्तों के शरीर से प्रत्यक्ष रक्त बाहर निकल आने की बात ईसाई धर्मग्रन्थों में प्रसिद्ध है।* इससे यह स्पष्ट है कि शान्त आदि पंचभावों में से प्रत्येक भाव की अत्यन्त उच्च अवस्था में साधक अपने प्रेमपात्र के चिन्तन में तल्लीन हो जाता है और प्रेम की अधिकता के कारण वह उसी के साथ पूर्ण रीति से एक हो जाता है। इस तरह उसे अद्वैत भाव का अनुभव प्राप्त होता है। भगवान श्रीरामकृष्ण के अलौकिक साधक-जीवन ने इस विषय पर पूर्ण प्रकाश डाला है। वे भावसाधनाओं में मग्न होकर प्रत्येक भाव की अत्यन्त उच्च अवस्था में अपने प्रेमास्पद के साथ बिलकुल तन्मय हो जाते थे और अपने अस्तित्व को पूर्णतः भूलकर अद्वैतभाव का अनुभव करते थे।

यहाँ पर शायद कोई यह शंका करे कि शान्त, दास्य आदि भावों का अवलम्बन करने से मनुष्य को सर्वभावातीत अद्वय वस्तु का अनुभव कैसे होगा ?

इसका उत्तर यही है कि कोई एक भाव जब साधक के मन में परिपुष्ट होकर विस्तृत हो जाता है, तब वह उसमें के अपने सभी विरोधी भावों को क्रमशः नष्ट कर देता है। इस तरह उस भाव की पूर्णतः परिपुष्टि हो जाने पर साधक का तन्मय अन्तः-करण ध्यानसामयिक 'तू' (सेव्य), 'मैं' (सेवक) और इन दोनों

*सेन्ट फ्रांसिस ऑफ अॅसीसी और सेन्ट कॅथेराइन ऑफ सिएन्ना का चरित्र।

के बीच का दास्यसम्बन्ध, इन सब को भूल जाता है, और प्रेम के कारण केवल 'तू' शब्द से निर्दिष्ट सेव्य वस्तु में ही एकरूप होकर अचल भाव से रहने लगता है।

'तू' 'तू' करता तू भया, रही न मुझमे 'हूँ'।
बारी तेरे नाम पर, जित देखूँ तित तू ।।--कबीर।

शास्त्रों का कथन है कि मनुष्य का मन मैं, तू, और इन दोनों के बीच का सम्बन्ध, इन तीनों का एक साथ एक ही समय अनुभव कभी नहीं कर सकता। उसे कभी "तू" निर्दिष्ट वस्तु का, तो कभी "मैं" निर्दिष्ट वस्तु का अनुभव होता है, और इन दोनों वस्तुओं के बीच में जल्दी जल्दी परिभ्रमण कर सकने के लिए उसके मन में इन दोनों में किसी विशेष सम्बन्ध का उदय हुआ करता है। उस समय ऐसा भास होता है कि मानो वह मन 'मैं', 'तू' और उन दोनों के सम्बन्ध का अनुभव एक ही समय में कर रहा है। परिपुष्ट भाव के प्रभाव द्वारा मन की चंचलता नष्ट हो जाती है और क्रमशः पूर्वोक्त बात समझ में आने लगती है। ज्यों ज्यों ध्यान के अभ्यास से मन वृत्तिहीन होता जाता है त्यों त्यों उसे विदित होने लगता है कि एक अद्वय पदार्थ को दो भिन्न पहलुओं से या उसे दो भिन्न दृष्टियों से देखने के कारण ही 'मैं' और 'तू' ऐसे दो पदार्थों की कल्पना उत्पन्न हुई है।

विचार करने पर आश्चर्य होता है कि शान्त, दास्य आदि भावों में से एक-एक भाव को पूर्ण रूप से विकसित करके कई साधकों को ऊपर लिखे अनुसार अद्वय पदार्थ का अनुभव प्राप्त करने के लिए कितने ही काल तक परिश्रम करना पड़ा है। शास्त्र-रूपी आध्यात्मिक इतिहास से पता चलता है कि प्रत्येक

युग में उपासना के लिए मनुष्य को किसी न किसी एक भाव का आश्रय लेना ही पड़ा है, उस भाव का आश्रय लेकर ही तत्कालीन साधकों ने ईश्वर का––किसी-किसी ने अद्वय वस्तु का साक्षात्कार कर लिया है। ऐसा पता लगता है कि वैदिक और बौद्ध काल में मुख्यत: शान्तभाव, औपनिषदिक युग में पूर्ण विकसित शान्त भाव द्वारा प्राप्त अद्वैतभाव तथा दास्य और पितृभाव, रामायण और महाभारत युग में शान्त और निष्काम-कर्म-संयुक्त दास्यभाव, तान्त्रिक युग में ईश्वर का मातृभाव और मधुरभाव का कुछ अंश मात्र, और वैष्णव युग में सख्य, वात्सल्य और मधुरभाव का पूर्ण विकास––इसी रीति से स्थूल मान से पंच भावों का समय समय पर विकास हुआ है।

भारतवर्ष के आध्यात्मिक इतिहास में अद्वैतभाव के साथ शान्त आदि पंचभावों का पूर्ण विकसित होना दीखता है, परन्तु भारतवर्ष को छोड़कर अन्य देशों के धर्म-सम्प्रदायों में केवल शान्त, दास्य और ईश्वर का पितृभाव––इतने ही भावों का प्रकाश दिखायी देता है। यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म-सम्प्रदायों में राजर्षि सॉलोमन के कुछ सख्य और मधुरभाव सूचक गानों का प्रचार था। किन्तु उन धर्मों में इन भावों का भी सम्पूर्ण अर्थ ग्रहण होता नहीं दिखायी देता। इस्लाम के सूफी सम्प्रदाय में सख्य और मधुरभाव का विकास हुआ तो है, परन्तु मुसलमान लोग ऐसे भावयुक्त ईश्वरोपासना को कुरान के मत के विरुद्ध समझते हैं। कैथॉलिक सम्प्रदाय में भी ईसा मसीह की माता 'मेरी' की पूजा द्वारा जगन्माता की पूजा की कल्पना प्रचलित तो अवश्य है, पर उनकी उस पूजा का सम्बन्ध प्रत्यक्ष ईश्वरीय मातृभाव से न होने के कारण साधक को वह भारत में प्रचलित

जगन्माता की पूजा के समान "अखण्ड सच्चिदानन्द" का साक्षात्कार कराने और स्त्री-मात्र में ईश्वरीय विकास को प्रत्यक्ष रूप से दिखाने का फल नहीं दे सकती।

ऊपर कह चुके हैं कि किसी भी भाव-सम्बन्ध के अवलम्बन से साधक का मन ईश्वर की ओर आकृष्ट हो जाने पर वह धीरे धीरे उसी भाव में तल्लीन हो जाता है, और अन्त में बाह्य जगत् से विमुख होकर निज-स्वरूप या स्व-स्वरूप में निमग्न हो जाता है। ऐसे मग्न होने के समय, साधक के पूर्व-संस्कार उसके मार्ग में विघ्न उपस्थित करके उसको स्व-स्वरूप में मग्न नहीं होने देते, और बहिर्मुख करने का प्रयत्न करते हैं। इसी कारण एक एक भाव में तन्मय होने के लिए पूर्व-संस्कारयुक्त साधारण साधक के मन को बहुधा एक जन्म पर्याप्त नहीं होता। ऐसी अवस्था में साधक पहले निरुत्साह हो जाता है, और साध्य वस्तु की प्राप्ति के बारे में हताश हो जाता है। अन्त में साध्य वस्तु की ओर से उसका विश्वास भी हट जाता है, तब वह बाह्य जगत् के रूपरसादिक विषयों को ही यथार्थ मानकर उन्हीं के पीछे पुनः दौड़ पड़ता है; अतएव हम कह सकते हैं कि बाह्य विषयों से विमुखता, प्रेमास्पद के ध्यान में तल्लीनता और भाव-जन्य उल्लास--ये ही साधक की तीव्रता और अधिकार को जाँचने की कसौटी हैं।

किसी भाव-विशेष में तन्मय होने का प्रयत्न करते समय पूर्व-संस्कारसमूह के साथ होनेवाले संघर्ष का जिन्हें अनुभव नहीं है ऐसे लोगों को यह कल्पना ही नहीं हो सकती कि साधक को अपने अन्तःसंस्कारों के साथ कितना घोर युद्ध करना पड़ता है। जिसने इस प्रकार का प्रयत्न किया है, उसी की समझ में यह

बात आ सकती है कि किसी भाव में लीन होने के लिए कितना प्रयत्न करना पड़ता है। श्रीरामकृष्ण ने एक के बाद दूसरे ऐसे सभी भावों में अल्प समय में ही तन्मय होने में जो सफलता प्राप्त की है, उसे देखकर वह तो चकित हो जायगा और उसे निःसन्देह निश्चय हो जायगा कि यह कार्य मानवी शक्ति की सीमा के बाहर है।

भाव-राज्य के सूक्ष्म तत्त्वों को समझना मनुष्यबुद्धि के लिए बड़ा कठिन है, इसी कारण अवतारी महापुरुषों की साधनाओं का इतिहास शायद नहीं लिखा जा सका। श्रीकृष्ण, ईसा मसीह, मुहम्मद, श्रीशंकराचार्य आदि के साधनाकाल का जीवन-इतिहास कहीं लिखा हुआ नहीं है। भगवान् बुद्धदेव का केवल थोडा सा ही पाया जाता है और वह भी रूप-रेखा मात्र। केवल श्रीचैतन्य-देव के साधनाकालीन जीवन का बहुत कुछ इतिहास लिखा हुआ मिलता है। श्रीचैतन्यदेव तथा उनके प्रमुख लीला सहचरों के सख्य, वात्सल्य और मधुरभावों की साधनाओं का आदि से अन्त पर्यन्त बहुत सा इतिहास तो मिलता है; परन्तु ऐसा होते हुए भी "इस भावत्रयी में से प्रत्येक की अत्यन्त विकसितावस्था में पहुँच-कर साधक का मन इतना तन्मय हो जाता है कि वह अपने प्रेमास्पद के साथ पूर्ण रूप से एक होकर अद्वय वस्तु में विलीन हो जाता है--"यह चरम तत्त्व कहीं भी लिखा हुआ नहीं मिलता। भगवान् श्रीरामकृष्ण के अलौकिक चरित्र से तथा अदृष्टपूर्व और अश्रुतपूर्व साधना का इतिहास पढ़ने से वर्तमान युग में यह बात सारे संसार को स्पष्ट रूप से विदित हो गयी कि संसार के सारे धर्म और सम्प्रदाय यथार्थ साधक को उसी एक स्थान में उसी अद्वय वस्तु में पहुँचाते हैं।

ऊपर कह आये हैं कि श्रीचैतन्य आदि वैष्णवाचार्यों का और उनके मधुरभाव की साधनाओं का साद्यन्त इतिहास हमें देखने को मिलता है। यदि मधुरभाव की साधना का मार्ग हमें उनसे विदित नहीं हुआ होता, तो लोगों को ईश्वरप्राप्ति के एक प्रधान मार्ग का यथार्थ ज्ञान न होता। भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावन-लीला कोई निरर्थक वस्तु नहीं है, संसार को प्रथम यह बात उन्होंने ही दिखायी।

पाश्चात्यों का अनुकरण करके बाह्य घटनाओं को लिपिबद्ध करनेवाले आधुनिक इतिहासकार कहेंगे--"पर आपके कथनानुसार वृन्दावन-लीला सचमुच हुई, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अतः यह सब तुम्हारा रोना, गाना, हँसना, भाव और महाभाव--ये सब बालू की नींव पर खड़ी की हुई इमारत के समान हैं!" इस पर वैष्णव आचार्य कहते हैं कि "पौराणिक दृष्टि से, हम जैसा कहते हैं उस प्रकार की वृन्दावन-लीला के निषेध में आप लोग क्या कोई निश्चयात्मक प्रमाण सामने ला सकते हैं? आपका इतिहास जब तक इस प्रकार का कोई निषेधात्मक निश्चित प्रमाण सामने नहीं रख सकता तब तक हम भी यही कहेंगे कि आपके संशय की इमारत भी बालू की नींव पर खड़ी की गयी है। दूसरी बात यह है--मान लीजिये कि आप किसी समय इस प्रकार का निश्चयात्मक प्रमाण उपस्थित कर भी सकें, तो भी उससे हमारे विश्वास को ऐसी कौन सी क्षति हो सकती है? नित्य-वृन्दावन की नित्य-लीला को उसका यत्किंचित् भी स्पर्श नहीं हो सकता। भावराज्य में यह नित्य-वृन्दावन-लीला सदैव समान रूप से सत्य रहेगी। यदि चिन्मय धाम में चिन्मय राधेश्याम की ऐसी अपूर्व प्रेमलीला देखने की तुम्हारी इच्छा है,

तो प्रथम काया-वचन-मन से कामगन्धहीन वनो, फिर श्रीराधाजी की सखियों में से किसी एक के समान निःस्वार्थ सेवा करना सीखो। ऐसा करने पर तुम्हें दिखेगा कि तुम्हारे हृदय में ही श्रीहरि की लीला-भूमि वृन्दावन नित्य प्रतिष्ठित है और वहाँ तुम्हारे साथ ही वृन्दावन-लीला का नित्य अभिनय हो रहा है।"

जिसने भावराज्य की सत्यता का अनुभव नहीं किया है, जो बाह्य घटनारूपी आधार को भूलकर शुद्ध भावेतिहास की कल्पना नहीं कर सकता, वह श्रीवृन्दावन-लीला की सत्यता और उसके माधुर्य का उपभोग क्या कर सकता है? श्रीरामकृष्णदेव तन्मय होकर इस लीला का वर्णन करते समय जब देखते थे कि इस लीला की बात अपने पास आये हुए अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त तरुण सज्जनों को बहुत रुचिकर नहीं मालूम पड़ती, और यह बात उन्हें जँचती भी नहीं है तब वे कहते थे--"तुम इस लीला में केवल श्रीकृष्ण के प्रति राधा के अलौकिक प्रेम पर ही ध्यान दो--यही बस है। ईश्वर के प्रति इतना ही प्रेम उत्पन्न हो जाने से उसकी प्राप्ति हो जाती है। देखो भला, वृन्दावन की गोपियाँ पति-पुत्र, कुल-शील, मान-अपमान, लज्जा-संकोच, लोक-भय, समाज-भय इन सब को त्याग कर वे श्रीकृष्ण के लिए किस तरह पागल हो गयी थीं? तुम भी यदि ईश्वर के लिए इसी तरह पागल बन सको, तो तुम्हें भी उसकी प्राप्ति होगी।" वे यह भी कहते थे-- "कामगन्धशून्य हुए बिना, महाभावमयी श्रीमती राधा के भाव को समझना सम्भव नहीं है। सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्ण के केवल दर्शन से गोपियों के मन में कोटि रमण-सुख से भी अधिक आनन्द होता था, उनकी देहबुद्धि बिलकुल नष्ट हो जाती थी। क्या ऐसी स्थिति में उनके मन में तुच्छ कामभाव का उदय कभी हुआ होगा?

२४

श्रीकृष्ण के शरीर से बाहर निकलनेवाली दिव्यज्योति का स्पर्श होते ही उन्हें अपने प्रत्येक रोमकूप में रमण-सुख से कोटि गुना अधिक आनन्द का अनुभव होता था।"

एक बार स्वामी विवेकानन्दजी श्रीरामकृष्ण के पास श्रीराधा-कृष्ण की वृन्दावन-लीला की ऐतिहासिक सत्यता का प्रश्न उपस्थित करके उसका मिथ्या होना सिद्ध करने का प्रयत्न करने लगे। श्रीरामकृष्ण उनका सब कथन शान्ति से सुनकर बोले--"ठीक है, मान लिया कि 'श्रीमती राधिका' नाम की गोपी कभी भी नहीं थी और श्रीराधा का चरित्र किसी प्रेमी साधक की कल्पना का खेल है, परन्तु मुझे यह तो बताओ कि इस चरित्र की कल्पना करते समय श्रीराधा के भाव में उस साधक का अनन्य हो जाना तो तुझे स्वीकार है या नहीं? बस हो गया! यह तेरा साधक ही इस चरित्र को लिखते समय अपने आप को भूलकर श्रीराधा बन गया था और इस प्रकार स्थूल दृष्टि से भी वृन्दावन-लीला का अभिनय सचमुच हुआ--बोल, यह भी तुझे जँचता है या नहीं?"

वास्तविक रीति से देखने पर, भगवान् श्रीकृष्ण की वृन्दावन-प्रेम-लीला के सम्बन्ध में सैकड़ों शंकाएँ भले ही खड़ी की जायँ, तथापि श्रीचैतन्यप्रमुख महान् वैष्णव भगवद्भक्तों द्वारा जो "मधुरभाव-सम्बन्ध" पहले आविष्कृत हुआ, और जो उनके शुद्ध सच्चरित्र जीवन में प्रत्यक्ष प्रकाशमान था, वह मधुरभाव-सम्बन्ध चिरकाल तक सत्य रहेगा तथा इस विषय के अधिकारी साधक चिरकाल तक स्वयं अपने को स्त्री और भगवान् को पतिस्वरूप मानकर ईश्वर का पवित्र दर्शन प्राप्त करके धन्य और कृतार्थ होंगे और वे इस भाव की अत्युच्च अवस्था में पहुँचकर शुद्ध,

अद्वय, ब्रह्मवस्तु में प्रतिष्ठित होंगे--इसमें तिलमात्र भी संशय नहीं है।

ईश्वर में पतिभावना रखकर साधना-मार्ग में अग्रसर होना स्त्री जाति के लिए स्वाभाविक, सहज और साध्य है, पर पुरुष शरीरधारी साधकों की दृष्टि से यह बात अस्वाभाविक मालूम पड़ने की सम्भावना है। यदि ऐसा है तो श्रीचैतन्यदेव ने ऐसा असंगत मार्ग लोगों में क्यों प्रचलित किया, यह प्रश्न सहज ही उत्पन्न होता है। उसका उत्तर यह है कि युगावतार के सभी कार्य लोककल्याणार्थ ही होते हैं। श्रीचैतन्यदेव का यह कार्य भी वैसा ही है। साधकों को उस समय आध्यात्मिक राज्य में जिस प्रकार के आदर्श प्राप्त करने की उत्कण्ठा थी, उसकी ओर लक्ष्य रखकर श्रीचैतन्यदेव ने उन्हें मधुरभावरूपी नया मार्ग दिखा दिया; अन्यथा ईश्वरावतार नित्य-मुक्त श्रीचैतन्यदेव को, स्वयं अपने कल्याण के लिए, इस भावसाधना में मग्न होकर उसका पूर्ण आदर्श लोगों के सामने रखने की कोई आवश्यकता नहीं थी। श्रीरामकृष्णदेव कहते थे--"जिस तरह हाथी के बाहरी दाँत शत्रुओं को मारने के लिए और भीतरी दाँत अपनी खाद्य वस्तु को अच्छी तरह चबाने के लिए होते हैं, उसी तरह श्रीगौरांग* में भी भीतर और बाहर दो प्रकार के भाव रहते थे। बाहर के मधुरभाव की सहायता से वे लोककल्याण करते थे, और आन्तरिक अद्वैत भाव के द्वारा वे प्रेम की अत्यन्त उच्च अवस्था में रहकर और ब्रह्मभाव में निमग्न होकर स्वयं भूमानन्द का अनुभव करते थे।"

तत्त्वेतिहासज्ञ कहते हैं कि बौद्ध काल के अन्त में भारतवर्ष में

* श्रीचैतन्यदेव

वज्राचार्य का अभ्युदय हुआ था। उन्होंने इस मत का प्रचार किया कि "निर्वाणपद प्राप्त करने का प्रयत्न करते समय मन प्राय: वासनारहित होकर महाशून्य में लीन होना ही चाहता है कि इतने में ही 'निरात्मा' नामक देवी उसके सामने खड़ी होकर उसे वैसा लीन न होने देकर अपने शरीर में फँसा रखती है, और वह साधक के स्थूल शरीर को न सही तथापि सूक्ष्म शरीर को सभी इन्द्रियजन्य भोग-सुखों का अनुभव करा देती है।" "स्थूल विषय-भोगों का त्याग करने पर, भाव-जगत् या भाव-राज्य में सूक्ष्म निरवच्छिन्न भोग-सुख की प्राप्ति है--" उनका यह प्रचलित किया हुआ मत कुछ काल के बाद विकृत हो गया और "भोग-सुख की प्राप्ति ही धर्मानुष्ठान का मूल उद्देश्य हैं"-- ऐसे घातक विचार का प्रचार होने लगा, और देश में इसी कारण व्यभिचार फैल गया। भगवान् श्रीचैतन्यदेव के प्रकट होने के समय देश के अशिक्षित लोगों में यही विकृत बौद्ध मत फैला हुआ था, परन्तु फिर भी अनेक सम्प्रदाय उत्पन्न हो गये थे। उच्च वर्णों में बहुत से लोग तन्त्रोक्त वाममार्ग के अनुयायी बनकर जगन्माता की सकाम पूजा और उपासना के द्वारा सिद्धियाँ और भोग-सुख प्राप्त करने की धुन में लगे थे। उस समय जो यथार्थ साधक थे उन्हें भी इस 'मत की धूम' में दिग्भ्रम हो गया, और उन्हें मार्ग दिखानेवाला कोई न रहा। ऐसी धर्मग्लानि के समय श्रीचैतन्यदेव का अवतार हुआ। उन्होंने प्रथम स्वयं अद्भुत त्याग-वैराग्य का अनुष्ठान किया और वह आदर्श सभी साधकों के सामने रखा। तत्पश्चात् उन्होंने लोगों को दिखा दिया कि "स्वयं शुद्ध और पवित्र होकर, और अपने को स्त्री मान ईश्वर की पति-भाव से उपासना करने से मनुष्य को सूक्ष्म भावराज्य में निरव-

च्छिन्न दिव्य आनन्द का सचमुच लाभ होता है।" उन्होंने फिर स्थूल-दृष्टि-सम्पन्न साधारण लोगों के लिए, जो इस गूढ़ बात को समझ नहीं सकते थे, ईश्वर की नाम-महिमा का प्रचार किया। इस तरह उनकी कृपा से अनेक पथभ्रष्ट, विकृत बौद्ध सम्प्रदाय के लोग, पुनः उचित आध्यात्मिक मार्ग में आरूढ़ हो गये। विकृत वामाचार का अनुष्ठान करनेवाले लोग पहले-पहल तो उनके कथन का खुले तौर से विरोध करते थे, पर बाद में उनके अदृष्टपूर्व अद्भुत जीवन से आकर्षित हो त्यागशील बनकर, निष्काम भाव से पूजा करते हुए, श्रीजगन्माता के दर्शन के लिए प्रयत्न करने लगे। इसीलिए भगवान् श्रीचैतन्यदेव का अलौकिक चरित्र लिखते समय किसी किसी ग्रन्थकार ने यह भी लिखा है कि श्रीचैतन्यदेव के अवतार होने के समय शून्यवादी बौद्ध सम्प्रदायवालों ने भी आनन्द प्रकट किया था।

सच्चिदानन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण ही एकमात्र पुरुष, और संसार के सभी स्थूल, सूक्ष्म पदार्थ तथा जीव उनकी महाभावमयी प्रकृति के अंश से उत्पन्न होने के कारण उनकी स्त्रियाँ हैं––इसलिए शुद्ध और पवित्र मन से उनको पति जानकर उनकी उपासना करने से जीव को मुक्ति और निरवच्छिन्न आनन्द की प्राप्ति होती है––यही श्रीचैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रचारित मधुरभाव का सारतत्त्व है। महाभाव में सभी भावों का समावेश है। सर्वश्रेष्ठ गोपी श्रीराधा ही महाभावस्वरूपिणी तथा अन्य गोपियों में से कोई एक भावरूपिणी और कोई दो या अधिक भावरूपिणी हैं। अतः व्रजगोपियों का अनुसरण करते हुए साधना में प्रवृत्त होने से साधक इन सभी अन्तर्भावों को प्राप्त कर लेता है। और अन्त में वह महाभावजन्य महदानन्द में लीन होकर धन्य हो जाता है।

इस प्रकार "महाभावस्वरूपिणी श्रीराधाजी के भाव के ध्यान में तन्मय होकर, अपने सुख की इच्छा का पूर्ण परित्याग करके काया-बचन-मन से सब प्रकार श्रीकृष्ण के सुख में ही सुखी होना" इस मार्ग के साधकों का अन्तिम ध्येय है।

समाज में विवाहित स्त्री-पुरुषों का परस्पर प्रेम, जाति, कुल, शील, लोक-भय आदि बाह्य उपाधियों से मर्यादित हो जाता है। विवाहित स्त्री-पुरुष इन सभी नियमों की सीमा के भीतर ही रहकर अपने कर्तव्य-अकर्तव्य की ओर ध्यान रखकर परस्पर एक दूसरे के सुख के लिए यथासाध्य परिश्रम करते रहते हैं। विवाहित स्त्री समाज के कठोर नियमबन्धनों का यथायोग्य पालन करती हुई अनेक प्रसंगों में अपने पतिप्रेम को कम कर देती है और विशेष प्रसंगों में पूरा भूल भी जाती है। स्वाधीन स्त्री के प्रेम का आचरण इससे कुछ भिन्न ही हुआ करता है। प्रेम की तीव्रता के कारण वह कई बार ऐसे सामाजिक बन्धनों को पैरों तले रौंद डालती है। इतना ही नहीं, वरन् वह अपने प्रेमास्पद के लिए अपने सामाजिक अधिकार और अपने सर्वस्व को भी छोड़ देने में आगा-पीछा नहीं करती! इसी प्रकार का सर्वग्रासी प्रेमसम्बन्ध ईश्वर के साथ रखने का उपदेश वैष्णव आचार्यों ने दिया है। इसी कारण उन्होंने वृन्दावनाधीश्वरी श्रीराधा को, आयान घोष की विवाहित पत्नी होने पर भी, श्रीकृष्ण के लिए अपना सर्वस्व त्यागने के कारण अत्यन्त श्रेष्ठ माना है।

वैष्णव आचार्यों ने मधुरभाव का वर्णन करते समय उस भाव को शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य इन चारों भावों की सार-समष्टि कहा है और उसे उन चारों भावों से अधिक श्रेष्ठ बताया है। प्रेमिका स्त्री अपने प्रेमास्पद की मोल ली हुई दासी के समान

सेवा करती है; सखी के समान सभी अवस्थाओं में उसकी रक्षा करती है; वह उनके सुख में सुखी और दुःख में दुःखी होती है; माता के समान सदा उसके हितचिन्तन में मग्न रहती है, इस प्रकार अपने आपको बिलकुल भूलकर अपने प्रेमास्पद के चिन्तन में ही सदैव तन्मय होकर उसके मन को अत्यन्त आनन्द और शान्ति देने के लिए सर्वदा प्रयत्न करती रहती है। इस प्रकार की स्त्री का ऐसा प्रेम सब से श्रेष्ठ होता है। ऐसी स्त्री को भक्ति-शास्त्र में 'समर्था प्रेमिका' कहा है। स्वार्थ के विचारों से अन्य जो दूषित प्रेम होते हैं उन सब के 'समंजस' और 'साधारण' दो विभाग किये गये हैं। जो स्त्री अपने प्रेमास्पद के सुख के साथ साथ अपने सुख की ओर भी दृष्टि रखती है, उसे 'समंजसा प्रेमिका' और जो केवल अपने को ही सुखी बनाने के उद्देश से अपने प्रेमास्पद को प्रिय समझती है उसे 'साधारणी प्रेमिका' कहते हैं।

महाप्रभु ने सच्चे साधकों को शुद्ध, पवित्र और निःशेष वैराग्य-सम्पन्न होकर श्रीकृष्ण की पति-भाव से उपासना करना सिखाया। उन्होंने साधारण लोगों के लिए नाममाहात्म्य का प्रचार करके उस समय देश में धर्म के नाम पर होने वाले व्यभिचार को बन्द करने का और लोक-कल्याण करने का प्रयत्न किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि अनेक पथभ्रष्ट साधक उनके उपदेश से सत्यमार्ग में आ गये। समाज का बन्धन शिथिल हो गया था, वह दृढ़ हुआ; जाति से बहिष्कृत हुए लोग "भगवद्भक्त" रूप एक नयी जाति में समाविष्ट किये गये। सभी सम्प्रदायों के सामने भगवान् चैतन्य ने वैराग्य के पवित्र और उच्च आदर्श को रखकर उनको नवजीवन प्रदान किया। इतना ही नहीं, वरन् उन्होंने स्वयं अपने आचरण द्वारा सिद्ध करके बता दिया कि अन्य साधारण

प्रेमी स्त्री-पुरुषों में उनके उत्कृष्ट प्रेम से जैसे मानसिक तथा शारीरिक विकार उत्पन्न होते हैं वैसे ही मधुरभाव की साधना करने वाले शुद्ध और पवित्र साधकों में भी पैदा होते हैं, परन्तु दोनों में अन्तर यह है कि ये ईश्वरध्यान की तीव्रता से उत्पन्न होते हैं। चैतन्य महाप्रभु ने अपने उदाहरण द्वारा तत्कालीन अलंकारशास्त्र पर भी आध्यात्मिकता की छाप डाली; शृंगारपूर्ण काव्यों को साधकों के गाने योग्य व्यवहार्य बनाया और काम-क्रोधादिकों की प्रवृत्ति को ईश्वरप्राप्ति की ओर झुकाने की शिक्षा देकर साधकों का मार्ग अत्यन्त सुगम कर दिया।

पाश्चात्य शिक्षा-प्रधान आधुनिक नवीन सम्प्रदायों की दृष्टि में पुरुषों के लिए मधुरभाव भले ही अस्वाभाविक दीखता हो, पर उसकी यथार्थ उपयोगिता वेदान्त तत्त्वज्ञानी के ध्यान में तत्क्षण आ जायेगी। उन्हें विदित है कि मन की भावनाएँ ही बहुत दिनों के अभ्यास से दृढ़ संस्कार के रूप में परिणत हो जाती हैं और मनुष्य को उसके जन्मजन्मान्तर के संस्कारों के कारण ही एक अद्वय ब्रह्मवस्तु के स्थान में यह विविध और विचित्र संसार दिखने लगता है। यदि ईश्वरकृपा से अब इस समय 'यह जगत् नहीं है' ऐसी निःसंशय भावना उसे हो जाय, तो उसकी दृष्टि के सामने से यह संसार तुरन्त ही विनष्ट हो जायेगा। 'संसार है' ऐसी भावना करने के कारण ही यह संसार उत्पन्न हुआ है, "मैं पुरुष हूँ" इस भावना से पुरुषत्व प्राप्त हुआ है। दूसरे ने "मैं स्त्री हूँ" यह भावना की, अतः उसे स्त्रीत्व प्राप्त हुआ। इसके सिवाय मनुष्य के हृदय में एक विशिष्ट भाव के प्रबल हो जाने से उसके अन्य सभी भाव विलीन हो जाते हैं, ये बातें तो नित्य परिचय की हैं; इसलिए जैसे काँटे को काँटे से निकालते हैं उसी तरह "ईश्वर

पर मधुरभाव सम्बन्ध का आरोपण करके साधक उसकी सहायता से अन्य सभी भावों को दूर करने का प्रयत्न करता रहता है," ऐसा वेदान्त-शास्त्रज्ञ समझते हैं। मनुष्य के मन के अनेक संस्कारों में से "मैं शरीर रूप" और उसके साथ "मैं पुरुष" या "मैं स्त्री" यही संस्कार अत्यन्त प्रबल हुआ करते हैं। स्पष्ट है कि साधक पुरुष जब श्रीभगवान् को पति मानकर "मैं स्त्री" ऐसी भावना करता हुआ अपने पुरुषत्व को भूल जाय, तब वह उसके बाद "मैं स्त्री" इस भावना को भी दूर करने में समर्थ होकर भावातीत अवस्था का अनुभव सहज ही प्राप्त कर लेगा; इसीलिए वेदान्त तत्त्वज्ञानी समझते हैं कि यदि साधक मधुरभाव में सिद्ध हो जाय, तो वह भावातीत भूमिका के बिलकुल समीप पहुँच जाता है।

यहाँ पर कोई यह प्रश्न करेगा कि "क्या केवल राधा-भाव प्राप्त करना ही मधुरभावानुयायी साधक का अन्तिम ध्येय है?" इसका उत्तर यह है कि आजकल के साधकों के लिए महाभावमयी श्रीराधा का भाव प्राप्त करना असम्भव होने के कारण उन्हें केवल सखी-भाव ही प्राप्त करने का ध्येय रखना चाहिए। यद्यपि वैष्णव आचार्यों का मत इसी प्रकार का दिखायी देता है, तथापि साधक को श्रीराधा का भाव प्राप्त करने का ध्येय अपने सामने रखना उचित है। इसका कारण यह दीखता है कि सखियों के भाव में और राधा के भाव में यथार्थतः कोई भेद नहीं है। भेद है केवल प्रेम की तीव्रता का। ऐसा दीखता है कि सखियाँ भी श्रीराधा के समान ही श्रीकृष्ण की पतिभाव से उपासना करती थीं; पर श्रीराधा के सहवास से श्रीकृष्ण को सब से अधिक आनन्द होता है यह जानकर वे सखियाँ श्रीकृष्ण के सन्तोष के लिए राधा-

कृष्ण का ही सम्मिलन कराने का प्रयत्न करती थीं। वैसे ही श्रीरूप, श्रीसनातन, श्रीजीव आदि प्राचीन महाभगवद्भक्त वैष्णव आचार्यों ने मधुरभाव की परिपुष्टि के लिए श्रीवृन्दावन में जाकर रहने के बाद, श्रीकृष्ण की प्रतिमा के साथ श्रीराधिका की प्रतिमा की भी सेवा नहीं की। इसका कारण यही है कि वे स्वयं अपने को राधा समझकर मधुरभाव की साधना करते थे। अस्तु--

यहाँ पर मोटी तौर से मधुरभाव का इतना ही दिग्दर्शन करा देना पर्याप्त है। मधुरभाव की साधना आरम्भ करके श्रीरामकृष्ण ने कितनी उच्च अवस्था प्राप्त कर ली थी, इसी बात को ठीक ठीक समझने के लिए मधुरभाव की केवल आवश्यक बातों का संक्षिप्त विवेचन यहाँ किया गया है।

---

२८. श्रीरामकृष्ण की मधुरभावसाधना
(१८६४–६५)

"मैंने राधा-भाव में बहुत से दिन बिताये। उस समय मैं स्त्रियों के समान वेष किया करता था। स्त्री-वेष के लिए आवश्यक सभी चीजें––गहने तक––मथुरबाबू ने ला दीं!"

"उन्नीस प्रकार के भाव एक ही जगह प्रकाशित होने से वह महाभाव कहलाता है। जन्म भर साधना करके, साधक अधिक से अधिक एक या दो भाव में सिद्धि प्राप्त कर सकता है। (अपनी ओर उँगली दिखाकर) यहाँ केवल एक ही आधार से एक ही जगह, सभी उन्नीसों भाव पूर्ण रूप से प्रकाशित हैं!!"

"मैं उस (महाभाव की) अवस्था में तीन दिन तक संज्ञाशून्य होकर एक ही स्थान में पड़ा था! सचेत होने पर ब्राह्मणी मुझे पकड़कर स्नान कराने के लिए ले गयी। परन्तु शरीर हाथ लगाने योग्य न था! शरीर पर एक चादर भर पड़ी थी। उसी को पकड़कर वह मुझे ले गयी! शरीर में लगी हुई मिट्टी भी जल गयी थी!"

––श्रीरामकृष्ण

श्रीरामकृष्ण के शुद्ध और एकाग्रचित में जिस समय जो भाव उदय होता था उसी भाव में वे कुछ समय तक बिलकुल तन्मय होकर रहते थे। ऐसा होने पर उनके मन से अन्य सब भाव

बिलकुल लुप्त हो जाते थे। इतना ही नहीं, उनके शरीर में भी उस भाव के पूर्ण प्रकाश के उपयुक्त परिवर्तन हो जाता था। बचपन से ही उनके मन का भाव इस प्रकार का था। दक्षिणेश्वर में उनके श्रीचरणों का आश्रय प्राप्त होने पर हमें उनके इस प्रकार के मानसिक स्वभाव के उदाहरण सदा देखने को मिलते थे। ऐसा जान पड़ता था कि जब उनका मन कोई गीत सुनकर या और किसी दूसरे कारण से किसी विशिष्ट भाव में मग्न रहता था तो उस समय किसी दूसरे भाव का गायन या भाषण सुनने पर उनके मन में अत्यन्त वेदना होती थी। यह स्पष्ट है कि किसी विशिष्ट लक्ष्य की ओर जाती हुई चित्तवृत्ति की गति को इस प्रकार अचानक रोकने से उन्हें वेदना होती थी। महामुनि पतंजलि ने एक ही भाव से भावित चित्तवृत्तियुक्त मन को ही 'सविकल्प समाधिस्थ मन' कहा है। इसी स्थिति को भक्तिशास्त्र में भावसमाधि, भावावस्था और भावावेश नाम दिये गये हैं।

साधनाकाल में उनका यह मानसिक स्वभाव अत्यन्त विकास को प्राप्त हो गया था। उनका मन उस समय पहले के समान किसी एक विशिष्ट भाव में थोड़े समय रहने से ही शान्त नहीं होता था; वरन् जब तक वे उस भाव में तन्मय रहकर उसकी अत्यन्त उच्च अवस्था में अद्वैत भाव का आभास नहीं पा लेते थे, तब तक वे उसी भाव में निरन्तर और सभी समय रहते थे। उदाहरणार्थ---दास्यभाव की चरम सीमा तक पहुँचे बिना उन्होंने मातृभाव की साधना नहीं की। तन्त्रशास्त्रोक्त मातृभाव की साधना की अन्तिम मर्यादा तक पहुँचे बिना उन्होंने वात्सल्यादि भावों की साधना नहीं की। उनकी साधकावस्था में सर्वत्र यही बात दिखायी देती है।

जब भैरवी ब्राह्मणी का आगमन दक्षिणेश्वर में हुआ उस समय श्रीरामकृष्ण का मन ईश्वर के मातृभाव में तन्मय हो चुका था। संसार के सभी प्राणियों और पदार्थों में––विशेषत: सभी स्त्रियों में––उन्होंने साक्षात् श्रीजगदम्बा का निवास प्रत्यक्ष देख लिया था। इसलिए उन्होंने ब्राह्मणी के वहाँ आते ही उसे 'माता' कह-कर सम्बोधन किया; और स्वयं अपने को उसका बालक जानकर कभी कभी उसकी गोदी में बैठकर उसके हाथ से भोजन किया। इन बातों से उनके हृदय के भाव का स्पष्ट पता लग जाता है। हृदयनाथ कहते थे कि "ब्राह्मणी उन दिनों कभी कभी व्रज-गोपिका के भाव में तन्मय होकर मधुरभावात्मक गीत गाने लगती थी। वे गाने मामा को नहीं रुचते थे। तब वे उससे उन गानों को बन्द करके मातृ-भावात्मक पद गाने के लिए कहते थे।" यह बात श्रीरामकृष्ण की मधुरभाव-साधना के बहुत पहले की है; परन्तु इससे उनकी भावतन्मयता का पूर्ण परिचय मिलता है और यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उन्हें एक भाव की चरम सीमा तक पहुँचे बिना दूसरा प्रिय नहीं लगता था।

श्रीरामकृष्ण के चरित्र पर विचार करने से मालूम होता है कि वे स्वयं बिलकुल निरक्षर और शास्त्रज्ञान से अनभिज्ञ थे; पर उन्होंने शास्त्रमर्यादा का कभी भी उल्लंघन नहीं किया। उन्होंने गुरु बनाने के पूर्व भी जिन जिन साधनाओं का अनुष्ठान केवल अपने हृदय की व्याकुलता की प्रेरणा से किया वे भी कभी शास्त्र-विरोधी न होकर शास्त्रानुकूल ही रहीं। शुद्ध, पवित्र और ईश्वर-प्राप्ति के लिए व्याकुल हृदय में उठने वाली भाव-तरंगें सदा वैसी होंगी ही। थोड़ा विचार करने से भी दिखेगा कि इसमें कोई विचित्रता नहीं है; क्योंकि श्रीरामकृष्ण के समान शुद्ध और पवित्र

अन्तःकरण की तरंगों के दृश्य फल ही तो शास्त्र हैं। जब श्रीरामकृष्ण जैसे शुद्ध, पवित्र और ईश्वरदर्शन के लिए व्याकुल निरक्षर पुरुष का कोई भी कार्य शास्त्र-विरुद्ध नहीं हुआ और प्रत्येक कार्य के अनुष्ठान से शास्त्रोक्त सभी फल मिलते गये तब तो इससे शास्त्रों की प्रामाणिकता ही निश्चित रूप से सिद्ध होती है। स्वामी विवेकानन्द ने इस सम्बन्ध में कहा है कि "शास्त्रों में वर्णित सभी अवस्थाओं और अनुभवों की सत्यता प्रमाणित करने के लिए ही ईश्वर ने इस समय निरक्षर बनकर अवतार लिया था!"

श्रीरामकृष्ण के द्वारा स्वभावतः शास्त्रमर्यादा की रक्षा के हेतु उन्हें भिन्न भिन्न साधनाओं के समय भिन्न भिन्न वेष धारण करने की इच्छा कैसे होती गयी, यह एक बात यहाँ दृष्टान्त स्वरूप बता देना आवश्यक होगा। वे जिस समय जिस भाव की साधना में निमग्न होते थे उस समय उसी भाव के अनुकूल वेष धारण करने की इच्छा उन्हें स्वभावतः हुआ करती थी और उसी के अनुसार वे वैसा वेष धारण करते थे। तन्त्रोक्त मातृभाव-साधना करते समय वे रक्तवस्त्र, विभूति, सिन्दूर, रुद्राक्ष आदि धारण करते थे। वैष्णव तन्त्रोक्त भावों के समय तिलक, श्वेतवस्त्र, श्वेतचन्दन, तुलसीमाला आदि धारण करते थे। वेदोक्त अद्वैत भाव-साधना के समय उन्होंने शिखासूत्र का त्याग करके गेरुआ वस्त्र परिधान किया था। जिस तरह पुरुषभाव से साधना करते समय वे पुरुष-वेष धारण करते थे, उसी तरह स्त्रीजनोचित भाव-साधना करते समय उन्होंने स्त्री-वेष धारण करने में बिलकुल आगा-पीछा नहीं किया। वे बारम्बार यही शिक्षा देते थे कि "लज्जा, घृणा, भय और जन्म, जाति, कुल, शील आदि अष्टपाशों का समूल त्याग किये बिना ईश्वरप्राप्ति के मार्ग में कभी किसी की उन्नति नहीं

हो सकती।" अस्तु--

जब मधुरभावसाधना के समय उन्हें स्त्रियोचित वेष धारण करने की इच्छा हुई, तब परम भक्त मथुरबाबू ने उनकी इच्छा जानकर उनके लिए बहुमूल्य स्त्रियोपयोगी वस्त्र मँगवा दिये तथा अनेक प्रकार के आभूषण तैयार करवा दिये। उनके लिए केशों का एक टोप भी मँगवा दिया। हमें विश्वसनीय व्यक्तियों से पता लगा है कि कुछ व्यक्तियों ने मथुरबाबू की इस भक्तिपूर्ण उदारता और श्रीरामकृष्ण के त्याग को बदनाम करके उन्हें कलंक लगाने में उस समय कोई कसर नहीं रखी थी। परन्तु मथुरबाबू और श्रीरामकृष्ण दोनों ने ही लोगों के कहने की परवाह न करके अपने ध्येय की ओर ही दृष्टि रखी। इधर श्रीरामकृष्ण के सन्तोष से और "वे कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं करेंगे" इस विश्वास से मथुरानाथ को उनकी सेवा में परमानन्द होता था, तो उधर सुन्दर वस्त्रालंकारों से विभूषित होकर श्रीरामकृष्ण व्रज-गोपियों के भाव में क्रमशः इतने तन्मय हो गये थे कि अपने पुरुषपन का ज्ञान उनके मन से समूल नष्ट हो गया था; उनकी बोलचाल, उनका कार्यकलाप, इतना ही नहीं, उनके विचार भी स्त्रियों के समान हो गये थे। स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से हमने ऐसा सुना है कि उन्होंने मधुरभावसाधना के समय छः महीने तक स्त्री-वेष धारण किया था!

हम पहले लिख चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण में स्त्री और पुरुष दोनों के भावों का अपूर्व सम्मिलन हुआ था। जब वे स्त्री-वेष में रहने लगे तब उनका स्त्रीभाव तो पूर्ण जागृत हुआ ही, पर उस समय उनमें स्त्रीभाव की इतनी पराकाष्ठा हो गयी कि बोलना, चालना, हँसना, देखना, हावभाव और शारीरिक तथा मानसिक सभी

व्यवहार बिलकुल स्त्रियों के समान हो गये थे । यह बात हमने स्वयं श्रीरामकृष्ण और हृदय दोनों के मुँह से सुनी है । दक्षिणेश्वर में श्रीरामकृष्ण के चरणों का आश्रय ग्रहण करने पर हमनें उन्हें विनोद से स्त्रियों का अभिनय करते अनेक बार देखा है। वह अभिनय इतना सांगोपांग और सर्वांगपूर्ण रहता था कि उसे देखकर स्त्रियाँ भी आश्चर्यचकित हो जाती थीं। लगभग इसी समय मथुरबाबू कभी कभी श्रीरामकृष्ण को अपने जानबाजार के बाड़े में रहने के लिये ले जाते थे । वहाँ रहते समय श्रीरामकृष्ण घर के स्त्री-समाज में ही उठते-बैठते थे। वहाँ बहुत दिनों से उनके कामगन्धहीन पवित्र चरित्र की जानकारी सभी को हो चुकी थी और वे सदा उनको देवता के समान मानते थे। और अब तो उनका वेष और व्यवहार भी स्त्रियों के समान देखकर वे स्त्रियाँ उनके अद्‌भुत कामगन्धहीन प्रेम से इतनी मुग्ध हो गयी थीं कि वे उनको अपने में से ही एक समझने लगी थीं। उनसे व्यवहार करते समय उनको लज्जा या संकोच बिलकुल नहीं मालूम होता था । स्वयं श्रीरामकृष्ण के श्रीमुख से हमने सुना है कि मथुरबाबू की लड़कियों में से किसी लड़की का पति जब दो-चार दिन अपनी ससुराल में रहने के लिए आता था उस समय वे स्वयं उस लड़की के बालों में कंघी आदि कर देते थे; उसके सब आभूषण अपने हाथों से उसके शरीर में पहनाते थे और उसे अपने पति से बोलने तथा उसे सन्तुष्ट रखने की कला समझाते थे; वे उस लड़की का हाथ पकड़कर एक सखी के समान उसे उसके पति के समीप ले जाकर बैठा देते थे और तब वापस लौट आते थे! श्रीरामकृष्ण कहते थे, "वे लड़कियाँ भी मुझे अपनी सखी समझकर मुझसे बिलकुल निःसंकोच भाव से व्यवहार करती थीं ।"

हृदय कहते थे--"जब मामा स्त्रियों के बीच इस प्रकार से रहते थे तब उनके नित्य के परिचित मनुष्यों के लिए भी उनको पहचानना कठिन हो जाता था। एक दिन मथुरबाबू मुझे अपने अन्त:पुर में ले गये और बोले, 'इन स्त्रियों में तुम्हारा मामा कौन है उसे पहचानो।' मैं इतने दिनों तक उनके साथ रहा, उनकी नित्य सेवाशुश्रूषा करता रहा, किन्तु उस समय मैं उन्हें नहीं पहचान सका। उन दिनों दक्षिणेश्वर में मामा नित्य प्रात:काल उठकर टोकनी लेकर फूल तोड़ने जाते थे। उस समय मैंने प्रत्येक बार देखा है कि स्त्रियों के समान चलते समय उनका बायाँ पैर ही प्रथम आगे पड़ता था! भैरवी ब्राह्मणी कहती थी कि 'फूल तोड़ते समय उन्हें देखकर मुझे कई बार यही भास होता कि यह साक्षात् श्रीमती राधारानी ही हैं! वे फूल तोड़कर उनसे सुन्दर सुन्दर मालाएँ गूँथते थे और श्रीराधागोविन्दजी को पहनाते थे; वे कभी कभी तो उन मालाओं को श्रीजगदम्बा को पहना देते थे और जैसे व्रजगोपिकाएँ कात्यायनी की प्रार्थना करती थीं, उसी प्रकार वे भी 'श्रीकृष्ण मुझे पति मिलें' ऐसी प्रार्थना गद्गद हृदय से करते थे!!"

इस तरह श्रीकृष्ण का दर्शन प्राप्त करने और उन्हें पतिरूप से पाने के लिए श्रीरामकृष्ण उस समय श्रीजगदम्बा की अत्यन्त व्याकुल अन्त:करण से अनन्य भावयुक्त प्रार्थना करते हुए दिन बिताने लगे। रात दिन श्रीकृष्ण-दर्शन की एक समान धुन लगी रहती थी और श्रीकृष्ण ही को पति-रूप में प्राप्त करने के लिए वे अत्यन्त व्याकुल होकर प्रार्थना करते थे। इसी प्रकार उनके दिन पर दिन, सप्ताह पर सप्ताह और महीने पर महीने व्यतीत होते जाते थे, पर न तो उनके मन में एक क्षण के लिए भी निराशा

या अविश्वास का चिह्न दीख पड़ता था, और न उनकी व्याकुलतापूर्ण प्रार्थना में ही कभी कोई अन्तर हुआ। उनके हृदय की व्याकुलता क्रमशः इतनी बढ़ गयी कि उन्हें आहार-निद्रा आदि तक की सुधि नहीं रहती थी; केवल लगातार श्रीकृष्ण-दर्शन का ध्यान लगा रहता था। वे यह सोचकर कि इतने व्याकुल हृदय से भी प्रार्थना करने पर श्रीकृष्ण-दर्शन नहीं हो रहा है, रो रोकर व्यथित हो जाते थे, अपना मुँह पृथ्वी पर रगड़ डालते थे और श्रीकृष्ण-विरह के दुःख से बेहोश होकर भूमि पर अचेत गिर पड़ते थे। जैसी अवस्था प्रियतम के विरह में मनुष्य के शरीर और मन की हो जाती है, ठीक वही अवस्था उस समय श्रीरामकृष्ण की हो गयी थी। श्रीकृष्ण-विरह से उनके शरीर में पहले के समान अब पुनः दाह होने लगा। उनके शरीर में आग की सी जलन लगातार होने लगी; अन्त में वह वेदना उन्हें असह्य हो गयी। श्रीरामकृष्ण स्वयं कहते थे कि "उस समय श्रीकृष्ण के अत्यन्त दुःसह विरह के कारण मेरे प्रत्येक रोमकूप में से बूँद-बूँद रक्त बाहर निकलने लगा! मैं जिस जगह बैठता था वहाँ की जमीन मेरे शरीर के दाह से जल जाती थी! शरीर की सभी सन्धियाँ शिथिल हो जाने से सभी इन्द्रियों के कार्य बन्द होने पर मेरा शरीर कभी कभी शव के समान निश्चेष्ट और संज्ञाशून्य हो जाता था।"

शरीर के साथ नित्य जकड़े हुए तथा देह-बुद्धि के सिवाय अन्य कुछ न समझनेवाले हम जैसे मनुष्यों की प्रेम-कल्पना यही हुआ करती है कि "प्रेम एक शरीर का दूसरे शरीर के प्रति आकर्षण है!" हमारी कल्पना इसके आगे दौड़ती ही नहीं। यदि इस कल्पना ने कुछ अधिक दौड़ लगायी तो प्रेम को किसी व्यक्ति में प्रकाशित होनेवाले गुणों की ओर आकर्षण समझकर हम उसे

'अतीन्द्रिय प्रेम' के भड़कीले नाम से पुकारते हैं, और उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करने लगते हैं ! परन्तु बड़ों द्वारा प्रशंसित यह 'अतीन्द्रिय प्रेम' स्थूल देहबुद्धि और सूक्ष्म भोग-लालसा से कभी अलग नहीं रह सकता। श्रीरामकृष्ण के जीवन में प्रकट होनेवाले यथार्थ अतीन्द्रिय प्रेम की तुलना में हमारा यह 'अतीन्द्रिय प्रेम' कितना तुच्छ, अन्तःसारशून्य और खोखला है, यह तुरन्त दिख जाता है।

भक्तिशास्त्र का कहना है कि यथार्थ अतीन्द्रिय प्रेम की पराकाष्ठा केवल एक व्रजेश्वरी श्रीमती राधा को छोड़कर, अन्य किसी के भी जीवन में आज तक देखने में नहीं आयी। लज्जा, घृणा, भय को छोड़कर, लोकभय और समाजभय की परवाह न करके, जाति, कुल शील आदि सभी बाह्य संसार-बन्धनों को पूर्णतः भूलकर, इतना ही नहीं, वरन् स्वयं अपनी देह और सुख के विषय में भी पूर्ण उदासीन होकर भगवान् श्रीकृष्ण के ही सुख में अपना सुख अनुभव करनेवाले किसी दूसरे व्यक्ति का उदाहरण भक्तिशास्त्र में नहीं मिलता। भक्तिशास्त्र में कहा गया है कि श्रीमती राधा की कृपा हुए बिना इस प्रेम का लाभ अंशतः भी किसी को नहीं हो सकता और उसे श्रीकृष्ण का दर्शन भी प्राप्त नहीं हो सकता; क्योंकि श्रीमती राधा के कामगन्धहीन दिव्य प्रेम द्वारा भगवान् श्रीकृष्ण स्थायी रूप से बँध गये हैं और उन्हीं की इच्छानुसार वे भक्तजनों के मनोरथ पूर्ण करते हैं ! मन में निष्काम प्रेम की सजीव मूर्ति श्रीराधा के समान प्रेम उत्पन्न हुए बिना ईश्वर पति-रूप से किसी को नहीं मिल सकता है और न उसे इस दिव्य प्रेम की माधुरी का अनुभव ही हो सकता है।

यद्यपि श्रीकृष्ण के प्रति व्रजेश्वरी श्रीराधा के दिव्य और

अदृष्टपूर्व प्रेम का वर्णन श्री शुकदेव जैसे आत्मानन्द में मग्न रहनेवाले परमहंस श्रेष्ठ मुनिवरों ने कई बार किया है, तथापि भारतवर्ष में साधारण लोग उस प्रेम का अपने जीवन में प्रत्यक्ष अनुभव करने का ढंग बहुत दिनों तक नहीं समझे थे। गौड़देशीय गोस्वामी लोगों का मत है कि लोगों को यह बात सिखाने के लिए ही श्रीभगवान् को श्रीमती राधा के साथ एक ही शरीर में अवतार लेना पड़ा। वही यह अन्तःकृष्ण बहिर्गौर अथवा राधारूप से प्रकट होनेवाला और लोगों के सामने मधुरभाव का पूर्ण आदर्श रखनेवाला श्रीगौरांग या श्रीकृष्ण-चैतन्यदेव का अवतार है! उन्होंने यह भी लिखा है कि श्रीकृष्ण-प्रेम की तीव्रता से श्रीराधारानी के शरीर और मन में जो लक्षण और विकार उत्पन्न होते थे, वे सब पुरुष-शरीरधारी श्रीगौरांग में भी उनकी अपार ईश्वर-भक्ति के कारण दीख पड़ते थे! इसी कारण श्रीगौरांग को 'श्रीमती' भी कहा जाता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय, दिव्य तथा निष्काम प्रेम की अत्युच्च अवस्था को प्राप्त दूसरे उदाहरण श्रीगौरांग देव हैं। अस्तु--

श्रीरामकृष्ण श्रीमती राधा की कृपा के बिना श्रीकृष्ण-दर्शन असम्भव जानकर उन्हीं की उपासना में मग्न हो गये और अपने हृदय की व्याकुलता उनके चरणों में निवेदन करने लगे। ऐसी तन्मयता में कुछ दिन बीतने पर उन्हें श्रीराधा का दर्शन हुआ और उन्होंने पहले के अन्य देव-देवियों के समान श्रीराधा को भी अपने शरीर में प्रविष्ट होते देखा! वे कहते थे--"श्रीकृष्ण-प्रेम में अपना सर्वस्व स्वाहा करनेवाली, अनुपम, पवित्रोज्ज्वल मूर्ति की महिमा और उसके माधुर्य का वर्णन करना असम्भव है। श्रीमती की कान्ति नागकेशर पुष्प के पराग के समान गौर वर्ण थी।"

इस समय से उनके मन में दृढ़ भावना हो गयी कि "मैं स्वयं राधा हूँ।" श्रीमती के ध्यान और सतत चिन्तन के प्रभाव से श्रीरामकृष्णदेव को अब उन्हीं के भाव में बिलकुल लीन हो जाने के कारण उन्हें अपने पृथक् अस्तित्व का भी समूल विस्मरण हो गया; उनका मधुरभावजन्य ईश्वर-प्रेम इतना अधिक बढ़ गया कि श्रीराधा और उनकी अवस्था एक हो गयी। उनमें उपरोक्त दर्शन से श्रीमती राधा और श्रीगौरांग के मधुरभाव की पराकाष्ठा से उत्पन्न होनेवाले महाभाव के सभी लक्षण दिखायी देने लगे। वैष्णव आचार्यों के ग्रन्थों में महाभाव के लक्षणों का विस्तारपूर्वक वर्णन है। वैष्णव तन्त्र में प्रवीण भैरवी ब्राह्मणी तथा वैष्णवचरण आदि शास्त्रज्ञ साधकों ने, श्रीरामकृष्ण में सभी महाभाव के लक्षणों को देख आश्चर्यचकित होकर और उन्हें अवतार जानकर उनकी स्तुति की। इस बात की चर्चा करते हुए श्रीरामकृष्ण ने हमसे कई बार कहा कि "उन्नीस* प्रकार के भाव एक ही जगह प्रकाशित होने से उसे महाभाव कहते हैं; ऐसा भक्तिशास्त्र में कहा है। जन्म

---

* रागात्मिका भक्ति

- कामात्मिका (मधुररस) सम्भोगेच्छामयी अथवा तत्तद्भावेच्छामयी
  - स्नेह
  - मान
  - प्रणय
  - राग
  - अनुराग
- सम्बन्धात्मिका
  - वात्सल्य — स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग
  - सख्य — स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग
  - दास्य — स्नेह, मान, प्रणय, राग
  - शान्त

भर साधना करके साधक अधिक से अधिक एक दो भावों में सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। (अपनी ओर उँगली दिखाकर) यहाँ तो एक ही आधार से उन्नीसों भाव एक जगह पूर्ण रूप से प्रकाशित हैं।"

ऊपर बता ही चुके हैं कि श्रीरामकृष्ण के शरीर में प्रत्येक रोमकूप से उस समय श्रीकृष्ण-विरह की दारुण यातनाओं के कारण बूँद बूँद रक्त बाहर निकलता था। स्त्रीत्व की भावना उनके रोम रोम में इस प्रकार भिद गयी थी कि 'मैं पुरुष हूँ' यह विचार उनके मन में स्वप्न में भी नहीं आता था, और उनके शरीर और इन्द्रियों के सभी कार्य स्त्री-शरीर के समान ही होने लगे।

महाभाव में ऊपर बताये अनुसार कामात्मिका और सम्बन्धात्मिका दोनों प्रकार की भक्ति के उन्नीसों अन्तर्विभागों का एकत्र समावेश होता है। श्रीरामकृष्ण ने यहाँ पर इसी का निर्देश किया है। उनके ही श्रीमुख से हमने यह सुना है कि स्वाधिष्ठान चक्रवाले भाग के सभी रोमकूपों से उन दिनों प्रति मास नियत समय पर शोणितस्राव होता था, और वह स्त्रियों के समान तीन दिनों तक जारी रहता था! उनके भानजे हृदयराम ने हमें बताया कि "ये सब बातें मेरी आँखों की देखी हुई हैं। उन दिनों वे पहने हुए वस्त्र को दूषित होने से बचाने के उद्देश्य से कौपीन धारण करते थे––यह भी मैंने देखा है।"

वेदान्तशास्त्र का सिद्धान्त है कि मनुष्य का मन ही उसके शरीर को तैयार करता है, वह (शरीर) तीव्र वासना और इच्छा की प्रबलता से जीवन में प्रतिक्षण बदलता रहता है। श्रीरामकृष्ण के साधनाकाल में उनकी भावनाओं की उत्कटता के कारण उनकी देह में उत्पन्न होने वाले ये परिवर्तन इस वैदान्तिक सिद्धान्त के उत्तम उदाहरण हैं। श्रीरामकृष्ण और पूर्वकालीन ऋषियों के

आध्यात्मिक अनुभवों तथा उपलब्धियों की तुलना करके ही पद्म-लोचन आदि प्रसिद्ध पण्डित कहते थे, "आपके अनुभव और आपकी उपलब्धियाँ वेद-पुराणों को पीछे छोड़कर और भी आगे बढ़ गयी हैं।" अस्तु--

उन्हें श्रीमती राधा का दर्शन और उनकी कृपा होने के बाद ही सच्चिदानन्दघन भगवान् श्रीकृष्ण के दर्शन का भी शीघ्र ही लाभ हुआ। वह श्रीकृष्णमूर्ति अन्य मूर्तियों के समान उनके शरीर में प्रविष्ट हो गयी। इस दर्शन के दो-तीन महीने बाद दक्षिणेश्वर में परमहंस तोतापुरी का आगमन हुआ। उनकी देखभाल में श्रीरामकृष्ण वेदान्तोक्त अद्वैतभाव की साधना में निमग्न हुए। उन्होंने इसके बीच के समय को मधुरभाव में तन्मय होकर ईश्वर-प्रेम के माधुर्य का आस्वादन करने में बिताया। हमने उनके श्रीमुख से सुना है कि वे इस समय श्रीकृष्ण-चिन्तन में इतने मग्न और तन्मय रहते थे कि उन्हें अपने पृथक् अस्तित्व की पूरी विस्मृति होकर "मैं ही स्वयं श्रीकृष्ण हूँ" ऐसा बोध हुआ करता था; और बीच-बीच में, उन्हें इस संसार की प्रत्येक चराचर वस्तु श्रीकृष्ण-स्वरूप से प्रत्यक्ष दिखायी देती थी! आगे चलकर एक दिन उन्हें दक्षिणेश्वर के बगीचे में टहलते समय एक घास का फूल मिला। उसे वे अत्यन्त उत्कण्ठा से हमें दिखाकर बड़े हर्षपूर्वक बोले, "मधुरभाव-साधना के समय मुझे जो श्रीकृष्णमूर्ति दिखायी देती थी उसके शरीर का रंग इसी फूल के रंग के समान था!"

यौवन के आरम्भ में वे कामारपुकुर में थे। उसी समय से उनके अन्त:करण में प्रकृतिभाव की प्रबलता के कारण, उन्हें कभी कभी यही इच्छा हुआ करती थी कि व्रजगोपियों ने स्त्री-शरीर पाकर अपने उत्कट प्रेम से सच्चिदानन्द श्रीकृष्ण को पतिरूप से

पाया था। इससे उन्हें ऐसा लगता था कि 'यदि मैं स्त्री होता तो उन गोपियों के समान श्रीकृष्ण की पतिभाव से भक्ति करके मैं भी उन्हें प्राप्त कर लेता। मेरा यह पुरुष-शरीर श्रीकृष्ण-प्राप्ति के मार्ग में एक जबरदस्त बाधा है।' उन्हें ऐसा लगता था कि 'यदि भविष्य में पुनः जन्म लेने की बारी आ जाय, तो किसी ब्राह्मण के घर में अत्यन्त रूपवती दीर्घकेशी बालविधवा का जन्म लूँगा, और श्रीकृष्ण के सिवाय अन्य किसी को भी पति नहीं समझूँगा! निर्वाहयोग्य अन्न और वस्त्र हो, एक छोटासा घर हो, जिसकी चारों ओर थोड़ी सी जमीन रहे, मैं उस जमीन में चार-पाँच तरह की तरकारी-भाजियाँ उत्पन्न कर सकूँ, घर में एक दूध देनेवाली गाय हो जिसकी सभी सेवा-शुश्रूषा मैं स्वयं करूँ और उसे दुह भी सकूँ; उस घर में एक सूत कातने का चरखा रहे, जिससे दिन के प्रकाश में घर का सब काम निपटाकर सूत कातते कातते श्रीकृष्ण के भजन गाऊँ, और फिर सन्ध्या होने पर उस गाय के दूध से तैयार की हुई खीर आदि को अपने हाथ में लेकर श्रीकृष्ण को खिलाने के लिए एकान्त में बैठकर अत्यन्त व्याकुलता-पूर्वक रोते-रोते उनकी पुकार करूँ। श्रीकृष्ण को भी मुझ पर दया आयेगी और वह बालक वेष में आकर मेरे हाथ के उन पदार्थों को ग्रहण करेगा; इस तरह वह नित्यप्रति, किसी दूसरे के बिना जाने हुए ही आकर मेरे हाथ से खाने के पदार्थ चुपके से ले लिया करेगा!" यद्यपि श्रीरामकृष्ण के मन की यह अभिलाषा इस रूप में पूर्ण नहीं हुई, तथापि वह मधुरभाव के साधनाकाल में पूर्वोक्त रीति से पूर्ण हो ही गयी थी।

मधुरभाव-साधनाकाल में श्रीरामकृष्ण को प्राप्त होनेवाले एक दर्शन की बात बताकर हम विषय का उपसंहार करेंगे। उस समय

एक दिन वे विष्णु-मन्दिर में श्रीमद्भागवत सुन रहे थे। सुनते सुनते उन्हें भावावेश में श्रीकृष्ण की ज्योतिर्मयी मूर्ति का दर्शन हुआ। उस मूर्ति के चरणकमलों से धागे के समान दो ज्योतियाँ बाहर निकलीं। उनमें से एक तो उस भागवत की पोथी को स्पर्श करके रह गयी और दूसरी उनके वक्षःस्थल में चिपककर रह गयी! वे दोनों ज्योतियाँ कुछ समय तक वैसी ही स्थिति में रहीं!

वे कहते थे––"इस दर्शन से मेरे मन में ऐसी दृढ़ धारणा हो गयी कि यद्यपि भागवत, भक्त और भगवान ये सब भिन्न भिन्न दिखायी देते हैं, तथापि ये यथार्थ में एक ही हैं। भागवत (शास्त्र), भक्त और भगवान् ये तीनों एक ही हैं––एक ही के तीन रूप हैं!!"

चरित्र के आधारभूत ग्रन्थ

१. श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग——पूर्वकथा ओ वाल्यजीवन
   ,,   साधकभाव
   ,,   गुरुभाव (पूर्वार्ध)
   ,,   गुरुभाव (उत्तरार्ध)
   ,,   दिव्यभाव ओ नरेन्द्रनाथ   } स्वामी सारदानन्दजी

२. श्रीरामकृष्णदेबेर उपदेश — सुरेशचन्द्र दत्त

३. श्रीरामकृष्ण परमहंस देबेर जीवनवृत्तान्त — रामचन्द्र दत्त

४. परमहंस देव —— देवेन्द्रनाथ बसु

५. श्रीरामकृष्णकथामृत (पाँच भागों में) —— 'एम्'

६. स्वामी-शिष्य-संवाद (दो भागों में) —— शरच्चन्द्र चक्रवर्ती

७. श्री नागमहाशय —— ,, ,,

८. Men I have seen —— शिवनाथ शास्त्री

'उद्बोधन' और 'प्रबुद्ध भारत' मासिक प के कुछ लेख।

सूचि